NAGRI
RACHARI

PATRIKA

110754

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार
पुस्तकालय

विषय संख्या R ८०
पुस्तक संख्या का१५ना
आगत पंजिका संख्या भाग-2
पुस्तक पर किसी प्रकार का निशान लगाना वर्जित है । कृपया १५ दिन से अधिक समय तक पुस्तक अपने पास न रखें । ~~२७१~~

~~२५०९~~

1978
57
1921

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

[illegible] [illegible] १९८४-१९८५

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

[ नवीन संस्करण ]

दूसरा भाग-संवत् १९७८

CHECKED 1973

## १-निवेदन।

इस संख्या से नागरीप्रचारिणी पत्रिका के नये संदर्भ का दूसरा वर्ष आरंभ होता है। संपादकों ने अपनी बुद्धि और शक्ति के अनुसार पत्रिका की, पाठकों की तथा हिंदी की जो कुछ सेवा गत वर्ष में की है वह विवेकी पाठकों के सामने है। पत्रिका को समय पर प्रकाशित करने का निरंतर उद्योग करते रहने पर भी हम इसमें कृतकार्य न हुए, विशेषतः प्रेस की लंबी हड़ताल से पत्रिका इतनी अधिक पिछड़ गई कि इस विषय में कुछ निवेदन ही नहीं किया जाता। यद्यपि ऐसे विषय की सामयिक पत्रिकाएँ साप्ताहिक या मासिक पत्रों की तरह नियत समय पर ही निकल जायँ यह संभव नहीं, तो भी इस वर्ष इस शिथिलता को यथाशक्ति दूर करने का प्रयत्न किया जायगा।

जैसे संपादक यह जानते हैं कि पत्रिका में क्या क्या विशेषताएँ हैं, उससे अधिक वे यह जानते हैं कि पत्रिका में क्या क्या त्रुटियाँ रही हैं। उनके निराकरण का उद्योग वे तो यथाबुद्धि करेंगे किंतु हिंदी तथा पुरातत्व के प्रेमी पाठक भी इस विषय में कृपा करके उनका हाथ बटावें। पत्रिका को और कई रूप दिए जा सकते थे।

अंगरेज़ी में भारतवर्षीय प्राचीन शोध पर इतने लेख और इतनी पुस्तकें छप चुकी हैं कि उनका अनुवाद ही छाप कर पत्रिका पचासों वर्ष तक अपना कलेवर भर सकती थी, दूसरों की खोज को अपनी कह कर मिथ्या कीर्ति को अपना सकती थी । ऐसा करने से न पत्रिका का गौरव होता, न पाठकों का ज्ञान-विस्तार । अंगरेज़ी तथा अन्य भाषाओं के पत्रों में जो पुराने शोध के लेख छपते हैं उनकी सूची देकर, हर एक पर पंक्ति दो पंक्ति में अपना मत देकर, सब के समालोचक बनने का दुःसाहस भी हमसे न किया जा सका । जहां तक हो सका वैसे ही लेख लिखे और छापे गए हैं जिनमें कोई नवीनता हो, जिनसे पाठकों की ज्ञान-वृद्धि हो, जिनसे इतिहास के किसी भाग पर नया प्रकाश पड़े तथा जिनमें लेखकों का जहां तक संभव हो कुछ अपना परिश्रम हो । यह संभव है कि एक ही प्रांत या एक ही विषय पर अधिक लेख छपे हों, किंतु इस प्रादेशिकता की त्रुटि को विचारते समय कृपा कर के यह ध्यान में रखना चाहिए कि संपादकों और लेखकों का अभ्यास और श्रम जिस विभाग या प्रांत के विषय में अधिक हो उसीपर वे अधिक और अच्छा लिख सकते हैं । पुरातत्व के विषय में रुचि रखनेवाले सज्जनों की संख्या थोड़ी है । कुछ लोग तो यथाश्रुतग्राही हैं, जितनी खोज हुई है उसीसे संतुष्ट हैं । कुछ लोग खोज की खुजलाहट को नास्तिकता समझते हैं और पुरानी दंत-कथाओं से आगे बढ़ नहीं सकते । खोजियों में जो हिंदी जानते हैं उनकी संख्या और भी थोड़ी है । जो अंगरेज़ी का मोह छोड़ कर हिंदी में कुछ लिखना पढ़ना चाहते हैं उनकी संख्या उससे भी थोड़ी है । जो संपादकों की प्रार्थना पर लेखों से पत्रिका को भूषित करने की कृपा करते हैं उनकी संख्या और भी थोड़ी है । इसलिये प्रादेशिकता के दोष को मिटाने का उपाय कृपालु हिंदी-प्रेमियों के ही हाथ में है ।

इस वर्ष इस बात का अधिक यत्न किया जायगा कि हिंदी भाषा से संबंध रखनेवाले विषयों पर अधिक लेख प्रकाशित हों ।

110754

110754

पुरानी हिंदी के विषय में जो लेखमाला इस अंक से आरंभ की जाती है उसमें कई नई बातें प्रकाशित होंगी जो आशा है कि पाठकों को रुचिकर होंगी ।

इतना ही निवेदन और हिंदी प्रेमी पाठकों की उदार कृपा के अवलंब का आवाहन कर पत्रिका के नवीन संदर्भ का द्वितीय वर्ष आरंभ किया जाता है ।

* *

*

डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन ने रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ ग्रेट ब्रिटेन एंड आयर्लैंड के जरनल की अप्रैल सन् १९२१ ई० की संख्या में पत्रिका के नए संदर्भ की बहुत प्रशंसापूर्ण समालोचना की है । इसके लिये हम सोसाइटी तथा डाक्टर महोदय के बहुत ही कृतज्ञ हैं । इस प्रतिष्ठित पत्र में हिंदी तथा पुरातत्व के ऐसे विद्वान् की लेखिनी से प्रशंसा पाकर हम लोग बहुत उत्साहित हुए हैं, 'यं प्रशंसन्ति पण्डिताः' । हमारी यही कामना है कि पत्रिका आगे के लेखों से ऐसी प्रशंसा के योग्य ही सिद्ध हो । सर जार्ज की समालोचना का अनुवाद इसी अंक में अन्यत्र छापा गया है ।

* *

*

# २–पुरानी हिंदी-( १ )।

[ लेखक—पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०, अजमेर। ]

हिंदुस्तान का पुराने से पुराना साहित्य जिस भाषा में मिलता है उसे संस्कृत कहते हैं, परंतु, जैसा कि उसका नाम ही दिखाता है, वह आर्यों की मूल भाषा नहीं है। वह मंजी, छँटी, सुधरी भाषा है। कितने हज़ार वर्ष के उपयोग से उसका यह रूप बना, किस 'कृत' से वह 'संस्कृत' हुई, यह जानने का कोई साधन नहीं बच रहा है। वह मानो गंगा की नहर है, नरौने के बाँध से उसमें सारा जल खैंच लिया गया है, उसके किनारे सम हैं, किनारों पर हरियाली और वृक्ष हैं, प्रवाह नियमित है। किन टेढ़े मेढ़े किनारों वाली, छोटी बड़ी, पथरीली रेतीली नदियों का पानी मोड़कर यह अच्छोद नहर बनाई गई और उस समय के सनातन-भाषा-प्रेमियों ने पुरानी नदियों का प्रवाह 'अविच्छिन्न' रखने के लिये कैसा कुछ आंदोलन मचाया या नहीं मचाया, यह हम जान नहीं सकते। सदा इस **संस्कृत** नहर को देखते देखते हम **असंस्कृत** या स्वाभाविक, प्राकृतिक नदियों को भूल गए। और फिर जब नहर का पानी आगे स्वछंद होकर समतल और सूत से नपे हुए किनारों को छोड़ कर जल-स्वभाव से कहीं टेढ़ा, कहीं सीधा, कहीं गँदला, कहीं निखरा, कहीं पथरीली कहीं रेतीली भूमि पर, और कहीं पुराने सूखे मार्गों पर प्राकृतिक रीति से बहने लगा तब हम यह कहने लगे कि नहर से नदी बनी है, नहर प्रकृति है और नदी विकृति,—[ हेमचंद्र ने अपने प्राकृत व्याकरण का आरंभ ही यों किया है कि संस्कृत प्रकृति है, उससे आया इस लिये प्राकृत कहलाया ] यह नहीं कि नदी अब सुधारकों के पंजे से छूट कर फिर सनातन मार्ग पर आई है।

इस रूपक को बहुत बढ़ा सकते हैं। संभव है कि हमें इसका फिर भी काम पड़े। वेद या छंदस् की भाषा का जितना सात्म्य पुरानी प्राकृत से है उतना संस्कृत से नहीं। संस्कृत में छाना हुआ पानी ही लिया गया है। प्राकृतिक प्रवाह का मार्ग-क्रम यह है—

३—प्राकृत—५—अपभ्रंश
१—मूल भाषा, २—छंदस् की भाषा, ⟨
४—संस्कृत

संस्कृत अजर अमर तो हो गई किंतु उसका वंश नहीं चला, वह कलमी पेड़ था। हाँ, उसकी संपत्ति से प्राकृत और अपभ्रंश और पीछे हिंदी आदि भाषाएँ पुष्ट होती गईं और उसने भी समय समय पर इनकी भेंट स्वीकार की।

वैदिक (छंदस् की) भाषा का प्रवाह प्राकृत में बहता गया और संस्कृत में बँध गया। इसके कई उदाहरण हैं—(१) वेद में देवाः और देवासः दोनों हैं, संस्कृत में केवल 'देवाः' रह गया और प्राकृत आदि में 'आसस्' (दुहरे 'जस्') का वंश 'आओ' आदि में चला, (२) देवैः की जगह देवेभिः (अधरेहिं) कहने की स्वतंत्रता प्राकृत को रिक्थक्रम (विरासत) में मिली, संस्कृत को नहीं, (३) संस्कृत में तो अधिकरण का 'स्मिन्' सर्वनाम में ही बँध गया, किंतु प्राकृत में 'म्मि,म्हि' होता हुआ हिंदी में 'में' तक पहुँचा, (४) वैदिक भाषा में षष्ठी या चतुर्थी के यथेच्छ प्रयोग की स्वतंत्रता थी वह प्राकृत में आकर चतुर्थी विभक्ति को ही उड़ा गई, किंतु संस्कृत में दोनों, पानी उतर जाने पर चटानों पर चिपटी हुई काई की तरह, जहां की तहां रह गईं, (५) वैदिक भाषा का 'व्यत्यय' और 'बाहुलक' प्राकृत में जीवित रहा और परिणाम यह हुआ कि अपभ्रंश में एक विभक्ति 'ह' 'हँ' ही, बहुत से कारकों का काम देने लगी, संस्कृत की तरह लकीर ही नहीं पिटती गई, (६) संस्कृत में पूर्वकालिक का एक 'त्वा' ही रह गया और 'य' भिंच गया, इधर 'त्वान' और 'त्वाय' और 'य' स्वतंत्रता से आगे बढ़ आए (देखो, आगे)। (७) क्रियार्था क्रिया (Infinitive of Purpose) के कई रूपों में से (जो धातुज शब्दों के

द्वितीया, षष्ठी या चतुर्थी के रूप हैं) संस्कृत के हिस्से में 'तुम्' ही आया और इधर कई, (८) कृ धातु का अनुप्रयोग संस्कृत में केवल कुछ लंबे धातुओं के परोक्ष भूत में रहा, छंदस् की भाषा में और जगह भी था, किंतु अनुप्रयोग का सिद्धांत अपभ्रंश और हिंदी तक पहुँचा। यह विषय बहुत ही बढ़ा कर उदाहरणों के साथ लिखा जाना चाहिए, इस समय केवल प्रसंग से इसका उल्लेख ही कर दिया गया है।

अस्तु। अकृत्रिम भाषाप्रवाह में (१) छंदस की भाषा, (२) अशोक की धर्मलिपियों की भाषा, (३) बौद्ध ग्रंथों की पाली, (४) जैन सूत्रों की मागधी, (५) ललितविस्तर की गाथा या गड़बड़ संस्कृत और (६) खरोष्ठी और प्राकृत शिलालेखों और सिक्कों की अनिर्दिष्ट प्राकृत—ये ही पुराने नमूने हैं। जैन सूत्रों की भाषा मागधी या अर्ध-मागधी कही गई है। उसे आर्ष प्राकृत भी कहते हैं। पीछे से प्राकृत वैयाकरणों ने मागधी, अर्धमागधी, पैशाची, शौरसेनी, महाराष्ट्री आदि देशभेद के अनुसार प्राकृत भाषाओं की छांट की, किंतु मागधीवाले कहते हैं कि मागधी ही मूल भाषा है जिसे प्रथम कल्प के मनुष्य, देव और ब्राह्मण बोलते थे[१]। जिन पुराने नमूनों का हम उल्लेख कर चुके हैं वे देश-भेद के अनुसार इस नामकरण में किसी एक में ही अंत-र्भूत नहीं हो सकते। बौद्ध भाषा संस्कृत पर अधिक सहारा लिए हुए है, सिक्कों तथा लेखों की भाषा भी वैसी है। शुद्ध प्राकृत के नमूने जैन सूत्रों में मिलते हैं। यहाँ दो बातें और देख लेनी चाहिएँ। एक तो जिस किसीने प्राकृत का व्याकरण बनाया, उसने प्राकृत को भाषा समझ कर व्याकरण नहीं लिखा। ऐसी साधारण बातों को छोड़कर

---

[१] हेमचंद्र ने 'जिणिन्दाण वाणी' को देशीनाममाला के आरंभ में 'असेसभासपरिणामिणी' कहकर बंदना करते हुए क्या अच्छा अवतरण दिया है—

देवा दैवीं नरा नारीं शबराश्चापि शार्बरीम्।
तिर्यञ्चोऽपि हि तैरश्चीं मेनिरे भगवद्गिरम्॥

कि प्राकृत में द्विवचन और चतुर्थी विभक्ति नहीं है, सारे प्राकृत व्याकरण केवल संस्कृत शब्दों के उच्चारण में क्या क्या परिवर्तन होते हैं इनकी परिसंख्या-सूची मात्र हैं। दूसरी यह कि संस्कृत नाटकों की प्राकृत को शुद्ध प्राकृत का नमूना नहीं मानना चाहिए। वह पंडिताऊ या नकली या गढ़ी हुई प्राकृत है, जो संस्कृत में मसविदा बनाकर प्राकृत व्याकरण के नियमों से, त की जगह य और च्च की जगह ख, रखकर, साँचे पर जमाकर, गढ़ी गई है। वह संस्कृत मुहाबिरे का नियमानुसार किया हुआ रूपांतर है, प्राकृत भाषा नहीं। हां, भास के नाटकों की प्राकृत शुद्ध मागधी है। पुराने काल की प्राकृत चना, देशभेद के नियत हो जाने पर, या तो मागधी में हुई या महाराष्ट्री प्राकृत में; शौरसेनी पैशाची आदि केवल भाषा में विरल देशभेद मात्र रह गई, जैसा कि प्राकृत व्याकरणों में उनपर कितना ध्यान दिया गया है इससे स्पष्ट है। मागधी अर्धमागधी तो आर्ष प्राकृत रहकर जैन सूत्रों में ही बंद हो गई, वह भी एक तरह की छंदस् की भाषा बन गई, प्राकृत व्याकरणों ने महाराष्ट्री का पूरी तरह विवेचन कर उसीको आधार मानकर, शौरसेनी आदि के अंतर को उसीके अपवादों की तरह लिखा है। या यों कह दो कि देशभेद से कई प्राकृत होने पर भी प्राकृत-साहित्य की प्राकृत—एक ही थी। जो पद पहले मागधी का था वह महाराष्ट्री को मिला। वह परम प्राकृत और सूक्ति-रत्नों का सागर कहलाई। राजाओं ने उस की क़दर की। हाल (सातवाहन) ने उसके कवियों की चुनी हुई रचना की सतसई बनाई, प्रवरसेन ने सेतुबंध से अपनी कीर्ति उसके द्वारा सागर के पार पहुँचाई, वाक्पति ने उसीमें गौड़बध किया, किंतु यह पंडिताऊ प्राकृत हुई, व्यवहार की नहीं। जैनों ने धर्मभाषा मान कर उसका स्वतंत्र अनुशीलन किया और मागधी की तरह महाराष्ट्री भी जैन रचनाओं में ही शुद्ध मिलती है। और छंदों के होने पर भी जैसे संस्कृत का 'श्लोक' अनुष्टुभ् छंदों का राजा है, वैसे प्राकृत की रानी 'गाथा' है, लंबे छंद प्राकृत में आए कि

संस्कृत की परछाईं स्पष्ट देख पड़ी । प्राकृत कविता का आसन ऊँचा हुआ । यह कहा गया कि देशी शब्दों से भरी प्राकृत कविता के सामने संस्कृत की कौन सुनता है[1] और राजशेखर ने, जिसकी प्राकृत उसकी संस्कृत के समान ही स्वतंत्र और उद्भट है, प्राकृत को मीठी और संस्कृत को कठोर कह डाला[2] ।

## शौरसेनी और पैशाची (भूतभाषा)

इन प्राकृतों के भेदों[3] में से हमें शौरसेनी और पैशाची का देशनिर्णय करना है । यद्यपि ये दोनों भाषाएँ मागधी और महाराष्ट्री से दब गई थीं और इनका विवेचन व्याकरणों में गौण या अपवाद-रूप से ही किया गया है तथापि हिंदी से इनका बड़ा संबंध है । शौरसेनी तो मथुरा व्रजमंडल आदि की भाषा है । इसमें कोई बड़ा स्वतंत्र ग्रंथ नहीं मिलता, किंतु इसका वही क्षेत्र है जो व्रजभाषा, खड़ी बोली और रेख़ते की प्रकृत भूमि है । पैशाची का दूसरा नाम भूतभाषा है । यह गुणाढ्य की अद्भुतार्था बृहत्कथा से अमर हो गई है । वह 'बड्डुकथा' अभी नहीं मिलती । दो कश्मीरी पंडितों ( क्षेमेंद्र और सोमदेव ) के किए उसके संस्कृत अनुवाद मिलते हैं ( बृहत्कथामंजरी और कथासरित्सागर ) । कश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच ( पिश्-कच्चा मांस, अश्-खाना ) या पिशाश देश कहलाता था और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने से

---

[1] ललिए महुरक्खरए जुवईयणवल्लहे ससिंगारे ।
सन्ते पाइयकव्वे को सक्कइ सक्कयं पढिउं ॥ ( वज्जालग्ग, २९ )

(ललित, मधुराक्षर, युवतीजनवल्लभ, सश्रृंगार प्राकृत कविता के होते हुए संस्कृत कौन पढ़ सकता है ? )

[2] परुसा सक्कअबन्धा पाउअबन्धो वि होइ सुउमारो ।
पुरुस महिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तियमिमाणं ॥ ( कर्पूरमंजरी )

( संस्कृत की रचना परुष और प्राकृतरचना सुकुमार होती है, जितना पुरुष और स्त्रियों में अंतर होता है उतना इन दोनों में है । )

[3] अगले लेखों में इस विषय पर कुछ और आता जायगा ।

पैशाची वहां की भाषा मानी जाती थी । किंतु वास्तव में पैशाची या भूतभाषा का स्थान राजपूताना और मध्यभारत है । मार्कंडेय ने प्राकृत-व्याकरण में बृहत्कथा को केकयपैशाची में गिना है। केकय तो कश्मीर का पश्चिमोत्तर प्रांत है । संभव है कि मध्यभारत की भूतभाषा की मूल बृहत्कथा का कोई रूपांतर उधर हुआ हो जिसके आधार पर कश्मीरियों के संस्कृतानुवाद हुए हैं[1] । राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दशवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय के भाषानिवेश की चर्चा है—"गौड़ ( बंगाल ) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाटदेशियों की रुचि प्राकृत में परिचित है, मरुभूमि, टक्क ( टांक, दक्षिणपश्चिमी पंजाब ) और भादानक[2] के वासी अपभ्रंश प्रयोग करते हैं, अवंती ( उज्जैन ) , पारियात्र ( बेतवा और चंबल का निकास ) और दशपुर ( मंदसोर ) के निवासी भूतभाषा की सेवा करते हैं, जो कवि मध्यदेश में ( कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि ) रहता है वह सर्व भाषाओं में स्थित है" । राजशेखर को भूगोल विद्या से बड़ी दिलचस्पी थी । काव्यमीमांसा का एक अध्याय का अध्याय भूगोल वर्णन को देकर वह कहता है कि विस्तार देखना हो तो मेरा बनाया भुवनकोश देखो । अपने आश्रयदाता की राजधानी महोदय ( कन्नौज ) का उसे बड़ा प्रेम था । कन्नौज और पांचाल की उसने जगह जगह पर बहुत बड़ाई की है । महोदय ( कन्नौज ) को मानो भूगोल का केंद्र माना है, कहा है दूरी की नाप महोदय से ही की जानी चाहिए, पुराने आचार्यों के अनुसार अंतर्वेदी से नहीं[3] । इस

---

[1] लाकोटे, वियना ओरिएंटल सोसाइटी का जर्नल, जिल्द ६४, पृ. ९५ आदि।

[2] बीजोल्यां के लेख में भी भादानक का उल्लेख है, यह प्रांत राजपूताने में ही होना चाहिए ।

[3] विनशनप्रयागयोर्गङ्गायमुनयोश्चान्तरमन्तर्वेदी । तदपेक्षया दिशो विभजेत इत्याचार्याः । तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य इति यायावरः ( काव्यमीमांसा पृ. ९४ )

महोदय की केंद्रता को ध्यान में रखकर उसका बताया हुआ, राजा के कविसमाज का निवेश बड़ा चमत्कार दिखाता है । वह कहता है कि राजा कविसमाज के मध्य में बैठे, उत्तर को संस्कृत के कवि ( कश्मीर, पांचाल ), पूर्व को प्राकृत ( मागधी की भूमि मगध ), पश्चिम को अपभ्रंश ( दक्षिणी पंजाब और मरुदेश ) और दक्षिण को भूतभाषा ( उज्जैन, मालवा आदि ) के कवि बैठे[1] । मानो राजा का कविसमाज भौगोलिक भाषानिवेश का मानचित्र हुआ । यों कुरुक्षेत्र से प्रयाग तक अंतर्वेद, पांचाल और शूरसेन, और इधर मरु, अवंती, पारियात्र और दशपुर—शौरसेनी और भूतभाषा के स्थान थे ।

## अपभ्रंश ।

बांध से बचे हुए पानी की धाराएँ मिलकर अब नदी का रूप धारण कर रही थीं । उनमें देशी की धाराएँ भी आकर मिलती गई । देशी और कुछ नहीं, बाँध से बचा हुआ पानी है, या वह जो नदी मार्ग पर चला आया, बांधा न गया । **उसे भी कभी कभी छान कर नहर में ले लिया जाता था ।** बांध का जल भी रिसता रिसता इधर मिलता आ रहा था । पानी बढ़ने से नदी की गति वेग से निम्नाभिमुखी हुई, उसका 'अपभ्रंश' (नीचे को बिखरना) होने लगा । अब सूत से नपे किनारे और नियत गहराई नहीं रही । राजशेखर ने संस्कृत वाणी को सुनने योग्य, प्राकृत को स्वभावमधुर, अपभ्रंश को सुभव्य और भूतभाषा को सरस कहा है[2] । इन विशेषणों की साभिप्रायता विचारने योग्य है । वह यह भी कहता है कि कोई बात एक भाषा में कहने से अच्छी लगती है, कोई दूसरी में, कोई दो तीन में[3] । उसने काव्यपुरुष का शरीर शब्द और अर्थ का बनाया है जिसमें संस्कृत को मुख, प्राकृत को बाहु, अपभ्रंश को जघन-

---

(१) काव्यमीमांसा, पृ. ५४-५५.

(२) बालरामायण ।

(३) काव्यमीमांसा, पृ. ४८ ।

स्थल, पैशाच को पैर और मिश्र को ऊरु कहा है । विक्रम की सातवीं शताब्दी से ग्यारहवीं तक अपभ्रंश की प्रधानता रही और फिर वह पुरानी हिंदी में परिणत हो गई । इसमें देशी की प्रधानता है । विभक्तियाँ घिस गई हैं, खिर गई हैं, एकही विभक्ति हँ, या आहँ कई काम देने लगी है । एक कारक की विभक्ति से दूसरे का भी काम चलने लगा है । वैदिक भाषा की अविभक्तिक निर्देश की विरासत भी इसे मिली । विभक्तियों के खिर जाने से कई अव्यय या पद लुप्त-विभक्तिक पद के आगे रखे जाने लगे, जो विभक्तियाँ नहीं हैं । क्रियापदों में मार्जन हुआ । हां, इसने केवल प्राकृत ही के तद्भव और तत्सम पद नहीं लिए, किंतु धनवती अपुत्रा मौसी से भी कई तत्सम पद लिए[1] । साहित्य की प्राकृत साहित्य की भाषा ही हो चली थी, वहां गत भी गय और गज भी गय; काच, काक, काय ( =शरीर ), कार्य सब के लिये काय । इसमें भाषा के प्रधान लक्षण—सुनने से अर्थबोध—का व्याघात होता था । अपभ्रंश में दोनों प्रकार के शब्द मिलते हैं । जैसे शौरसेनी, पैशाची, मागधी आदि भेदों के होते हुए भी प्राकृत एक ही थी वैसे शौरसेनी अपभ्रंश, पैशाची अपभ्रंश, महाराष्ट्री अपभ्रंश आदि होकर एक ही अपभ्रंश प्रबल हुई । हेमचंद्र ने जिस अपभ्रंश का वर्णन किया है वह शौरसेनी के आधार पर है । मार्कंडेय ने एक 'नागर' अपभ्रंश की चर्चा की है जिसका अर्थ नगरवासी चतुर, शिक्षित ( गँवई से विपरीत ) लोगों की भाषा, या गुजरात के नागर ब्राह्मणों, या नगर ( वडनगर, वृद्धनगर ) के प्रांत की भाषा हो सकता है । गुजरात की अपभ्रंश-प्रधानता की चर्चा आगे है । किंतु उसके उस नगर का वडनगर या नगर नाम प्राचीन नहीं है इसलिये

---

[1] तद्भव प्रयोगों के अधिक घिस जाने पर भाषा में एक अवस्था आती है जब शुद्ध तत्समों का प्रयोग करने की टेव पड़ जाती है । हिंदी में अब कोई जस या गुनवंत नहीं लिखता, यश और गुणवान् लिखते हैं । बोलें चाहे तरीं, पर्‌सोतम् और हर्‌किसुन्, लिखेंगे तरह, पुरुषोत्तम और हरकृष्ण ।

'नगर की भाषा' अर्थ मानने पर मार्कंडेय के व्याकरण की प्राचीनता में शंका होती है ।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में कई श्लोक दिए हैं जिनमें वर्णन किया है कि किस देश के मनुष्य किस तरह संस्कृत और प्राकृत पढ़ सकते हैं । यहां इस पाठशैली के वर्णन की चर्चा कर देनी चाहिए । यह वर्णन रोचक भी है और कई अंशों में अब तक सत्य भी । उच्चारण का ढंग भी कोई चीज़ है । वह कहता है कि काशी से पूर्व की ओर जो मगध आदि देशों के वासी हैं वे संस्कृत ठीक पढ़ते हैं किंतु प्राकृत भाषा में कुंठित हैं । बंगालियों की हँसी में उसने एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें सरस्वती ब्रह्मा से प्रार्थना करती है कि मैं बाज़ आई, मैं इस्तीफ़ा पेश करती हूं, या तो गौड़ लोग गाथा पढ़ना छोड़ दें, या कोई दूसरी ही सरस्वती बनाई जाय[1]।

गौड़ देश में ब्राह्मण न अतिस्पष्ट, न अश्लिष्ट, न रूक्ष, न अतिकोमल, न मंद और न अतितार स्वर से पढ़ते हैं । चाहे कोई रस हो, कोई रीति हो, कोई गुण हो, कर्णाट लोग घमंड से अंत में टंकारा देकर पढ़ते हैं । गद्य, पद्य, मिश्र कैसा ही काव्य हो द्रविड़ कवि गा कर ही पढ़ेगा । संस्कृत के द्वेषी लाट प्राकृत को ललित मुद्रा से सुंदर पढ़ते हैं । सुराष्ट्र[2], त्रवण[3] आदि संस्कृत में अपभ्रंश के अंश मिलाकर एक ही तरह पढ़ते हैं । शारदा के प्रसाद से कश्मीरी सुकवि होते हैं किंतु उनका पाठक्रम क्या है, कान में मानो गिलोय की पिचकारी है । उत्तरापथ के कवि बहुत संस्कार होने पर भी गुन्ना (नाक में)

---

[1] ब्रह्मन् विज्ञापयामि त्वां स्वाधिकारजिहासया ।
गौड़स्त्यजतु वा गाथामन्या वास्तु सरस्वती ॥

[2] सोरठ–गुजरात काठियावाड ।

[3] पश्चिमी राजपूताना । जोधपुर के राजा बाउक के वि॰ सं॰ ८९४ के शिलालेख में उसके चौथे पूर्वपुरुष शिलुक का त्रवणी और वल्ल देश तक अपने राज्य की सीमा नियत करना कहा गया है । वल्ल देश भाटियों का जैसलमेर है, त्रवणी उसके दक्षिण में होना चाहिए ।

पढ़ते हैं। पांचाल देश वालों का पाठ तो कानों में शहद बरसाता है, उसका कहना ही क्या[1]।

पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है और पिछली पुरानी हिंदी से। हम ऊपर दिखा चुके हैं कि शौरसेनी और भूतभाषा की भूमि ही अपभ्रंश की भूमि हुई और वही पुरानी हिंदी की भूमि है। अंतर्वेद, व्रज, दक्षिणी पंजाब, टक्क, भादानक, मरु, त्रवण, राजपूताना, अवंती, पारियात्र, दशपुर और सुराष्ट्र—यहीं की यह भाषा एक ही मुख्य अपभ्रंश थी जैसे पहले देशभेद होने पर भी एक ही प्राकृत थी। अभी अपभ्रंश के साहित्य के अधिक उदाहरण नहीं मिले हैं, न उस भाषा के व्याकरण आदि की ओर पूरा ध्यान दिया गया है। अपभ्रंश कहां समाप्त होती है और पुरानी हिंदी कहां आरंभ होती है इसका निर्णय करना कठिन किंतु रोचक और बड़े महत्व का है। इन दो भाषाओं के समय और देश के विषय में कोई स्पष्ट रेखा नहीं खींची जा सकती। कुछ उदाहरण ऐसे हैं जिन्हें अपभ्रंश भी कह सकते हैं, पुरानी हिंदी भी। संस्कृत ग्रंथों में लिखे रहने के कारण अपभ्रंश और पुरानी हिंदी की लेखशैली की रक्षा हो गई जो मुखसुखार्थ लेखनशैली में बदलती बदलती ऐसी हो जाती कि उसे प्राचीन समझने का कोई उपाय नहीं रह जाता। उसी प्राचीन लेखशैली को हिंदी की उच्चारणानुसारिणी शैली पर लिख दें (जिस प्रकार कि वह अवश्य ही बोली जाती होगी) तो अपभ्रंश कविता केवल पुरानी हिंदी हो जाती है और दुर्बोध नहीं रहती। इसलिये यह नहीं कह सकते कि पुरानी हिंदी का काल कितना पीछे हटाया जाय। हिंदी उपमावाचक 'जिमि' या 'जिम' ऐसी पुरानी कविता में 'जिम्वँ' लिखा मिलता है। उसके उच्चारण में प्रथम स्वर संयुक्ताक्षर

---

[1] मार्गानुगेन निनदेन निधिर्गुणानां
संपूर्णवर्णरचनो यतिभिर्विभक्तः ।
पाञ्चालमण्डलभुवां सुभनः कवीनां
श्रोत्रे मधु क्षरति किञ्चन काव्यपाठः ॥

के पहले होने से गुरु नहीं हो सकता (जिम्म्व) क्योंकि जिस छंद में वह आया है उसका भंग होता है। इसलिये चाहे वह 'जिम्वँ' लिखा हो उसका उच्चारण 'जिँव' था जो जिम ही है। संस्कृत 'उत्पद्यते' का प्राकृत रूप 'उप्पज्जइ' है जो छँट खिर कर 'उप्पजइ' के रूप में है। अब यह 'उप्पजइ' अपभ्रंश माना जाय या पुरानी हिंदी? 'जइ' का उच्चारणानुसार लेख करने से 'उपजै' हो जाता है (संयुक्त पकार के कारण उ की मात्रा की गुरुता मान कर ऊपजै सही) जिसे हम हिंदी पहचानते हैं। संभव है कि जैसे आजकल हिंदी के विद्वानों में 'गये, गए' पर दलादली है वैसे ही 'उपज्जइ, उपजइ, उपजै, ऊपजै' पर कई शताब्दियों तक चली हो, यद्यपि उसे अरुंतुद बनाने के लिये छापाखाना न था।

इन पोथियों के लिखनेवाले संस्कृत के पंडित या जैन साधु थे। संस्कृत शब्दों को तो उन्होंने शुद्धि से लिखा, प्राकृत को भी, किंतु इन कविताओं की लेखशैली पर ध्यान नहीं दिया। कभी पुराना रूप रहने दिया, कभी व्यवहार में परिचित नया रूप धर दिया। यह आगे के पाठांतरों से जान पड़ेगा।

ऐसी कविता के लिये 'पुरानी हिंदी' शब्द जान बूझ कर काम में लिया गया है। पुरानी गुजराती, पुरानी राजस्थानी, पुरानी पश्चिमी राजस्थानी, आदि नाम कृत्रिम हैं और वर्तमान भेद को पीछे की ओर ढकेल कर बनाए गए हैं। भेदबुद्धि दृढ करने के अतिरिक्त इनका कोई फल भी नहीं है। कविता की भाषा प्रायः सब जगह एक ही सी थी। जैसे नानक से लेकर दक्षिण के हरिदासों तक की कविता 'व्रजभाखा' कहलाती थी वैसे अपभ्रंश को पुरानी हिंदी कहना अनुचित नहीं, चाहे कवि के देशकाल के अनुसार उसमें कुछ रचना प्रादेशिक हो।

पिछले समय में भी हिंदी कवि संत लोग विनोद के लिये एक आध पद गुजराती या पंजाबी में लिख कर अपनी वाणियां भाखा में लिखते रहे जैसे कि कुछ शौरसेनी, पैशाची का छींटा देकर कविता

महाराष्ट्री प्राकृत में ही होती थी । मीराबाई के पद पुरानी हिंदी कहे जांय या गुजराती या मारवाड़ी ? डिंगल कविता गुजराती है या मारवाड़ी या हिंदी ? कवि की प्रादेशिकता आने पर भी साधारण भाषा 'भाखा' ही थी । जैसे अपभ्रंश में कहीं कहीं संस्कृत का पुट है वैसे तुलसीदासजी रामायण को पूरवी भाषा में लिखते लिखते संस्कृत में चले जाते हैं[1] । यदि छापाखाना, प्रांतीय अभिमान, मुसलमानों का फ़ारसी अक्षरों का आग्रह, और नया प्रांतिक उद्बोधन न होता तो हिंदी अनायास ही देश भाषा बनी जा रही थी । अधिक छपने छापने, लिखने और झगडों ने भी इस गति को रोका ।

आजकल लोग पृथ्वीराजरासे की भाषा को हिंदी का प्राचीनतम रूप मानते हैं । उसका विचार हम अपभ्रंश के अवतरणों के विचार के पीछे करेंगे किंतु इतना कहे देते हैं कि यदि इन कविताओं को पुरानी हिंदी नहीं कहा जाय तो रासे की भाषा को राजस्थानी या 'मेवाड़ी–गुजराती–मारवाड़ी–चारणी–भाटी' कहना चाहिए, हिंदी नहीं । व्रजभाषा भी हिंदी नहीं और तुलसीदासजी की मधुर उक्तियां भी हिंदी नहीं ।

यह पुरानी कविता बिखरी हुई मिलती है । कोई मुक्तक शृंगार रस की कविता, कोई वीरता की प्रशंसा, कोई ऐतिहासिक बात, कोई नीति का उपदेश, कोई लोकोक्ति और वह भी व्याकरण के उदाहरणों में या कथाप्रसंग में उद्धृत । मालूम होता है कि इस भाषा का साहित्य बड़ा था । उसमें महाभारत और रामायण की पूरी, या उनके आश्रय पर बनी हुई छोटी छोटी, कथाएँ थीं । ब्रह्म और मुंज नाम के कवियों का पता चलता है । जैसे प्राकृत के पुराने रूप भी शृंगार की चटकीली मुक्तक गाथाओं में (सातवाहन की सप्तशती) या जैन धर्मग्रंथों में हैं, वैसे पुरानी हिंदी के नमूने भी या तो शृंगार वा वीर रस के अथवा कहानियों के चुटकुले हैं या जैन धार्मिक

---

[1] जैसे,—कबिहिँ अगम जिमि ब्रह्मसुख अहममलिनजनेषु ।
रन जीति रिपुदलमध्यगत पश्यामि राममनामयं ॥ इत्यादि

रचनाएँ । हेमचंद्र की वड़ी बड़ाई कीजिए कि उसने प्राकृत उदाहरणों में तो पद या वाक्यों के टुकड़े ही दिए, पर ऐसी कविताओं के पूरे छंद उद्धृत किए । इसका कारण यही जान पड़ता है कि जिन पंडितों के लिये उसने व्याकरण बनाया वे साधारण मनुष्यों की 'भाखा' कविता को वैसे प्रेम से नहीं कंठस्थ करते थे जैसे संस्कृत और प्राकृत को ।

संस्कृत के श्लोक और प्राकृत की गाथा की तरह इस कविता का राजा दोहा है । सोरठा, छप्पय, गीत आदि और छंद भी हैं, पर इधर दोहा और उधर गाथा ही पुरानी हिंदी और प्राकृत का भेदक है । 'दोहा' का नाम कई संस्कृताभिमानियों ने 'दोधक'[1] बनाया है किंतु शाब्दिक समानता को छोड़ कर इसमें कोई सार नहीं है और संस्कृत में दोधक छंद दूसरा होने से इसमें धोखे की सामग्री भी है । दोहा पद की निरुक्ति दो की संख्या से है, जैसे चौपाई और छप्पय की—दो + पद, दो + पथ, या दो + गाथा । प्रबंधचिंतामणि में एक जगह एक प्राकृत का 'दोधक' भी दिया है जो दोहा छंद में है । पूर्वार्ध सपादलक्ष (अजमेर-सांभर) के राजा ने समस्या की तरह भेजा था और उत्तरार्ध की पूर्ति हेमचंद्र ने की थी[2] । यह ऐसा ही विरल विनोद जान पड़ता है जैसा कि आजकल हमारे मित्र भट्ट मथुरानाथजी के संस्कृत के मनहर दंडक और सवैये । प्रबंधचिंतामणि में ही एक जगह दो चारणों को "दोहाविद्यया स्पर्धमानौ" अर्थात् दोहा विद्या से होड़ाहोडी करते हुए कहा गया है । उनकी कविताओं में एक दोहा है, एक सोरठा, किंतु रचना 'दोहाविद्या' कही गई है यह बात ध्यान देने योग्य है । इसी प्रकार रेख़ता छंद से रेख़ते की बोली कहला गई थी (रेख़ते के उस्ताद तुमही नहीं हो ग़ालिब ! )

पुरानी हिंदी का गद्य वहुत कम लिखा हुआ मिलता है । पद्य

---

[1] प्रबंधचिंतामणि पृष्ठ २६, १२७ ।

[2] पइली ताव न अनुहरइ गोरीमुहकमलस्स ।
अदिट्ठी पुनि उन्नमइ पडिपयली चंदस्स ॥ ( प्र. चिं. पृ. १२७)

दो तरह रक्षित हुआ है,—मुख से और लेख से। दोनों तरह की रक्षा में लेखक के हस्तसुख और वक्ता के मुखसुख से इतने परिवर्तन हो गए हैं कि मूल शैली की विरूपता हो गई है। लिखनेवाला प्रचलित भाषा के ग्रंथों या लोकप्रिय काव्यों में 'मक्खी के लिये मक्खी' नहीं लिखता। उसके बिना जाने ही कलम नए रूपों पर चल जाती है। गुसाईंजी के 'तइसइ' 'जुगुति' 'कालसुभाउ' 'अउरउ' अब क्रम से 'तैसेहि', 'युक्ति', 'कालस्वभाव' और 'औरो' हो गए हैं। जो कविता मुख से कान, मुख से कान, चलती है उसमें तो बहुत ही परिवर्तन हो जाते हैं। हेमचंद्र के प्राकृत व्याकरण (आठवें अध्याय) के उदाहरणों में एक 'अपभ्रंश' या पुरानी हिंदी के दोहे को लीजिए। अपभ्रंश और पुरानी हिंदी में सीमारेखा बहुत ही अस्पष्ट है और, जैसा कि आगे स्पष्ट हो जायगा, पुरानी हिंदी का समय बहुत ऊपर चढ़ जाता है। वह दोहा यह है—

वायसु उड्डावन्तिअए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा वलया महिहि गय अद्धा फुट्ट तडत्ति॥

[वियोगिनी कौआ उड़ाने लगी कि मेरा पिया आता हो तो उड़ जा। इतने में उसने अचानक पिया को देख लिया। कहां तो वह वियोग में ऐसी दुबली थी कि हाथ बढ़ाते ही आधी चूड़ियां जमीन पर गिर पड़ीं और कहां हर्ष से इतनी मोटी हो गई कि बाकी की चूड़ियां तड़ तड़ कर चटक गईं।]

चारणों के मुख से कई पीढ़ियों तक निकलते निकलते राजपूताने में इस दोहे का अब यह मंजा हुआ रूप प्रचलित है—

काग उड़ावण जाँवती पिय दीठो सहसत्ति।
आधी चूड़ी कागगल आधी टूट तडित्ति॥

निशाना ठीक लग गया, चूड़ियां जमीन पर न गिर कर कौए के गले में पहुँच गईं और चूड़ी टूटने का अशकुन भी मिट गया।

उसी व्याकरण में से एक दोहा और लीजिए—

पुत्तें जाएं कवणु गुणु अवगुणु कवणु मुएण ।
जा बप्पीकी भुंहडी चम्पिज्जइ अवरेण ॥

[ उस बेटे के जन्म लेने से क्या लाभ और मर जाने से क्या हानि कि जिसके होते बाप की धरती पर दूसरा अधिकार कर ले । ]

इस दोहे का परिवर्तन होते होते यह रूप हो गया है—

बेटा जायाँ कवण गुण अवगुण कवण धियेण[1] ।
जो ऊभाँ[2] धर[3] आपणी गंजीजै[4] अवरेण[5] ॥

यह भी ध्यान देनेयोग्य बात है कि मूल दोहे में 'मुयं पुत्र से क्या अवगुण' कहा गया है किंतु पीछे, स्त्री जाति की ओर अपमान बुद्धि बढ़ जाने और उसका उत्तराधिकार न होने से 'धी (-पुत्री, संस्कृत दुहितृ, पंजाबी धी ) से क्या अवगुण' हो गया है । अस्तु । ऐसी दशा में जो पुरानी कविता या गद्य संस्कृत और प्राकृत के व्याकरण और छंद आदि के ग्रंथों में, बच गया है, वह पुराने वर्णविन्यास की रक्षा के साथ उस समय की भाषा का वास्तव रूप दिखाता है ।

इस तथा अग्रिम लेखों में "दोहाविद्या" के उदाहरण संग्रह किए जायंगे । आवश्यक कथाप्रसंग तथा मूल का परिचय दिया जायगा । पुराने शब्दों के वर्तमान रूप और कुछ तारतम्यात्मक विवेचन दिखाया जायगा । पाठांतरों में से उतने ही दिए हैं जिनमें विशेषता है । लेखकों ने ह्रस्व दीर्घ का व्यत्यय किया है वह ज्यों का त्यों रहने दिया है, छंद के अनुसार पढ़ना चाहिए "जिन्भा जाणादि छंदो" । पाठांतरों से जान पड़ेगा कि कोई लेखक पुरानी अक्षरयो-

---

१ धी से, पुत्री से । २ खड़े खड़े । ३ पृथ्वी, धरा । ४ गंजन की जाय, जीती जाय । ५ मलसीसर के ठाकुर श्रीभूरसिंहजी का विविध संग्रह, पृष्ठ ४८ । इस संग्रह में यह दोहा तथा 'एहि ति घोड़ा एहि थल०—' वाला दोहा ठाकुर साहब ने कविवर हेमचंद्र के नाम से दिया है किंतु ये हेमचंद्र की रचना नहीं हैं, उससे पहले के हैं, इसने अपने व्याकरण में उदाहरण की तरह और बहुत सी कविता के साथ दिए हैं । 'एहि ति घोड़ा०' की चर्चा यथास्थान होगी ।

जना को रखता है, कोई प्राकृत की चाल पर चलता है, कोई मँजो हुई देशभाषा की रीति पर आ उतरता है ।

## (१) शार्ङ्गधर पद्धति से ।

शार्ङ्गधर नामक कवि ने एक सुभाषित संग्रह शार्ङ्गधरपद्धति नामक बनाया है । वृक्षायुर्वेद और वैदक के भी उसके ग्रंथ प्रसिद्ध हैं । उसने अपना परिचय यों दिया है कि शांकभरी देश के चाहुवाण राजा हंमीर के सभासदों में मुख्य राघवदेव थे । उनके गोपाल दामोदर और देवदास नामक पुत्र हुए । दामोदर के पुत्र शार्ङ्गधर लक्ष्मीधर और कृष्ण थे । यह हंमीर रणथंभोर का प्रसिद्ध हंमीर है जो अलाउद्दीन खिलजी से संवत् १३५७ में बड़ी वीरता से लड़कर परास्त हुआ । चौहानों की राजधानी पहले शांकभरी (सांभर) थी, जिससे अजमेर में आने पर भी वे शांकभरीश्वर ही कहलाते रहे । पृथ्वीराज के पुत्र गोविंद ने शहाबुद्दीन गोरी की अधीनता स्वीकार कर ली जिससे उसके चचा हरिराज ने उसे निकाल दिया । वह रणथंभोर में जाकर राज्य जमा कर बैठा । उसीका अंतिम सातवां वंशधर हंमीर था । उसके सभासद के पौत्र का उसे शांकभरीप्रदेश का स्वामी कहना ऐतिहासिक और उचित है । यों शार्ङ्गधर का समय विक्रमी संवत् की चौदहवीं शताब्दी का अंत हुआ । शार्ङ्गधरपद्धति में कई जगह उस समय की बोलचाल की भाषा के मंत्र, शब्द और वाक्य दिए हैं जो उस समय की हिंदी के नमूने हैं ।

शार्ङ्गधर पद्धति में (१) एक विष हटाने का शाबर मंत्र दिया है ( पीटर्सन का संस्करण, नं० २८७० ) । शाबर का अर्थ वहां यह दिया है कि जब शिव ने शबर ( किरात ) रूप से अर्जुन से युद्ध किया उस समय जो मंत्र उन्होंने कहे थे वे शाबर मंत्र हैं । ये वैसे ही मंत्र हैं जिनके लिये गुसांई तुलसीदासजी ने लिखा है कि 'अनमिल आखर अरथ न जापू । प्रकट प्रभाव महेश प्रतापू ।' दहने हाथ में पानी का बरतन ले कर बांए हाथ की अनामिका से सात बार

R
110754

मंत्र पढ़ कर उसे हिला कर जिसे वह जल पीने को दिया जाय वह तत्क्षण निर्विष हो जाता है ( नं० २८६८ - ६ ) मंत्र यह है—

ओं गुरु के पाय शरणम् । ओं चवि चवि चारि भार विसुमाटी ॥

(=कह, कह, विष की मट्टी के चार भार, चव=कहना, यथा सुकवि चंद सच्चो चवै )

(२) नं० २६४२ में सांप के विष से बचने का यह मंत्र दिया है । इसे सात बार पढ़ कर कपड़े में गांठ दे ले, जब तक वह गांठ वाला वस्त्र देह पर रहेगा तब तक सांप से भय न हो—

ओं दष्ट कर अष्ट कर कालिङ्गनाग हरिनाग ।
सर्प डुण्डी विसु दाढ बन्धन शिवगुरु प्रसाद ॥

(डुण्डी = डुण्डुभ, निर्विष, जल का सांप, विसु = विष, दाढ = दंष्ट्रा)

(३) नं० ३०१८ में टीडी, सारस, तोते, सूअर, हरिन, चूहे, खरहों को खेतों से हटाने का मंत्र दिया है—

ओं नमः सुरेभ्यो बल बल ज ज चिरि चिरि मिलि मिलि स्वाहा ।

( ज = जा, जादूगर अब तक 'इरि मिरि चिरि' कहा करते हैं )

(४) नं० ३०१९ में लिखा है कि मंत्र जाननेवाला धनुष की नोक से अपने साथ ( सार्थ, कारवाँ ) के चारों ओर रेखा से कुंडल करे और इस शाबर मंत्र का जप करे तो सिंह से रक्षा हो—

नन्दायणु[१] पुत्त[२] सायरिउ[३] पहारु[४] मोरी[५] रक्षा कुक्कुर जिम पुंछी[६] दुल्लावइ[७] उरहइ[८] पुंछी परहई[९] मुहि[१०] जाह[११] रे जाह । आठ संकला[१२] करि उर[१३] बन्धउं[१४] बाघ बाघिणि कउ[१५] मुह बन्धउ कलियाखिणी[१६] की दुहाई महादेव की पूजा पाई टालहि जई[१७] आगिली विष देहि ।

---

१ नंद का ? २ पुत्र । ३ सायरी का ? ४ पहाड़ । ५ मेरी । ६ पूंछ ७ डुलाता है, हिलाता है, संस्कृत दोलापयति (!) । ८ और रहता है ? । ९ छोड़ता है ? १० मुझे । ११ जा । १२ सांकल । १३ छाती । १४ बांधू । १५ को (= का) । १६ कलि यक्षिणी । १७ मुझे टाल कर जा ।

(५) नं० ३०२०-३०२२ में कहा है कि जोर से 'बोलला' कहने से जहां तक शब्द सुनाई पड़े वहां तक सिंह ठहरता नहीं । शबर की स्त्री इस मंत्र को पढ़े तो चुगुलख़ोर, सिंह, चोर, अपमृत्यु, और बाण से रक्षा होती है, तर्जनी अंगुली से आठों दिशाओं में इस मंत्र से रक्षा करे या मंत्रित करके 'कर्कर' (कंकरियां या कौड़ियां) आठों दिशाओं की ओर फेंके—

ओं आडू चूडू बाढी कोडी चोरु चाटु कालु कांडु बाघ स्वाहा ।

(६) भाषाचित्र में एक श्लोक ( नं० ५४९ ) दिया है जिसमें कई हिंदी शब्द आए हैं । श्लोक संस्कृत का है और संधि आदि से उसका ठीक संस्कृत अर्थ होता है । चमत्कार यह है कि पढ़ते समय धोखा होता है कि संस्कृत में अपभ्रंश कैसे आ गए । पुराने ग्रंथों में ऐसे चमत्कार के लिये जो श्लोक दिए जाते थे उनमें संस्कृत में प्राकृत-बुद्धि हो जाती थी, अर्थात् संस्कृत और प्राकृत दोनों अर्थ निकलते थे, किंतु इस श्लोक में प्राकृत का स्थान हिंदी ने लिया है—

उत्सरङ्गकलितोरु **कटारीभाजिराउत**भयंकर**भाला:** ।
सन्तु **पायक**गणा जयतैस्त्वं **गाम गोहर मिलापइलावी** ॥

इसमें और हिंदी शब्द तो देखने में ही हिंदी हैं, जैसे उरुकट + अरि + इभ + आजि + रा:, किंतु पायक ठीक हिंदी अर्थ ( सेवक ) में व्यवहृत हुआ है ( सो किमि मनुज''जाके हनूमान से पायक —तुलसीदास )

(७) वहीं पर भाषाचित्र का एक नमूना और ( नं० ५५० ) दिया है जिसमें कुछ संस्कृत है, कुछ हिंदी । इसका कर्ता श्रीकंठ पंडित है और इसमें श्रीमल्लदेव राजा की वीरता का वर्णन है कि उसकी सेना के जोधा मार काट चिल्ला रहे हैं और वैरिनारी अपने पति से कह रही है कि घमंड छोड़ कर मल्लदेव की शरण जाओ ।

नूनं **बादल छाइ खेह**[1] **पसरी** निःश्राणशब्दः खरः
शत्रुं **पाडि लुटालि तोडि हनिसौं**[2] एवं भणंत्युद्भटाः ।
**झूठे** गर्व **भरा मघालि** (?) सहसा रे **कन्त मेरे कहे**
**कंठे पाग निवेश**[3] **जाह** शरणं श्रीमल्लदेवं विभुम् ॥

इन अवतरणों से जान पड़ता है कि उस समय हिंदी के दोनों रूप प्रचलित थे, खड़ा और पड़ा । 'बादल छाइ खेह पसरी' भी है और 'रे कंत मेरे कहे' भी है, 'कुक्कुर जिमि पुंछी दुल्लावइ' 'वाघणी कउ मुख' भी है और 'कालियाखिणी की दुहाई' और 'गुरू के पाय' भी है । अपभ्रंश का नपुंसक प्रथमा एकबचन का चिन्ह 'उ' भी चलता था, वर्तमान में भी 'उ' था, आज्ञा में इ, उ, हु, हया हि, हटकर कोरा धातु भी रह गया था ।

## (२) प्रबंधचिंतामणि से ।

प्रबंधचिंतामणि नामक संस्कृत ग्रंथ जैन आचार्य मेरुतुंग ने संवत् १३६१ में वढ़वान में बनाया । बंबई के डाक्टर पीटर्सन के शास्त्री दीनानाथ रामचंद्र ने बंबई में सं० १९४४ में कई हस्तलिखित प्रतियों से मिलाकर इसका मूल छापा जो अब दुष्प्राप्य है । उन्होंने इसका बढ़ाया हुआ गुजराती भाषांतर भी छपवाया था जो मैंने देखा नहीं। सन् १९०१ में टानी ने और कई मूल प्रतियों की सहायता से इसका अंगरेज़ी अनुवाद छापा । दोनों के अनुवाद कैसे हैं यह यथास्थान प्रकट होगा । इस पुस्तक में कई ऐतिहासिक प्रबंध

---

[1] धूळ । [2] फाड़, लूट और तोड़ कर मारूंगा (हनिसौं, मिलाओ राजस्थानी करस्यूं, संस्कृत हनिष्ये) । [3] पगड़ी उतारना और गले में कपड़ा आदि डालकर सामने आना अधीनता का चिन्ह है, जैसे, वर्तमान बंगालियों का अभिवादन, दसन गहहु त्रिन कंठ कुठारी (तुलसीदास), अपनीतशिरस्त्राणाः शेषास्तं शरणं ययुः ( रघुवंश ४)।, अल्पसैन्यो मल्लसूनुर्यावत्तस्मादशङ्कत । अपनीतशिरस्त्राणस्तावत्स तमवन्दत ( राजतरङ्गिणी ७।१५४४ ) । कण्ठबद्धशिरःशाटः शीर्षेणोपानहं वहन् । मुक्तवेलोऽपि भूपालं कर्तुं नाशकद क्रुधम् । (राजतरङ्गिणी ८।२२७३)

या किस्से हैं। कई बातों में यह भोजप्रबंध के ढंग की है । जैन धार्मिक साहित्य में अपने मत की "प्रभावना" बढ़ानेवाले किस्सों का स्थान बहुत ऊँचा है। जैन धर्मोपदेशक अपने साधु तथा श्रावक शिष्यों के मनोविनोद और उपदेश के लिये कई कथाएं कहा करते हैं जो पौराणिक, ऐतिहासिक या अर्ध-ऐतिहासिक होती हैं। इन कथाओं के कई संग्रह ग्रंथ हैं जिनमें पुराने कवियों की रचना, नए कवियों के नाम, पुराने राजाओं के कर्त्तव्य, नयों के नाम, विक्रमादित्य भी जैन, सालिवाहन भी जैन, वराहमिहिर भी जैन, ब्राह्मण विद्वानों और अन्य शाखा-संप्रदायों के जैन विद्वानों का अपने इष्ट संप्रदाय के आचार्यों से सदा पराजय, आदि बातें भी रहती हैं जो वर्तमान दृष्टि से ऐतिहासिक नहीं कहला सकतीं। किंतु उस समय के हिंदू ग्रंथ भी ऐसे ही हैं। उनमें देखा जाय तो ऐतिहासिकता की उपेक्षा जैनों की अपेक्षा अधिक की गई है। इस लिये केवल जैनों ही को उपालंभ दिया नहीं जा सकता। इतना होने पर भी जैन विद्वानों के इतिहास की ओर रुचि रखने और उसकी मूलभित्ति का सहारा न छोड़ने के प्रमाण मिलते हैं। यों तो सम्राट् अशोक की धर्मलिपि के शब्दों में "आत्मपापंडे पूजा परपाषंडे गर्हा" सभी दिखाते हैं। सं० १३६१ का समय पृथ्वीराज और रासे के कल्पित कर्ता चंद के समय (१२५० सं०) से ११० पीछे ही का है। उस समय की प्रचलित भाषा कविता अवश्य मनन करने योग्य है। सं० १३६१ मेरुतुंग के इस चिंतामणि के संग्रह करने का समय है। कोई भी उद्धृत कविता उसने स्वयं नहीं रची है। कथाओं में प्रसंग प्रसंग पर जो कविता उसने दी है वह अवश्य ही उससे पुरानी है। कितनी पुरानी है इसका ऊर्द्धतम समय तो स्थिर नहीं किया जा सकता, किंतु प्रबंधचिंतामणि की रचना का समय उसका निम्नतम उपलब्धि काल अवश्य है। उससे पचास साठ वर्ष पहले यह कविता लोककथाओं में प्रचलित हो या ऐसे घिसे सिक्के यदि सौ दो सौ वर्ष पुराने भी हों तो आश्चर्य नहीं।

कुछ दोहे ऐसे हैं जो धार के प्रसिद्ध राजा भोज के चाचा मुंज के नाम पर हैं, उसके बनाए हुए कहे गए हैं। एक गोपाल नाम किसी व्यक्ति ने भोज से कहा था। दो चारणों ने हेमचंद्र को सुनाए थे। कुछ नवघन राजा के मरसिये हैं। सं० १३६१ के लिखित ऐतिह्य के अनुसार वे उस उस समय के हैं। इन कविताओं को शास्त्री ने मागधी और टानी ने प्राकृत समझा है।

सेवेल ने गणित से सिद्ध किया[1] है कि गुजरात के चावड़े राजाओं के संवत् आदि मेरुतुंग ने अशुद्ध लिखे हैं और मिति, वार, नक्षत्र, लग्न सब गड़बड़ दिए हैं, उनका ऐतिहासिक मूल्य कुछ नहीं है। पुरानी घटनाओं के बारे में चाहे कितनी ऐतिहासिक गड़बड़ हो, अपने समीप के काल की घटनाएं तो मेरुतुंग ने, जहां तक वे प्रबंध की पुष्टि कर सकती हैं, प्रामाणिक ही लिखी हैं। सिद्धराज जयसिंह, कुमारपाल, हेमचंद्र, वस्तुपाल, तेजपाल का काल गुजरात में संस्कृत और प्राकृत की विद्या तथा जैनधर्म के प्रचार का स्वर्णयुग था। भोज के समय धारा में जो विद्या और विद्वानों की ज्योति चमकी थी वह दो ढाई सौ वर्ष पीछे पश्चिमी गुजरात में भी देदीप्यमान हुई। उस समय की बातें जैनों के गौरव की हैं और उनकी संरक्षा उन्होंने बहुत सावधानी से की है।

प्रबंधचिंतामणि के एक ऐसे हिंदी अनुवाद की आवश्यकता है जिसमें ऐतिहासिक और शाब्दिक टिप्पणियां हों। इस ग्रंथ की भाषा संस्कृत है किंतु वह संस्कृत भी देशभाषाओं की उत्पत्ति और विकास के समझने में उपयोगी है। इस समय की "जैन संस्कृत" में एक मनोहारिता यह है कि जैन लेखक गुजराती या देशभाषा में सोचते थे और लिखते थे संस्कृत में। परिशिष्ट पर्व १।७५ में हेमचंद्र लिखते हैं कि 'स कालं यदि कुर्वीत को (कां) लभेत ततो गतिम्'। मरने के अर्थ में 'काल करना' संस्कृत का महाविरा तो है नहीं, देश भाषा का है। मँजे छँटे संस्कृत के प्रेमी इसे बर्बर संस्कृत कहें किंतु यह

---

[1] राय० एशि० सोसा० जर्नल, जुलाई १९२०, पृ० ३३७ आदि।

जीवित संस्कृत हैं, इसमें भाषा-पन है । रुचि की तो बात है, किसी को कश्मीर की कुराई के काम से सजा अखरोट की लकड़ी का सुढंग तख़ता अच्छा लगता है, किसी को हरी कोंपलों से लदी फदी टेढ़ी टहनी । यहां कुछ शब्द और वाक्य इस संस्कृत के दिए जाते हैं; जिन पर ❀ ऐसा चिन्ह है वे अन्यत्र शिलालेखों, काव्यों आदि में भी देखने में आए हैं—

छुप्तवान्–छुआ ।

❀उच्छीर्षक–तकिया, ओसीसा (राजस्थानी, बाण की कादम्बरी)

करवडो–दोनों हाथ मिलाकर पानी पीने के लिये पात्र सा बनाना (करपुटी)

धवलगृह–प्रधान महल (धवल = जो जिस जाति में उत्तम हो, देशी, हेम० देशी नाममाला ५।५७, तुलसीदासजी के ‘ धवल धाम ’ का यही अर्थ है, सफ़ेद महल नहीं ।

सर्वावसर–राजा का सब से मिलना, दीवान-ए-आम ।

राजपाटिका–राजमार्ग ।

❀ धर्मवहिका–(धर्म के लेखे की) बही ।

छुट्टितः–छूटा ।

झोलिका–झोली (यदि झोलिका संस्कृत में रूढ न हो तो यह भी देशी है, हेम० देशी० ३।१५६)

धाटीप्रपात–धाड़ा डालना ।

❀पञ्चकुल–पंचोली राजकर्मचारी ( ना० प्र० पत्रिका, भाग १, संख्या २, पृष्ठ १३४ )

उद्ग्राहणक–उगाही, उद्ग्राह्य–उगाह कर, उद्ग्राहित-उगाहा हुआ ।

निरुद्धं–(अमुक काल से) लेकर, लगाकर (यहां तक) ।

वहमान–चलता हुआ (सिंहलग्ने वहमाने) ।

न्युञ्छन–न्यौछावर ।

नृपतेः कः समयः ?–महाराज क्या काम कर रहे हैं ? कैसा मौका है ?

गुरुदर–तम्बू, खेमा ।

❁वसहिका–मंदिर । (पत्रिका, भाग १, संख्या ४, पृष्ठ ४५०) ।

चिन्तायक–सम्हालनेवाला, रखवाला ।

❁दवरक,कटीदवरक–डोरा (डोर: कटिसूत्र, हर्षचरित की टीका)

❁रसवती–रसोई ।

यमलपत्र–(राजाओं के आपस के) पत्र, मुरासिले ।

भेटितः–मिला ।

पादोऽवधार्यताम्–पधारो ( पगु धारे—तुलसी० ) ।

❁खत्तक–द्वार प्रांत का ताक़ ।

मदनपट्टिका–मोम की पट्टी, मैण(=मोम)का संस्कृतीकृत 'मदन'।

कचोलक–कटोरी, कचोला, कचोली (राजस्थानी) ।

जीर्णमञ्चाधिरूढः–टूटी खाट पर पड़ा हुआ ( क्रोध में ) ।

सवाहटिको घटः–प्याले सहित घड़ा (वाहटी=बाटी या बाटकी=कटोरी ) ?

हक्कित–बुलाया गया, संबोधित ।

दानी–दंड, राजकर, दाणी, दाण (मारवाड़ी) ।

गोण्डित–बीमार हुआ (पशु) ।

कामुक–काम करनेवाले नौकर, (पंजाबी) काम्मा, (मारवाड़ी) कामेती, कार्म (हर्षचरित) (=भृतकाः) (टानी–well-wishers! शुभचिंतक) ।

छिम्पिका–छींपी (वस्त्र रंगनेवाली जाति) ।

निजतनक गृह–अपना घर (तणा, या तणु, या तणी–मारवाड़ी गुजराती 'का' ) ।

व्याघुटन्ती–लौटती हुई, (मारवाड़ी) बावड़ना, (पंजाबी) बौढ़ना। व्याघुटितुं–लौटने को ।

वलितः–लौटा, मुड़ा ।

वासण–भांडे, रुपयों की थैली (वासणी) ।

विहङ्गिका–वहँगी, कावड ।

❀ कार्मण–जादू टोना, कामण (मारवाड़ी)।

उत्तेजितं निर्माप्य–उत्तेजित (शान चढ़ा हुआ) बनाकर, करवा कर।

संग्रहणी–वेश्या।

❀ पट्टकिल–पटैल, पट्टक (ज़िले) का प्रबंधक।

सेजवाली–पालकी।

स्थपनिका–गिरौ रखना।

समारोपयत्–सौंप दिया।

पादौ त्यजसि–पाँव छोड़ता है (डरकर भागता है)।

पोत–वस्त्र (मारवाड़ी पोतिया)।

आरात्रिकमुत्तार्य–आरती उतारकर।

तत्पट्टकं विपाट्य मुमोच–पट्टा फाड़कर (राजकर) छोड़ दिया।

❀ मारि–मारना, अमारि–अभय।

युगलिका–डाक की चिट्ठी (हरकारे दो साथ दौड़ते हैं, टानी)।

शकुनं भरितं विधेहि–शकुन भरो (= शकुन लो)।

पाषाणसत्कजातीय, सत्क = का।

❀ कारापक–करानेवाला।

❀ तापिका–तई (कड़ाही), तपेली (तापकोऽपूपादिकरणस्थानं तापिका काकपालिका यत्र तैलादिना भक्ष्याः पच्यन्ते, हर्षचरित पर संकेत टीका)।

वप्पा–बाप (देखो आगे ११)।

चतुःसर–चौसर, एक तरह का फूलों का हार।

फुल्लावयिष्यसि–फुलावेगा, फूल उपजावेगा।

❀ कर्तुं लग्नः–करने लगा।

धातुओं की अनंतता, आकृतिगण और उणादि की अक्षय निधि से संपन्न वे विद्वान् जो मा धातु से डियां, डुलक, डौलाना प्रत्यय बनाकर मियां, मुलक, मौलाना सिद्ध कर लेते हैं या हमारे आचार्यदेशीय सुगृहीतनामा सर्वतंत्रस्वतंत्र सतीर्थ्य जो "जयौ जय-

शीलौ ऊरू यस्याः सा जयोरूः = जोरू ( स्त्री ) ” बनाते हैं, उन्हें इन उदाहरणों में कुछ चमत्कार न जान पड़े किंतु ये देशभाषा से गढ़े हुए संस्कृत के उदाहरण हैं । कितना ही बाँध दो, जल तो नीचे की ओर रिसता ही है । देशी शब्द और वाग्धारा संस्कृत के लिये अछूत न थी, संस्कृत में इतना लोच था कि उन्हें अपना लिया करती ।

प्रबंधचिंतामणि में एक जगह ‘आशिष’ शब्द अकारांत काम में लिया है ( मातुराशिषशिखाङ्कुरिताद्य—वस्तुपाल की रचना, पृ० २६९ ), ‘श्वान’ भी (सन्निहितश्वानेन शुण्डादण्डे निहत्य पृ० १८०, --कुक्करस्तु शुनिः श्वान इति वाचस्पतिः, शास्त्री ) । जयमंगल सूरि ‘चातुर्यता’ लिखकर हिंदी के डबल भाववाचक का बीज बोते हैं ( पौरवनिताचातुर्यतानिर्जिता, पृ० १५४ )

कवि श्रीपाल ने सिद्धराज जयसिंह के सहस्रलिंग सरोवर की प्रशस्ति बनाई । उसमें यह श्लोक भी था—

कोशेनापि युतं दलैरुपचितं नोच्छेत्तुमेतत्त्क्षमं
स्वस्यापि स्फुटकण्टकव्यतिकरं पुंस्त्वं च धत्ते नहि ॥
एकोप्येष करोति कोशरहितो निष्कण्टकं भूतलं
मत्वैवं कमला विहाय कमलं यस्यासिमाशिश्रियत् ॥

( कमल में कोश—डोडी और खजाना है, दल—पत्ते और सेना—है, उखड़ नहीं सकता, आप ही इसमें कंटक-कांटे और शत्रु—का उपद्रव है, कभी इसमें पुंस्त्व—पुंल्लिंग और पुरुषत्व—नहीं आता, और सिद्धराज जयसिंह का खड्ग अकेला, विना कोश—मियान-के, भूमंडल को निष्कंटक कर देता है, इस लिये लक्ष्मी कमल को छोड़कर उसीमें चली आई । )

कहते हैं कि इसमें रामचंद्र पंडित ने दो दोष निकाले, एक तो दल शब्द का अर्थ ‘सेना’ भाषा में होने पर भी संस्कृत में नहीं है, दूसरे कमल शब्द पुंल्लिंग और नपुंसकलिंग दोनों ही है । नित्य क्लीव नहीं । इसपर राजा ने सब पंडितों से आग्रह करके ( उपरुध्य ) ‘दल’ शब्द को राजसेना

के अर्थ में प्रमाणित करवाया[1] किंतु लिंगानुशासन में कमल की नित्यनपुंसकता नहीं थी, उसे कौन निर्णय करे ? इस लिये 'पुंस्त्वं च धत्ते न वा' ( पुरुषत्व धारण करता है या नहीं ) यह पाठ बदल दिया ( प्रबंधचिंतामणि, पृ० १५५-६ )। यों संस्कृत के क्षीरसिंधु में भी कोई कांजी का शीकर पहुँच जाता था[2]।

विषयांतर होता है किंतु इस जैन संस्कृत की एक बात की चर्चा बिना किए आगे बढ़ा नहीं जाता। हिंदी में क्रियापदों में लिंग देखकर बहुत लोग चौंकते हैं, 'वह आता है, वह आती है' न संस्कृत में है, न लैटिन में, न अंग्रेजी फारसी आदि में; इससे बहुत से अन्यभाषाभाषी हिंदी सीखने से घबरा उठते हैं। क्रियापदों में लिंग के आने का बड़ा रोचक इतिहास है। धातु के शुद्ध क्रिया-वाचक रूप (संस्कृत तिङन्त) में तो लिंग नहीं होता, धातु से बननेवाले क्रियावाचक विशेषणों ( वर्तमान या भूत कृदंत ) में उनके विशेषण होने के कारण लिंगभेद होता है। हिंदी में केवल 'है' धातु का शुद्ध रूप है, उसमें लिंग नहीं है, और जो पद वर्त्तमान या भूतकाल बताते हैं वे धातुज वर्तमान या भूत विशेषण हैं [ आता है = आता (हुआ) है, आती है = आती ( हुई ) है, करता है, करती है, आता था, आती थी, करता था, करती थी, सं० आयान् (आयान्त्) आयान्ती, कुर्वन् ( कुर्वन्त्, करन्त्), कुर्वन्ती (करन्ती) ] अवश्य ही आज्ञा, विधि क्रिया में लिंग नहीं है क्योंकि वे धातु के ही रूप हैं। इन धातुज वर्तमान और भूत धातुज विशेषणों का क्रिया के स्थान पर काम में आना भाषा के

---

[1] 'दल' का संस्कृत में 'सेना' अर्थ जयसिंह और श्रीपाल ने कराया यह कहना पूजार्थ ही है क्योंकि संवत् १०८३ और ११०७ के बीच में उदयसुंदरी कथा का कर्ता सोड्ढल कायस्थ लिखता है 'ननु कथमसाध्योऽयमरातिरस्मद्दलानाम्'। [ गायकवाड़ ओरिएंटल सिरीज़ नं० ११, पृ० ४ ]

[2] क्या अब यह बंद हो गया है ? आंदोलन, संपादक आदि संस्कृत में अब क्या अर्थ देने लग गए हैं ? कई लोग हिंदी की छाया पर 'आवश्यक्तां प्रगटीकर्तुं' लिखते हैं और संस्कृत साहित्य संमेलन के कर्णधारों के व्याकरण-कषायितोदर मुख से बिना जाने ही कभी कभी 'इयं महिमा' निकल जाता है।

विकाश मेँ एक नया युग प्रकट करता है। वैदिक संस्कृत में भूत काल की क्रिया के तिङन्त रूप ही आते हैँ, स गतः, तेन कृतम्, अहं पृष्टवान् आदि रूप अलभ्य नहीं तो अतिदुर्लभ हैँ। पीछे संस्कृत में ये निष्ठा के रूप क्रिया का काम देने लगे, उनमें विशेषण होने के कारण लिंग भेद भी था। भाषा में बड़ी सरलता आ गई, सः (सा) चकार, अकरोत्, अकार्षीत् की जगह स कृतवान्, सा कृतवती, तेन कृतम्, तया कृतम् से काम चलने लगा। यों भूतकालवाची धातुज कृदन्त को ( Past Participle ), चाहे वह कर्तरि प्रयोग हो चाहे कर्मणि या भावे, विशेषण की तरह रख कर आगे अस्ति (होना क्रिया का वर्तमान काल का रूप) का अध्याहार करके भूतकाल का काम चलाया जाने लगा। आर्ष प्राकृत में कुछ भूतकालिक क्रियापद हैं, पीछे प्राकृत में आसी ( आसीत्-पंजाबी सी ) को छोड़ कर भूतकालिक क्रियां मानो रही ही नहीं, इन्हीं त-वाले विशेष्य-निघ्न शब्दों से काम चला। यह तो पहली सीढ़ी भाषा की सरलता में हुई। संस्कृत और प्राकृत के रचनावैचित्र्य में इससे बहुत सहायता मिली कि वैदिक संस्कृत से प्राकृत और लौकिक संस्कृत मेँ आते आते भूतकालिक क्रिया का काम विशेषण देने लगे, वैयाकरणों की भाषा में 'कृदभिहित आख्यात' हो गया। इसी तरह वर्तमान काल की क्रिया भी केवल अस्ति (होना धातु की) रह कर वर्तमान धातुज विशेषणों का क्रियापद का काम देने लगना दूसरी सीढ़ी है जो प्राकृत से अपभ्रंश या पुरानी हिंदी बनने के समय हुआ। उपजइ, उपजै, करइ, करै यह तो धातु के (तिङन्त) रूप हैं, इनमें लिंग भेद नहीं है, इनका इ ( या मुखसुख का ऐ ) संस्कृत 'ति' और प्राकृत 'इ' है। किंतु उपजता है ( या उपजती है ), करता है ( या करती है ) में 'है' (अहै-अहइ-अस्ति) धातु का रूप है और पहले पद वर्तमान धातुज विशेषण ( Present Participle ) हैं ( उपद्यन्-उत्पद्यन्त-उपजन्त ; उत्पद्यन्ती-उपजन्ती–उपजती ; कुर्वन्-कुर्वन्त-करन्त-करत, कुर्वन्ती-करन्ती-करती )। इस विशेषण के वास्तव रूप के अंत में °अन्त् °अन्ती ही है जो संस्कृत और पुरानी हिंदी

दोनों में स्पष्ट है। उसीका 'अत, 'अती हो जाता है। करतो, उपजतो में 'ओ' 'उ' की जगह है जो पुल्लिंग के कर्ता के एकवचन के चिह्न ( संस्कृत 'स' या ':' ) का अपभ्रंश है।

अब इस विषय को अधिक न बढ़ाकर प्रसंग की बात पर आते हैं कि इस काल की जैन संस्कृत में भी वर्तमान धातुज विशेषण का क्रिया की तरह काम देना पाया जाता है—यथागतं व्रजामीत्यापृच्छन्नस्मि ( प्र.चि.पृ.११ ), नृपस्तस्य सौधमलंकुर्वन् (पृ.५५) वन्दिनः श्रीसिद्धराजस्य कीर्तिं वितन्वन्तः ( पृ. १८२ ) इत्यादि। देश भाषा में सोचनेवाले कवि ने उसकी छाया संस्कृत में पहुँचा दी और संस्कृत की स्थिर भाषा में भी समय की गति का प्रभाव पड़ा। वर्तमान धातुज विशेषण 'होना' क्रिया के वर्तमान के रूप के साथ वर्तमान क्रिया का काम देने लगा और भूतकालिक धातुज विशेषण ( निष्ठा, था-थी, हतो-हती, भयो-भयी ) के साथ भूतकाल का। 'था' और 'हता' अस् (अस्ति) के हैं, और भया भू (भवति) का।

अब प्रबंधचिंतामणि का कुछ पानी[1] देखिए—

( १ )

अम्मणिओ संदेसडओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउं बलिबंधणह मुहिज्ज॥

**पाठांतर**—पुरानी जैन पोथियों में ओ औ को उ उँ लिखते थे। इसके धोखे में आकर छापनेवाले कहीं उ कहीं ओ छाप देते हैं। शुद्ध पाठ छंद की मात्राओं के अनुसार पढ़ना चाहिए। अउ और अइ पुरानी लिखावट है,- उन की जगह ओ और ऐ पिछली, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। इस लिये यहाँ पर अम्मणिअउ, संदेसडउ, डुब्बिअउ, पाठ उचित हैं, पीछे से लेखकों की मुखसुखानुकारी लिखावट से वे अम्मणिओ, संदेसडो, डुब्बिओ हो गए होंगे जो कविता की हिंदी से बहुत दूर नहीं हैं। ऐसे ही जैन पोथियों में 'स्थ' 'च्छ' 'ज्झ' 'ब्भ' 'त' 'भ' सदृश लिखे हुऐ मिलते हैं, अतएव ऐसे पाठांतर कोई

---

[1] हिंदी में पानी मोती की ओप के लिये ही आता है किंतु गणरत्नमहोदधि में वर्धमान ने एक उदाहरण 'भुजंगमस्येव मणिः सदंभाः' देकर मणि के लिये भी अंभः ( पानी ) का प्रयोग दिखाया है।

पाठांतर नहीं हैं, पुरानी लिपि के ठीक ठीक न पढ़ने से उपजे हुए भ्रममात्र हैं। शास्त्री तथा टानी के संस्करणों में जो पाठांतर दिए हैं उनमें से हमने यहाँ कुछ दे दिए हैं,—नारायणह कहिज्ज, जगु, दुत्थिउ (दुच्छिउ)। परसवर्ण नियम वैकल्पिक होने से हमने कहीं कहीं अनुस्वार का प्रयोग किया है और ह्रस्व दीर्घ को अधिक बदला नहीं।

**अर्थ**—एक समय विक्रमादित्य रात को नगर में घूम रहे थे कि एक तेली को उन्होंने यह आधा दोहा पढ़ते सुना कि 'हमारा संदेसा तारनेवाले (तारक) कान्ह (पाठांतर में नारायण) को कहना'। राजा बहुत देर तक ठहरा रहा कि देखें आगे क्या कहे किंतु उत्तरार्द्ध न सुन कर लौट आया। सवेरे दरबार में बुलाए जाने पर तेली ने दोहा यों पूरा किया,—'जग दारिद्र्य में डूब रहा है, बलिबंधन को छोड़ दीजिए'। दैत्य बलि बड़े दानी थे जिन्हें नारायण ने बाँध कर पाताल में भेज दिया था। यदि तेली की प्रार्थना पर तारक कान्ह उसके बंधन छोड़ देते तो जग दारिद्र्य से उबर आता। बलि का अर्थ राजकर भी होता है। राजा कदाचित् यह समझ रहा हो कि तेली मेरी बड़ाई में कुछ कहेगा किंतु वह तो राजा को ताने से सुना रहा है कि हम तो दारिद्र्य में डूब रहे हैं और बलिबंधन (करों का बोझ) छुड़ाने की प्रार्थना करते हैं। टानी ने पूर्वार्द्ध का अर्थ किया है 'हमारा राजा वास्तव में नारायण कहलाने योग्य है', और उत्तरार्द्ध के लिये शास्त्री तथा टानी दोनों कहते हैं कि 'बलिबंधन नहीं छोड़ा गया'। संदेसडउ का अर्थ टानी ने राजा कैसे किया यह चिंत्य है। 'बलिबंधणह' को 'बलिबंध ण ह' पढ़ने से उत्तरार्द्ध का यह अर्थ हो सकता है कि 'बलिबंध न छोड़ा गया' किंतु कहिज्ज (कहीजै, कहजै, कहिए) के साथ से मुहिज्ज का अर्थ छोड़िए ही ठीक है, छोड़ा गया (मोचित) नहीं।

**विवेचन**—**अम्मणिअउ**-अम्हणिअउ, सं० अस्मानं (!), अस्मनीय (!); आगे **अम्हीणा**=हमारा आवेगा। 'ण' (सं० नाम्) संबंध कारक का है (प्रा० अम्हाणं), गीतों की पंजाबी में ण का ड हो गया है मैंडा, तैंडा। **संदेसडउ**-जैसे संस्कृत में अल्प, अज्ञात, कुत्सित, स्वार्थ में 'क' आता है वैसे पुरानी हिंदी में 'ड' या 'डल' आता है, जैसे, मोर-मोरडो,

नींद-नींदडली ( मारवाड़ी ), रत्ति ( रात )-रत्तिड़ी, आदि । **तारय**-तारक ( को )। **कन्ह**-कृष्ण, कन्ह, ब्रजभाषा का कान्ह । **कहिज्ज**-विधि, प्रेरणार्थक, और कर्म वाच्य में जहां जहां संस्कृत में 'य' आता है वहां 'ज' या 'ज्ज' आता है, जैसे, मरीजै ( मरा जाय ), करीजै ( किया जाय, महाराज कहँ तिलक करीजै,—तुलसीदास ), कहज्ये ( राजस्थानी )-तू कहना, लिखीज गयो ( मारवाड़ी ) लिखा गया; दीजिए ( दिज्जिय, दीजै, दिज्जै ) पहले कर्मवाच्य प्रयोग था, पीछे कर्तृवाच्य हो गया । **दालिद्दिहि**-मिलाओ ग्राम्य दलिद्दर, दलिद्दरी । **डुब्बिअउ**-संस्कृत धातु ब्रुड है जो देशी से बनाया जान पड़ता है, हिंदी में डूबना, बूड़ना दोनों रूप हैं, व्यत्यय का उदाहरण है । **दुत्थिअउ**-दुःस्थित । **मुहिज्ज**-छोड़िए, छोड़ा जाय, देखो ऊपर, कहिज्ज । शास्त्री इसका अर्थ 'मोचित' ( छोड़ा गया ) करते हैं ।

## (२)

कच्छ के राजा लाषाक[1] को कपिलकोटि के किले मैं मूलराज ने घेर लिया । लाषाक (लाखा) बहुत से बोधवाक्य कह कर रणभूमि में उतर आया और वीरता दिखा कर काम आया । उन बोधवाक्यों में से एक यह दिया है—

ऊग्या ताविउ जहिं न किउ लक्खउ भणइ निघट्ट ।
गणिया लब्भइ दीहडा के दहक अहवा अट्ठ ॥

---

[1] यह कच्छ का प्रसिद्ध राजा लाखा फूलाणी [ फूल का पुत्र था ] जिसका नाम धनाढ्यता तथा उदारता के लिये प्रसिद्ध है। यह जाडेचा जाति के चंद्रवंशी यादवों में से था । मूलराज के हाथ से इसकी मृत्यु का काल पुरानी गुजराती कविता के अनुसार कार्तिक शुक्ल ८ शुक्रवार शक संवत् ९०१ [ वि० सं० १०३६=ई० स० ९८० ] है। कन्नौज के राठौड राजा जयचंद के पोते या पड़पोते सियाजी का मूलराज की कन्या से विवाह होना तथा इसके प्रत्युपकार में सियाजी का लाखा फूलाणी को मारना आदि कथा अप्रामाणिक है क्योंकि सियाजी के दादा या पड़दादा जयचंद का समय वि० सं० १२५० [ ई० स० ११९३ ] है। उससे सियाजी का समय वि० सं० १३०० के पीछे आना चाहिए। उस समय लाखा तथा मूलराज को हुए तीन सौ वर्ष हो चुके थे । [ देखो पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का लेख 'लाखा फूलाणी का मारा जाना' समालोचक [ जयपुर ] जनवरी फरवरी, १९०४ ] । मूलराज का राज्याभिषेक वि० सं० १०१७ में होना प्रामाणिक है ।

इस दोहे को यदि कुछ नई लिखावट में बदल कर लिख दें तो यह इतना बेगाना नहीं जान पड़ेगा—

ऊग्याँ तापित जेहि न किय लक्खो भणै निघट्ट ।
गिण्या लब्भै दीहडा कै दहक अहवा अट्ठ ॥

**अर्थ**—(जिस) उदय पाए हुए (पराक्रमी वीर) से (शत्रु) तापित न किए गए, न तपाए गए, तो कुशल लक्खा कहता है कि (उसे जीने के) गिने हुए दिन ही मिलते हैं, या दस या आठ। यदि वीरता न दिखा कर पड़ा रहे तो कितने एक दिन जी लेगा ? उम्र के थोड़े से दिन । एक न एक दिन तो मरना है ही । इससे अच्छा है शत्रुओं को लोहा चखा कर मर जाय ।

**ऊग्या**-उगे हुए से, उदित से, या उदित होने पर । **ताविउ**-तापित । **निघट्ट**-कुशल ( हेमचंद्र, देशीनाममाला, णिग्घट्ट ४ । ३४ ) । शास्त्री कहते हैं निकृष्टः ( ! ) । **दीहड़ा**-दिन, देखो ( १ ) की टिप्पणी में संदेसडो । पंजाबी ध्याड़ा ( दिहाड़ा ) = दिन, धन्न धियाडो धिन घड़ी ( ऊमा झीमा की कविता, मारवाड़ी ) । **कै**-या, कै तापस तिय कानन जोगू ( तुलसीदास ) । **दह**-दस, मिलाओ चौदह । **अहवा**-अथवा । शास्त्री और टानी दोनों के अनुवाद अशुद्ध हैं ।

( ३ )

मालवा के राजा ( परमार ) मुंज का राजकार्य तो रुद्रादित्य नामक मंत्री देखता था, और मुंज किसी स्त्री पर आसक्त था । रात ही रात में चिरकिल नाम के ऊँट पर चढ़ कर उसके पास बारह योजन चला जाता और लौट आता । कुछ दिन पीछे मुंज ने आना जाना छोड़ दिया तो उस खंडिता ने मुंज को यह दोहा लिख भेजा—

मुंज षडल्ला दोरडी पेक्खेसि न गम्मारि ।
आसाढि घण गज्जीइँ चिक्खिलि होसेऽवारि ॥

**पाठांतर**—जै गम्मारि ।

**अर्थ**—मुंज, ( प्रेम की ) डोरी ढीली हो गई है, खसक गई है, गंवार ! तू नहीं देखता कि आषाढ़ में घन ( मेघ ) गरजने पर अब ( भूमि ) फिसलनी हो जायगी ।

शास्त्री ने अर्थ किया है कि 'आषाढ़ का (आषाढीय) घन गरजता है' किंतु आषाढि का 'इ' अधिकरण कारक है, और गज्जीइँ वर्तमान काल ही नहीं, किंतु वर्तमान धातुज विशेषण (गरजता हुआ) की भावलक्षण सप्तमी भी जान पड़ती है। आगे शास्त्री कहते हैं कि 'तेरे विरह से उपजनेवाले अश्रुओं की धाराओं से फिसलनी जमीन पर कैसे आओगे इति दिक्' किंतु यह दिशा नहीं, दिशाभूल है। सीधी बात यह है कि गर्मियों में डोरी सूख जाय या ढीली हो जाय तो बरसात में मुलायम होकर तनती है (आन गाँठ घुलि जात त्यों मान गाँठ छुटि जात—बिहारी) सो बरसात होने पर तो तुम्हें बिना आए सरेगा ही नहीं, नाक के बल आओगे, किंतु फिसलनी जमीन में ऊँट कैसे चलेगा? इसलिये अभी से आते रहो। बरसात में ऊँटों को चलने में कष्ट होता है जैसा कि एक मारवाड़ी दोहा है—

ऊँटां टेघां टेरडां गुड गाडर गाडांह।
सारा दोहरा आवशी मैंडक बोल्यां नाडांह॥

(ऊँट, बकरे, बैल, गुड़, भेड़, और गाड़े, ये सब कठिनाई से आवेंगे मैंडकों के नाडियों (तलैयाओं) में बोलने पर। **आं, आंह**-कर्ता का बहुबचन, **दोहरा**- (सं०) दुष्कर, **बोल्यां नाडांह**-भाव लक्षण (सप्तमी) **खडल्ला**-(सं०) स्खलिता, (?) सूखी, खड़खड़ाती। **डोरडी**-डोरी, देशी से गढ़ा हुआ संस्कृत दवरकी; पद्धतियों में **डोरक**-संस्कृत ही बन गया है। बाण के हर्षचरित में 'डोर' पद आया है जिसका अर्थ संकेत टीकाकार ने 'कटिसूत्र' किया है। (देखो, ऊपर पृ. २७) **पेक्खिस्सि**-(सं०) प्रेक्षसे, पंजाबी में अव-ईक्ष अभी देखने के अर्थ में है, तू वेख, वह वेखदा है। **गम्मारि**-गँवार। **आसाढि**-छंद के लिये 'इ' को दीर्घ पढ़ो। **गज्जीइं**-सं० गर्जति, या गर्जत्सु, ऊपर व्याख्या देखो। **चिक्खलि**-कीचड़ली, फिसलनी, पंजाबी चिफली (संस्कृतपिच्छिल का व्यत्यय) हेम० देशी० ३। ११ चिक्खल्ल। **होसे**-मिलाओ, गुजराती मारवाड़ी होशे। **अबारि**= राजस्थानी अबार (= अब)।

## (४)

तैलिंग देश के राजा तैलप (कल्याण के सोलंकी तैलप दूसरे) की छेड़छाड़ पर मुंज ने उस पर चढ़ाई की। मंत्री रुद्रादित्य ने मुंज

को रोका और समझाया कि गोदावरी के उस पार न जाना किंतु मुंज तैलप को पहले छै वार हरा चुका था, इसलिये उसने मंत्री की सलाह की उपेक्षा की। रुद्रादित्य ने राजा का भावी अनिष्ट समझ और अपने को असमर्थ जान चिता में जल कर प्राण दे दिए।[1] गोदावरी के पार मुंज की सेना छलबल से काटी गई और तैलप मुंज को मूँज की रस्सियों से बंदी करके ले गया। वहां उसे लकड़ी के पिंजड़े में कैद रक्खा। तैलप की बहन मृणालवती से मुंज का प्रेम हो गया। एक दिन मुंज काच में मुंह देख रहा था कि मृणालवती पीछे से आ खड़ी हुई और मुंज के यौवन और अपनी अधेड़ उमर के विचार से उसके चेहरे पर म्लानता आ गई। यह देख मुंज ने यह दोहा कहा—

मुंज भणइ मुणालवइ जुव्वण गयुं न झूरि।
जइ सक्कर सय खंड थिय तो इस मीठी चूरि॥

**अर्थ**—मुंज कहता है, हे मृणालवति! गए हुए यौवन को (का) सोच मत कर, यदि शक्कर के सौ टुकड़े हो जाँय तो वह चूरी (चूर्ण की हुई) भी मीठी होती है।

**भणइ**—भणै, कहै (सं० भणति)। **मुणालवइ**–स्वर ऋ कि 'उ' श्रुति देखो। **जुव्वण**—जोबन, यौवन। **गयुं**—गयो (कर्मकारक)। **झूरना**—पछताना, विलाप करना। **जइ** (सं० यदि, हि० जे)। **सय**—शत। **थिय**-वर्तमान 'था' का स्त्री-लिंग, सं० स्थित, थी; गुजराती थई। **इस**—यह।

बीकानेर के राजा पृथ्वीराज की रानी चाँपादे ने पति को अपने धौलों (श्वेत केशों) पर पछतावा करते देख ऐसे ही दोहे कहे थे—नरां नाहरां डिगमरां पाकां ही रस होय,…नरां तुरंगां बन फलां पक्कां पक्कां सात्र (महिलामृदुवाणी)।

(५)

रुद्रादित्य तो मर गया था। वह उदयन—वत्सराज के मंत्री यौगंधरायण की तरह अपने स्वामी को बचाने के लिये पागल का वेश धर के नहीँ पहुंचा किंतु मुंज के कुछ सहायक तैलप की राजधानी

---

[1] —देखो पत्रिका भाग १ पृ० ३२५-३१।

में पहुँच गए । उन्होंने बंदीगृह तक सुरंग लगा ली । भागते समय मुंज ने मृणालवती से कहा कि मेरे साथ चलो और धारा में रानी बन कर रहो । उसने कहा कि गहनों का डब्बा ले आती हूँ किंतु, यह सोच कर कि यह मुझ अधेड़ को वहां जाकर छोड़ दे तो न घर की रही न घाट की, उसने सब कथा अपने भाई से कह दी । वत्सराज की तरह घोषवती वीणा और वासवदत्ता को ले कर निकल जाना तो दूर रहा, मुंज बड़ी निर्दयता से फिर बाँधा गया । उससे गली गली भीख मँगाई गई । उसके विलाप की कविता मैं कई श्लोकों के साथ कुछ पुरानी हिंदी कविता भी है जिसकी यहां चर्चा की जाती है । टानी कहते हैँ कि छपी पुस्तक में कई प्राकृत काव्य इस प्रसंग के नहीं दिए हैँ जो एक प्रति में हैँ । संभव है कि उनमैँ कुछ और हिंदी कविता रही हो ।

सउच्चित्तहरिसट्ठी मम्मणह बत्तीस डीहियां ।
हियम्मि ते नर दड्ढ सीझे जे वीससइ थियां ॥

**पाठांतर**—चित्तहसट्ठी मणह, अस्सी ते नर, हरिसट्ठी मम्मणछत्ति, हिअम्मि, पंचासडीहिया, हियम्मी, सिय जे पत्तिज्जइ तांह, अम्मी सीजै, पंतिठवइ तियांह ।

**अर्थ**-सब ( के ) चित्तों को हर्षित करने ( या हरने ) के अर्थ प्रेम की बातें बनाने में चतुर स्त्रियों में जो विश्वास करते हैं वे नर हृदय में बहुत दुःख पाते हैं । पाठांतरों से इस दोहे के कई रूपांतर हों यह जान पड़ता है । जे पत्तिज्जइ तांह ( जो पतीजते हैँ उन्हें या उनमें ) से जान पड़ता है कि पूर्वार्द्ध का अंत और तरह भी रहा हो । 'मम्मणह बत्तीस' का अर्थ कामदेव की बातें किया जाता है, किंतु पाठांतरों में छत्ति( स ), पञ्चास, मिलने से संभव है कि यह बत्तीस भी संख्या हो और इसमें स्त्रियों के पुरुषों को मोहन करने की कलाओं की परिसंख्या हो, जैसे नाई को **छत्तीसा** या **छप्पन्ना** कहते हैँ । छप्पन्ना का अर्थ, ५६ कलायुक्त नहीं, किंतु छै बुद्धि वाला ( सं० षट्प्रज्ञ ) है, षट्प्रज्ञ बुद्ध की उपाधि भी है ।

**सउ**—सब, राजस्थानी सै, सौ, मारवाडी सँग ( हैंङ )। **हरिसट्टी**—हर्ष + अर्थ, या हर ( ण ) + सार्थ, राजस्थानी साठे = हाठे = आठे या आटे = वास्ते, मराठी साठीं = लिये । **मम्मणह**—मन्मथ = कामदेव, या मणमण करना, महीन महीन बातें (चोचले), ह = का। **बत्तीस**—बातों में। **डीहियाँ**—चतुरों (सं० दक्ष) में, गुजराती मारवाड़ी डाह्या, डीहि = दीर्घ, बढ़ीचढ़ी, मिलाओ सं० दीर्घिका (वावडी ) = हिं० दिग्घी, डिग्गी डीघी । **हियम्मि**-सं० स्मिन् और हिं० में के बीच में 'म्मि' है। **दड्ढ**—दग्ध। **सीझे**—दुःख पाता है । राजस्थानी। **सीझना**=गलना या पकना (दाल का) सं० सिध्यति से है, संभव है कि यहां पाठ **खीझे** हो जो सं० खिद्यति से है । **वीससइ**-विश्वास। करते हैं । **पत्तिज्जइ**-पतीजते हैं, पतियाते हैं, प्रत्यय करते हैं, सहसा जनि पतियाहु ( तुलसीदास ), पंजाबी में पतियाने का अर्थ मनाना या रिझाना भी है । **पंतिस्वइ**-केवल पत्तिज्जइ का लेखप्रमाद है, अनुस्वार पर आगे टिप्पणी देखो । **थियाँ, तियाँह**—स्त्रियों में ।

( ६ )

झाली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छारपुंज ।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मङ्कड तिम मुंज ॥
[ कुछ बदला हुआ रूप आधुनिक हिंदी का सा—
जलि टूटि किमि न मुआ, किम न हुयो छरपुंज ।
हिंडै डोरी बांधियो जिमि मङ्कड तिमि मुंज ॥ ]

**पाठांतर**—झोली तुट्टि वि किं न कउ, मुयउ, छारहपुंज, घरि घरि तिम्म नचावइ जिम, तुटवि, झोली त्रुटी, हूयउ ।

**अर्थ**—( आग में ) जल कर या ( फांसी की रस्सी ) टूट कर ( मैं ) क्यों न मरा ? राख का ढेर क्यों न हुआ ? डोरी से बँधा हुआ जैसे बंदर घूमता फिरता है वैसे मुंज ( फिरता है ) । पाठांतरों में—झोली ( फांसी का फंदा ) टूट कर भी कुछ न किया,...घर घर वैसे नचाया जाता है जैसे···।

**झाली**-जलकर सं० ज्वल, राजस्थान में आग की लपट ( ज्वाला ) को झाल या झल कहते हैं । **तुट्टी, तुटवि**-तूट (टूट, सं० त्रुट) कर। **मुअउ**-मृत (हुआ) , ऐसे ही **हुयउ**-हुआ । **किँ**-क्यों । **छार**—मात्रा के लिये **छर** पढ़ो, **छार** और **राख** दोनों भस्म के अर्थ में एक ही देशी पद के व्यत्यय हैं, सं० क्षार (खारा) से केवल सादृश्य है, राख से संस्कृत **रक्षा** बनाया गया है । **हिंडइ** =

सं० हिंडति, घूमता है, पंजाबी हंडना = भटकना, जैसे गलियां दा हंडना छड़ि देइँ कान्हा, हुण होया तू घरबारी (गीत—कान्ह ! तुम गलियों का भटकना छोड़ दो, अब तुम गृहस्थी हो गए हो, हुण = सं० अधुना) **दौरी**—देखो ऊपर (३)। **मंकड**-सं० मर्कट । पुराने लेखक द्वित्व वाला अक्षर बताने के लिये दुबारा अक्षर (युक्त) लिखने के परिश्रम से बचने के लिये अक्षर पर अनुस्वार के सदृश बिंदी लगा दिया करते थे, वही कई शब्दों में लेखक-भ्रम से 'न' श्रुति हो गई, जैसे, सं० मर्कट-प्रा० मक्कड (लिखा गया) मंकड-भ्रम से मङ्कड, सं० खड्ग-प्रा० खग्ग-खंग, हिंदी खड्ग, ऊपर (५) में पतिज्जइ का पंतिज्जइ, सं० अत्यद्भुत-प्रा० अच्चम्भुअ-अच्चंभुअ-हिं० अचम्भा, इत्यादि ।

[पूर्वकालिक क्रिया के रूपों पर टिप्पण—संस्कृत वैयाकरणों ने त्वा (गत्वा, कृत्वा) को पूर्वकालिक की प्रकृति और य (सत्कृत्य, संगत्य) को धातु के पहले उपसर्ग आने पर विकृति माना है, किंतु पुरानी संस्कृत में यह भेद नहीं है। 'अकृत्वा' और 'गृह्य' दोनों मिलते हैं। वेद में 'कृत्वाय' मिलता है और पाली में 'छित्वान' और 'कातून'। अतएव पांच तरह के रूप हुए, कृत्वा, कृत्वाय, कृत्वान, कर्तून, कर्य (कृत्य)। सूक्ष्म विचार से ये अव्यय नहीं किंतु 'तु' अंतवाले धातुज शब्द के तृतीया और चतुर्थी के रूपों के से जान पड़ते हैं, कृत्वा = कृतु से, करने से = कर कर, इत्यादि । प्राकृत में 'त्वा' बिलकुल नहीं है, 'य' है या पाली वाला 'त्वान' 'तून' जो 'तूण' या 'ऊण' होता हुआ मराठी घेऊन, म्हणून तक पहुँच गया है और मारवाड़ी में करीनै, लखीनै में रहा है। पुरानी हिंदी अर्थात् अपभ्रंश में 'पेक्खिवि' 'बोल्लिवि' आदि आते हैं। वहां भी य = इय = इ है। हिंदी में 'य' 'इ' के रूप में आया है (आइ, सुनि = आय्य, सुन्य = * सं० आयाय्य श्रुण्य (?), अब 'इ' भी उड़ गया है, और कर धातु के पूर्वकालिक का अनुप्रयोग होता है जैसे खा कर = (पु० हिं०) खाइ करि = पंजाबी, खाई करी = सं० * खाद्य कर्य (!)।

(७)

गय गय रह गय तुरग गय पायकडा निभिच्च ।
सग्गट्ठिय करि मन्तण उम्मुहुं (ता ?) रुदाइच्च ॥

**पाठांतर**—पायकडा, ठकुर रुदाइच्च, उंमुऊ, मतणु महता ।

**अर्थ**— ( जिसके ) गज, रथ, घोड़े और पैदल चले गए हैं, जो बिना नौकर के है (ऐसे मुझ को) हे स्वर्गस्थित रुद्रादित्य ! बुला ले । मैं तुम्हारी ओर मुंह किए हुए हूँ ।

**गय**-गत, 'गए' । **गय**-गज । **रह**-रथ । **तुरय**-तुरग । **पायक्कडा**-डा के लिये ( १ ) में संदेसडो की टिप्पणी देखो । **पायक**–पैदल, पदाति, पद्ग, पाजी ( पुराना अर्थ ), जाके हनूमान से पायक ( तुलसीदास )। **निभिच्च**-निभृत्य । **सग्गठ्ठिय**-स्वर्गस्थित। **करि**-करु ( आज्ञा )। **मन्तण**- ( आ ) मंत्रण, बात करना, बुलाना । **उम्मुह**-उन्मुख । **रुद्राइच्च**-रुद्रादित्य ।

( ८ )

मुंज गलियों में माँगता फिरता था । पहले कैदियों का यों अपमान किया जाता था । हाथ में उसके पडुआ ( पत्तों का दौना ) था । किसी स्त्री ने छाछ पिला दी और घमंड से सिर मटका कर भीख न दी । मुंज बोला—

भोलि मुन्धि मा गव्वु करि पिक्खिवि पडुगुपांइ ।
चउदसइ सइं छहुत्तरइं मुञ्जह गयह गयाइं ॥

**पाठांतर**-धनवन्ती म गव्वु, पंडुरुआइ, पट्टकरुपाणि, पडुकयाणि, पडुकरुपाणि, चउदसइ, छउत्तर ।

**अर्थ**—हे भोली, हे मुग्धे, ( पाठांतर में–हे धनवंती ) मत गर्व कर, मुझे हाथ में पडुग लिए देखकर ; चौदह सौ छिहत्तर मुंज के हाथी (चले) गए ।

**मुंधि**-सं० मुग्धा, मारवाड़ी में मोंधा मूर्ख को कहते हैं । यह 'न' भी सं० मुग्ध, प्रा० मुध्ध के द्वित्वसूचक चिह्न से बना है, देखो ( ६ ) में मंडड की व्याख्या । **पिक्खिवि**—पेखकर । **पडुगु**-पडुआ, पत्तों का दोना, या भीख मांगने का मिट्टी का पात्र । **पांइ**-पाणि, हाथ । **सइँ**-सै. सौ । **चउदसइ, सइ, छहुत्तरइं, गयाइं**-में इं कर्ताकारक का नपुंसक का बहुबचन ( सं० नि ) है और **मुंजह, गयह**-में ह संबंध कारक का है ।

( ९ )

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न वेढइ कोइ ॥

**अर्थ**—जो मति पीछे सँपजती ( होती ) है वह मति पहली होय तो मुंज कहता है कि हे मृणालवति ! कोई विघ्न नहीं घेरे ।

**जा सा**-जो सो ( स्त्रीलिंग ) । **संपज्जइ**-सं० संपद्यते, सं + पद् = संपजना, उद् + पद् = उपजना, निस् + पद् = निपजना । **वेढइ**-घेरता है, पंजाबी वेढा, घिरा हुआ मकान, जनाना, वेढ़ी पूरी—बीच में कचौरी की तरह भरी हुई। शास्त्री का अर्थ है—विघ्न को कोई नहीं बहता ( उठाना ), टानी का 'कोई ( मेरे मार्ग में ) विघ्न नहीं डालता' ।

( १० )

सायर षाई लंक गढ गढवइ दससिरि राउ ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ ॥

**अर्थ**—सागर खाई, लंका गढ़ और दससिर राजा (रावण) गढ़पति—भाग्य का क्षय होने पर वही तहस नहस हो गया, (तो) हे मुंज, विषाद मत कर ।

**गढवइ**-गढपति, मिलाओ चक्रपति-चक्कवइ-चक्कवै । **भज्जिगय**-टूट गया, 'भांज गढ़' वाला √भंज धातु; संस्कृत में भग्न का अर्थ टूटा या हारा होता है, उसी से हिंदी √भागना बना, आगे देखो 'अह भग्गा अम्हइत्तणा' आदि ।

[ **राजा मुंज, पुरानी हिंदी का कवि**—धार के परमार राजा मुंज ( वाक्पतिराज द्वितीय, उत्पलराज, अमोघवर्ष, पृथ्वीवल्लभ अथवा श्रीवल्लभ ) ने कल्याण के सोलंकी राजा तैलप दूसरे पर चढ़ाई की और तैलप ने उसे हराकर निर्दयता से मारा—यह तो ऐतिहासिक सत्य है क्योंकि चालुक्यों के दो लेखों में इस बात का साभिमान उल्लेख किया है । मुंज के मंत्री का नाम रुद्रादित्य था, यह उसी के वि० सं० १०३६ (सन् ९७९ ई०) के दानपत्र से प्रकट है । मुंज का प्रथम दानपत्र सं० १०३१ का है और उसकी मृत्यु उसके राजकाल में अमितगति-से सुभाषितरत्नसंदोह के पूर्ण होने के संवत् १०५० और तैलप की मृत्यु के संवत् १०५५ के बीच में होनी चाहिए । यों राजा मुंज विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी के दूसरे चरण में था । ( मुंज तथा भोज के कालनिर्णय के लिये देखो ना० प्र० पत्रिका, नवीन संस्करण, भाग १, अंक २, पृष्ठ १२१-५, और गौ०

ही० श्रोझा, सोलंकियां का इतिहास, प्रथम भाग, पृ० ७६-८०)। प्रबंधचिंतामणि में लिखा है कि मारे जाने के समय मुंज से कहा गया कि अपने इष्ट देवता का स्मरण करो तो उसने कहा 'लक्ष्मी गोविंद के पास चली जायगी, वीरश्री वीरों के घर चली जायगी किंतु यशःपुंज मुंज के मरने पर सरस्वती निरालंब हो जायगी'। चाहे यह मुंज की रचना न होकर उस समय के किसी कवि की हो किंतु इसमें संदेह नहीं कि वह विद्या श्रौर विद्वानों का अवलंब था। उसके समय में जैसा ऊपर कहा जा चुका है अमितगति ने सुभाषितरत्नसंदोह बनाया। सिंधुराज के कीर्तिकाव्य नवसाहसांकचरित का कर्ता पद्मगुप्त, धनपाल, दशरूप का कर्ता धनंजय श्रौर उसका टीकाकार धनिक उसके आश्रित थे। पिंगलसूत्र का टीकाकार हलायुध उसीके समय में था। प्रबंधों में श्रौर सुभाषितावलियों में मुंज के बनाए कई श्लोक दिए हैं श्रौर क्षेमेंद्र ने, जो मुंज के ५० वर्ष ही पीछे हुआ, उसका एक श्लोक उद्धृत किया है। अब यह प्रश्न उठता है कि जिन दोहों की व्याख्या हम कर चुके हैं वे क्या स्वयं मुंज के बनाए हैं? हमारे दसवें दोहे की व्याख्या में शास्त्री कहते हैं कि यह 'रिपुनारी वाक्य' है, किंतु इसमें मुंज ने अपने ही को संबोधन किया हो तो क्या आश्चर्य है? प्रबंधचिंतामणिकार के समय (सं० १३६१) तक तो यह ऐतिह्य था कि ये दोहे मुंज के हैं। जो श्लोक दूसरे कवियों के बनाए जाने गए हैं श्रौर इन प्रबंधकारों ने दूसरे कवियों या राजाओं के सिर मढ़ दिए हैं उनके कारण ऐसे प्रसिद्ध दोहों पर संदेह नहीं किया जा सकता। ऐसे दोहे दंतकथाओं में रह जाते हैं श्रौर दंतकथाओं को छोड़कर उनकी रचना के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। बीकानेर के पृथ्वीराज ने राणा प्रताप को सोरठे लिख भेजे, मानसिंह को अकबर ने 'सभी भूमि गोपाल की' वाला दोहा लिख भेजा, नरहरि कवि का 'अरिहु दंत तृन गहहिं' वाला छप्पय अकबर के सामने पेश किया गया, 'ब्रह्म भनै सुन शाह अकब्बर' आदि दोहे बीरबल ही के हैं, हुलसोवाली उक्ति प्रत्युक्ति

खानखाना और तुलसीदास के बीच में हुई थी, इत्यादि बातों का ऐतिह्य को छोड़कर और क्या प्रमाण है ? वही प्रमाण यह मानने को है कि ग्यारहवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में, प्रसिद्ध विद्याप्रेमी भोज का चाचा, परमार राजा मुंज पुरानी हिंदी का कवि भी था। एक प्रमाण और है—हेमचंद्र के व्याकरण में जो अपभ्रंश के उदाहरण दिए हैं उनमें एक दोहा यह है—

बाह बिछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवँइ को दोसु ।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु ॥

अर्थात् बांह बिछुड़ा कर तू जाता है (या जाती है), मैं भी वैसे ही (जाता हूँ या जाती हूँ) (इसमें) क्या दोष है ? हृदय (में) स्थित यदि (तू) निकले तो, मुंज (कहता है कि, मैं) जानूँ (कि तू) सरोष है। चौथे चरण का यह अर्थ भी हो सकता है कि 'तो मैं जानूँ कि मुंज सरोष है'। दूसरा अर्थ सीधा जान पड़ता है किंतु मुंज की कविताओं में नाम देने की चाल देखकर पहला अर्थ भी असंभव नहीं है। यह दोहा हेमचंद्र के पहले का है। इससे दो ही परिणाम निकाल सकते हैं। एक तो यह कि सूरदास (?) के—

बाँह छुड़ाए जात हो निबल जान के मोहि।
हिरदे से जब जाहुगे तो मैं जानौं तोहि ॥—

इस दोहे के पितामह 'बाह बिछोडवि' आदि दोहे का कर्ता राजा मुंज था और यह मुंज के नाम से अंकित दोहा सं० ११९९ (कुमारपाल की गद्दीनशीनी का समय जिसके पहले तो हेमचंद्र का व्याकरण बन चुका था) से पहले प्रचलित था। दूसरा यह कि यदि दूसरा अर्थ मानें तो जिस नायिका ने फिसलनी भूमि वाला दोहा (ऊपर, संख्या ३) मुंज को लिखा था उसीकी कृति यह भी हो। दोनों अवस्थाओं में या तो मुंज को कवि मानना पड़ेगा या इन दोहों को उसके समय का बना मानना पड़ेगा। कम से कम यह तो मानना होगा कि यह दोहा सं० ११९९ (रासो के कल्पित समय से

५० साल पहले ) से किसी समय पहले की रचना है जिसे उस समय या तो स्वयं मुंज का रचित या किसी से मुंज को प्रेषित माना जाता था। ]

( ११ )

भोज के यहाँ एक सरस्वतीकुटुंब आया जिसकी सूचना भोज के सेवक ने एक संस्कृत-देशी की खिचड़ी का श्लोक बनाकर दी—

बापो विद्वान् बापपुत्रोऽपि विद्वान्
आइ विउषी आईधुआपि विउषी ।
काणी चेटी सापि विउषी वराकी
राजन् मन्ये विज्जपुञ्जं कुटुम्बम् ॥

बाप भी विद्वान् है, बाप का पुत्र भी विद्वान् है, मा पंडिता है, मा की बेटी भी विदुषी है, बेचारी कानी दासी है वह भी विदुषी है, राजन् ! मानता हूँ यह कुटुंब विज्ञों का पुंज है ।

**बाप**-पिता, यह देशी है किंतु हेमकोश के शेषकांड में संस्कृत माना गया है। प्रबंधचिंतामणि में इसका संस्कृतीकृत रूप वप्तृ (वप्ता—बीज बोनेवाला) भी आया है (पृ० ३०१) (देखो पत्रिका, भाग १ अंक ३ पृष्ठ २४६ टिप्पण १६)। **आई**—माता (मराठी)। **धुआ**—बेटी, सं० दुहितृ, पंजाबी धी। **विज्ज**—विज्ञ ।

**पाठांतर**-वप्पो, विद्वी, विध्री, विदुसी, विज्ञ, विद्द, केवल लेखप्रमाद हैं।

( १२ )

राजा ने उनमें से ज्येष्ठ की पत्नी को समस्या दी—कवण पियावउ खीरु ? उसने यह पूर्ति की—

जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु ।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउ खीरु॥

**पाठांतर**-जेइ ।

**अर्थ**—जब यह रावण दस मुँह और एक शरीर वाला जनमा तो माता अचंभे में आकर सोचती है कि कौन ( से मुख ) को दूध पिलाऊँ ?

**जाईयउ**-जाये। **वियम्भी**-विस्मिता। **चिंतवइ**-चिंतवै। **कवणु**-कौन। **पियावउ**-पियाऊँ। **खीर**-सं० क्षीर, दूध, सिंधी खीर अस्थि ? दूध है क्या ?।

( १३ )

दूसरी समस्या दी—कंठि विलुल्लइं काउ ? इसकी पूर्ति कानी चेटी ने यों की—

काण वि विरहकरालिइं पइ उड्डावियउ वराउ ।
सहि अच्चभूउ दिट्ठ मइं कण्ठि विलुल्लइ काउ ॥

**पाठांतर**-अच्चिभू । 'अच्चब्भुअ' ठीक होता ।

**अर्थ**-किसी विरह से दुखिया स्त्री ने खिझकर विचारे पति को उड़ा दिया । हे सखि ! मैंने यह अति अचरज देखा कि अब किसके कंठ का सहारा लिया जाय ? कलहांतरिता पहले तो पति को भगा चुकी है, अब मान टूटने पर पछताती है कि हाय ! किसके गले से लिपटूँ ?

**काए**-किसीसे या कैसे । **करालिइं**-करालिता (कराल हुई) से । **पइ**-पति । **उड्डावियउ**-उडावियो (गुजराती) । **वराउ**-वराक । **अच्चभूउ**-अत्यद्भुत, देखो ऊपर (६) । **दिट्ठ**-दीठो । **मइं**-मैं, कर्मवाच्य में कर्ता कारक, 'ने' लगाने से (मैंने) दुहरा कारक चिह्न लगता है । **कण्ठि**-कंठ में । **विलुल्लइ**-लटका जाता है, विलमा जाता है । **काउ**-किसके ।

ये दोनों दोहे कुमारपाल प्रतिबोध में कुछ पाठांतरों के साथ दूसरे प्रसंग में हैं । अगला लेख देखो । पिछला हेमचंद्र में भी है ।

( १४ )

एक समय भोज रात को नगर में घूम रहे थे कि एक दिगंबर को एक गाथा पढ़ते सुना । बेचारा दिगंबर तो हो गया था किंतु उसकी हविश पूरी नहीं हुई थी । दूसरे दिन भोज ने उसे बुलाया और उसके मनसूबे जानकर उसे अपना सेनापति बनाया । पीछे उसी कुलचंद्र ने अनहिलपट्टन जीतकर जयपत्र प्राप्त किया । वह गाथा या दोहा यह है—

एऊ जम्मु नग्गुहं गिउ भडसिरि खग्गु न भग्गु ।
तिक्खां तुरियां न माणियां गोरी गलि न लग्गु ॥

**अर्थ**—यह जन्म अकारथ गया, सुभटों के सिर पर (मेरी)

तलवार नहीं टूटी, तीखे ( तेज़ ) घोड़ों का उपभोग नहीं किया, न गोरी (युवती) के गले लगा ।

**पाठांतर**-आउ ( = आयु), निग्गहं, नग्गहं ।

शास्त्री ने 'भडसिरि खग्ग' को एक पद लेकर अर्थ किया है 'भटश्रीखड्गः' ! तिक्खा का अर्थ 'तीक्ष्ण स्त्रीकटाक्ष' किया है और 'तुरिया' का अर्थ 'तूलिकादि शय्योपकरण' ( रामायण की 'तुराई' ) । टानी 'तिक्खा तुरिया' का अर्थ कर्कश-स्वर-युक्त बाजे (सं० तूर्य) करते हैं ।

**एउ**-यह, ये । **नग्गुहं**-निर्ग्रह (सं.)निष्फल, शास्त्री कहते हैं 'नग्नोऽहं' मैं नंगा या दिगंबर हूँ या निर्गृहं ! **भड**-मारवाड़ी में वीर को अब तक 'भड' कहते हैं, विशेष कर ताने में । **माणियां**-उपभोग किया, (सं.) मंडन किया, मिलाओ मारवाड़ी—सेजां माणीज्यो, गोरी ने माणज्यो ढोला (गीत) । **गोरी**-नायिका के लिये साधारण शब्द, अब भी हिंदी पंजाबी राजस्थानी गीतों में आता है । हेमचंद्र ने भी इस पद के इस अर्थ का उल्लेख किया है ।

( १५ )

प्रबंधचिंतामणि की एक प्रति में उसी हासिलेवाले कुलचंद्र का (जो कवि भी था और जिसे सुंदर कविता के लिए भोज ने एक सुंदर दासी दी थी ) एक दोहा और दिया है–

नव जल भरीया मग्गड़ा गयणि धडक्कई मेहु ।
इत्थन्तरि जरि आविसिइ तउ जाणीसिइ नेहु ॥

**अर्थ**—मार्ग नए (बरसाती) पानी से भरे हैं, गगन में मेघ धड़कता है, इस अंतर (अवसर) में जो (तू) आवेगा तो नेह जाना जायगा । मुंज की रसीली तो बरसात में आना असंभव जानकर 'गँवार' नायक को पहले ही बुलाती थी, किंतु कुलचंद्र उस समय आने ही को नेह की परीक्षा मानता है ।

**भरिया**-भरे हुए । **मग्गडा**-देखो संदेसडो (१) । **जरि**-जब, यदि, मारवाड़ी में **जर, जरां** अब भी समयवाचक जब के लिये आता है । **जाणीसिइ**-जाना जायगा, सं. 'ष्य' को 'सि' में पहचानो ।

( १६ )

भोज ने सभा में बैठकर गुजरातियों के भोलेपन की हँसी की। वहीं पर उस देश के एक आदमी ने कहा कि हमारे गोआले भी आपके पंडितों से बढ़कर हैं। यह समाचार सुनकर गुजरात के राजा भीम (सोलंकी) ने एक गोपाल भोज के पास भेजा। उसने राजा को एक दोहा सुनाया जिसपर राजा ने उसे सरस्वती-कंठाभरण गोप की उपाधि दी।

भोय एहु गलि कण्ठुलउ भण केहउ पडिहाइ ।
उरि लच्छिहि मुहि सरसितिहि सीम निबद्धी काइ ॥

**पाठांतर**-भोज एव हु कण्ठलउ, स्तंभल्लउ, कंचुल, लच्छिहिं, काइं, सीम विहली कोइ; पाठांतरों में अधिकरण-कारकवाले पद बिना 'इ' के भी हैं।

**अर्थ**—भोज! कह तो सही, यह (तेरे) गले में कठला कैसा भाता है? उर में लक्ष्मी और मुँह में सरस्वती के बीच यह सीमा बाँधी है क्या? विद्वान् राजा के मुँह में सरस्वती और प्रभु के उर में लक्ष्मी—बीच में कठला क्या हुआ मानो उन दोनों के राज्य की मर्यादा जतला रहा है।

**कंठुलउ**-कंठलो, कठलो, गले का गहना। **केहउ**-केहो, कैसो। **पडिहाइ** सं. प्रतिभाति। **निबद्धी**-नि + बांधी। **कांइ**--क्यों, किस लिये, क्या।

( १७ )

एक समय भोज वीरचर्या में रात को नगर में घूम रहे थे कि उन्होंने किसी दरिद्र की स्त्री को यह दोहा पढ़ते सुना—

माणुसड़ा दसदस दसा सुनियइ लोय पसिद्ध ।
मह कन्तह इक्कज दसा अवरि ते चोरिहिं लिद्ध ॥

**पाठांतर**-माणसडी, दस दस हवइ, माणसडा [ दस दस ] दसइं देवेहि निम्मवियाइं, मुज्झ, नवोरहिं हरियाइं, ते वोरहिं हरियाइं, नवोरहिं लिद्द। पाठांतरों से जान पड़ता है कि इस दोहे के दो पाठ हैं, एक में तो सिद्ध लिद्ध की तुक है, दूसरे में निम्मवियाइं हरियाइं की तुक है।

**अर्थ**-मनुष्य की दस दस दशाएँ लोक प्रसिद्ध सुनी जाती हैं, या दस दस दशा देवताओं ने बनाई हैं। अर्थात् जन्म भर में दस

दशा बदलती हैं, किंतु मेरे कंत की एक ही दशा ( दारिद्र ) है और (जो थीं) वे चोरों ने हर लीं ( या और नौ औरों ने ले लीं )।

मिलाओ, हस्तिनां दशवर्षप्रमाणा दश दशाः किल भवंति (हर्षचरित की संकेत टीका)।

**मानुसडा**-संबंध कारक के 'ण' औ 'डा' के लिये देखो ( १ ) **डी**-**दसा** एकवचन के लिये स्त्रीलिंग है, .**डा**-बहुबचन । **हवइ**-होती हैं, हवै, ह्वै। **सुनियइ**-कर्मवाच्य । **निम्मवियाइं**-निर्मित की गईं [ सं ॰ निर्मापितानि ] प्रेरणार्थक में प (व) के लिये देखो ना॰ प्र॰ पत्रिका, भाग १ अंक ४ पृ॰ ५०७ टिप्पणी ११ । **मुज्झ**-मेरे, संस्कृत में तुभ्यं, मह्यं चतुर्थी है, चतुर्थी और षष्ठी का प्रयोग वैदिक भाषा में विना भेद के होता था, वैदिक भाषा में तुभ्यं षष्ठी के अर्थ में भी आया है—मम तुभ्यं च संवननं तदग्निरनुमन्यताम् । **मह**, **कंतह**-ह संबंध कारक का चिह्न है । **इक्कज** में ज 'ही' या 'केवल' के अर्थ में हैं, मारवाड़ी में अबतक आता है, जैसे, आप रोज काम, एकज झूंपो ( झोंपड़ा )। **अवरि**-दूसरी, अपरी, ( सं॰ * ) टानी के अनुसार उपरि ( ऊपर, अधिक ) नहीं । **नवोरहिं**-नव + ओरहिं, हिंदी 'और' अपर ( = अवर ) से बना है, संवत् १९२२ तक पुराने पंडित अवर लिखा करते थे-अवर जब अइसा होय ।तब ( एक पत्र से )। **लिद्ध**-लब्ध, मारवाड़ी गुजराती, लीधो। **हरियाइं**-हरी गईं ।

( १८ )

मरते समय भोज ने कहा था कि श्मशान यात्रा के समय मेरे हाथ अरथी के बाहर रक्खे जायँ । भोज का यह बचन लोगों से एक वेश्या ने कहा—

कसु करु रे पुत्र कलत्र धी कसु करु रे करसण वाडी ।
एकला आइवो एकला जाइवो हाथपग वे झाडी ॥

**अर्थ**—अरे, पुत्र, स्त्री, कन्या किसके हैं ? खेती बाड़ी किसके ( या सारा बाग किसका ? ) अकेला आना है और दोनों हाथ पाँव झटकार कर अकेला जाना है ।

'कसु करु' का अर्थ टानी ने 'किसका हाथ' किया है और शास्त्री ने 'क्या करूँ'; 'पुत्र कलत्र' को दोनों ने संबोधन माना है, धी को दोनों भूल गए । **कसु करु**-किसका ( सं.* कस्य केरकः ) । **धी**-बेटी, देखो ऊपर ( ११ ) **करसण**-खेती, या कृत्स्न ( शास्त्री )। **आइबो**, **जाइबो**-आता हूँ, जाता हूँ ( टानी )। **बे**-दो ।

( १९ )

सिद्धराज जयसिंह समुद्र के किनारे टहल रहे थे । एक चारण ने उनकी स्तुति में कविता कही जिसमें से एक सोरठा (?) दिया है—

को जाणइ तुह नाह चित, तु हालेइ चक्कवइ लउ ।
लंकहले वाहमग्गु निहालई करणउत्तु ॥

**पाठांतर**-कौ, हालंतु, लंककाले, चक्कवइ लहु ।

**अर्थ**—सिद्धराज को समुद्र की ओर निहारते देखकर चारण कहता है कि नाथ ! तुम्हारे चित्त ( की बात ) को कौन जानता है ? तू चक्रवर्ती (पद) पाने की चेष्टा कर रहा है; कर्ण का पुत्र (सिद्धराज) लंका फल के (लेने के लिये) वाह का मार्ग देख रहा है ।

**हालेइ**-चलता है (सं. जंघालयति, शास्त्री) **लउ**-पाने को (सं० लब्धुं, शास्त्री ) । **लंकहले**-लंकाफल का । **वाह**-जहाज़ों का चलना । **निहालइ**-देखता है ( सं· निभालयति ) पंजाबी में निहालना = प्रतीक्षा करना । **करणउत्तु**-कर्ण + पुत्र, राजस्थानी करणोत । पिता के नाम के गौरव से पुत्रको संबोधन करना चारण कविता ( डिंगल ) का प्रसिद्ध लक्षण है ।

( २० )

सिद्धराज जयसिंह ने वर्द्धमानपुर (वढवाण) के आभीर राणक ( राना ) नवघन[1] पर चढ़ाई की और किले की दीवाल तोड़ कर उसे द्रव्य की वासणियों (थैलियों) की मार से मार डाला । नवघन की रानी के शोकवाक्य ये हैं—

सइरु नहीं स राणइ कुलाईउ नकुलाइ इ ।
सइ सउ षङ्गारिहिं प्राणकइ वइसानरि होमीइ ॥

**पाठांतर**-सयरू, नहिं, राण, न कुलाई न कुलाई, सई, पाण, किन वइसारि होमिया ।

**अर्थ**—हे सखियो, वह राणा भी नहीं है, (हमारे) कुल भी अब

---

[1] गिरनार के चूडासमा यादवों की राजावली में कई नवघण नामक राजाओं का उल्लेख है, संभव है यह चौथा नवघन हो और 'खेंगार उसका उपनाम हो । फार्बस ने रासमाला में खेंगार को नवघन का पुत्र कहा है, खेंगार और नवघन नाम इन राजाओं में कई बार आए हैं ।

नकुल (=नीचकुल) हैं, (मैं) सती खेंगार के साथ प्राणों को वैश्वानर (अग्नि) में होमती हूँ ।

**सईरु**-सखियो, रु बहुबचन । **सइ**-सती । **प्राणकइ**-प्राण कै = को । **वइसानरि**-वैश्वानर में, राजस्थानी वैंसादर । **होमीइ**-होमती हूँ । **होमिया**-होमे ।

( २१ )

राणा सव्वे वाणिया जेसलु वड्डुउ सेठि ।
काहूं वणिजड्डु माण्डीयउ अम्मीणा गढ हेठि ॥

**अर्थ**—सब राणा तो (छोटे) बनिये हैं, जैसल (सिद्धराज जयसिंह) बड़ा भारी सेठ है, क्या बणिज ( व्यापार ) मांडा ( फैलाया ) है ( उसने ) हमारे गढ़ के नीचे । ( बड़े व्यापारी के सामने छोटे का दीवाला निकल जाता है )

[टानी का उत्तरार्द्ध का अर्थ — बनिए के पेशे की कैसे शोभा हुई ? हमारा गढ नीचे पड़ गया ! ]

**सव्वे**—सं० सर्व । बड्डउ-बड़ा । **वणिजड्डु**—देखो संदेसडउ ( १ ) । **मांडीयउ**—देखो माणिया (१४) । **अम्मीणा**—हमारा, देखो (१) । **हेठि**-नीचे, पंजाबी हेठ, और जेठ सब हेठ ( रामकहानी ) ।

( २२ )

तइं गड्डूआ गिरनार काहूँ मणिमत्सरु धरिउ ।
मारीतां षङ्गार एक सिहरु न ढालिउं ॥

**अर्थ**—हे गुरु ( भारी ) गिरनार ( पर्वत ) ! तैंने मन में कैसा कुछ मत्सर धारण किया कि खंगार के मारे जाते समय (अपना) एक शिखर भी न गिराया ( जिससे शत्रु कुचले जाते या अपने स्वामी के दुःख में तेरी सहानुभूति जानी जाती, जैसे कि शोक में भूषण उतार दिए जाते हैं )

**तइं**—तैं, तैंने । **गडुआ**—(सं-गुरुक), भारी । **मारीतां**—मारे जाते हुए ( भाव लक्षण ) । **सिहर**—शिखर । **ढालिउं**—ढाल्यौ, ढलकाया ।

( २३ )

जैसल मोडि मवाह वलि वलि विरूप भावीयइ ।
नइ जिम नवा प्रवाह नवघण विणु आवइ नहि ॥

**पाठांतर**—वरुण भावीयइ, नवयण विन आवै नहि ।

**अर्थ**—जैसल (जयसिंह) का मर्दन किया हुआ मेरा वास फिर फिर विरूप जान पड़ता है, जैसे नदी में नया प्रवाह बिना नवघन ( नए मेघ, पक्ष में राणा नवघन ) के नहीं आता ।

'जैसल मोडि मवाह' का अर्थ टानी ने किया है 'जैसल, आँसू मत बहाओ' । शास्त्री का अर्थ भी संतोषप्रदायक नहीं । यह अर्थ भी हो सकता है कि जैसल का मोडा हुआ ( हमारी राज्यरूपी नदी का ) प्रवाह बुरा लगता है, क्योंकि कहां नवघन से होनेवाला नदी की बाढ का सुंदर प्रवाह और कहां दूसरे के पराक्रम से मोड़ा हुआ प्रवाह ? नवघन का अर्थ दोनों ओर लगता है ।

**मोडि**—मोड़ कर, मींड √मर्द् । **मवाह**—मद् + वास, मेरा घर ( शास्त्री ), मेरे मत में यों पढना चाहिए जैसल-मोडिम-वाह, जैसल का मोडा हुआ वास या प्रवाह । **वलि वलि**—मुड़ मुड़ कर, फिर फिर । **नइ**—नदी, सुरवरनई ( तुलसीदास ) ।

( २४ )

वाढी तो वढवाण वीसारतां न वीसरइ ।
सोना समा पराण भोगावह पइं भोगवीइ ॥

**पाठांतर**—वाटी तवउं वढमाण, सूला, तइं, भोगिव्या ।

**अर्थ**—हे वढवाण ( वर्धमान ) शहर ! तू ( शत्रुओं से ) काटा गया है तो भी भुलाने से भी नहीं भूला जाता, ( मैं अपने ) सोने के सदृश प्राणों को भोगावह ( नदी ) को भोग कराऊँगी ( या हे भोगावह ! मैं तुम्हें उन्हें भुक्त कराऊँगी ) ।

पूर्वार्द्ध का टानी का अनुवाद-उस ( नवघन ) का बढाया हुआ बढवान ( उसे ) भुलाने से भी नहीं भूलेगा ।

**वाढी**-सं० √वृध के दोनों अर्थ हैं, बढना और काटना । **वीसारतां**-विसरना, सं० वि + √स्मर् । **समा**-बराबर । **भोगावह**-भोगावर्त्त नामक नदी ( शास्त्री ) । **पइं**=पै ( को ) या मैं ।

इन सोरठों में कहीं कहीं नवघन तथा खेंगार दोनों को एक ही मान लिया जान पड़ता है ।

( २५ )

हेमचंद्र की माता के उत्तरकर्म के समय कुछ द्वेषियों ने विमान-

भंग का अपमान किया । इससे क्रुद्ध होकर हेमचंद्र मालवे में डेरा डाले हुए राजा कुमारपाल के पास आए और उदयन मंत्री ने राजा से उनका परिचय कराया । हेमचंद्र ने सोचा कि—

आपण पइ प्रभु होइअ कइ प्रभु कीजई हाथि ।
कज्ज करिवा माणुसह बीजउ मागु न आत्थि ॥

**पाठांतर**—काज करेवा माणुसह ।

**अर्थ**—या तो आप समर्थ हो या (किसी) समर्थ को हाथ में कीजिए। मनुष्यों का कार्य (सिद्ध) करने के लिये दूसरा मार्ग नहीं है ।

**आपण**-अपने । **पइ**-पै, या । **होइअ**-होवे । **कइ**=कै=या । **बीजउ**-बीजो, दूसरा । **मागु**- मग्गु, मार्ग । **आत्थि**-अत्थि (सं० अस्ति) है, राजस्थानी ज्यूं आथ न साथ (=कुछ है ही नहीं )

( २६ )

एक दिन हेमचंद्र कुमारपाल बिहार-मंदिर में कपर्दी नामक पंडित के हाथ का सहारा लिए जा रहे थे । वहां पर नाचनेवाली के कंचुक की डोर पीछे से खैंचकर कसी जा रही थी । इसपर कपर्दी ने एक दोहे का पूर्वार्द्ध कहा और उसके ठहरते ही हेमचंद्र ने उसकी पूर्ति कर दी—

सोहग्गीउ सहि कञ्चुयउ जुत्त उत्ताणु करेइ ।
पुट्ठिहिं पच्छइ तरुणियणु जसु गुण गहण करेइ ॥

**अर्थ**—सुहागन को (या सुहाग को) भी सखियां कंचुक के युक्त (साथ) उत्तान ( ऊँचा ) करती हैं; जिसका तरुणिजन पीठ से पीछे से गुणग्रहण करती है । जिसके गुणों का पीछे से ग्रहण (वर्णन) किया जाय वह अवश्य ऊँचा (बड़ा) होता है ।

**गुण**=डोरी और सद्गुण दोनों । **सोहग्गीउ**-सौभाग्यवती भी ( हिं० सुहागन ) । **पुट्ठिहिं**-पीठ से, पुट्ठे (पूठ) से, ( सं. पृष्ठ ) ऋ की उ-श्रुति पर ध्यान दो, पीठ पीछे ( हिं० ) पूठपीछे ( रा० ) महाविरा है । **पच्छइ**-पाछे ( मारवाड़ी ) । **करेइ**-करै ।

( २७ )

सोरठ के दो चारण 'दूहाविद्या' में स्पर्धा करते हुए अणहिल-

पुर पाटन में आए। शर्त यह थी कि जिसकी रचना की हेमचंद्र व्याख्या करें वह दूसरे को हरजाना देवे । एक ने हेमचंद्र से मिलने पर यह सोरठा पढ़ा—

लच्छिवाणिमुहकाणि एयइ भागी मुह भरउं ।
हेमसूरि अच्छीणि जे ईसरते ते पण्डिया ॥

**अर्थ**—इस भागी ( भाग्यवान् हेमचंद्र) के मुख में भरे ( स्थित हेमचंद्र के नेत्र) लक्ष्मी और सरस्वती दोनों के मुखवाले (= युक्त) हैं, जिसपर वे कुछ भी प्रसन्न हो जाते हैं वे पंडित हो जाते हैं ।

यह अर्थ कुछ खैंचकर किया गया है क्योंकि सोरठा स्पष्ट नहीं है । शास्त्री ने एक पाठांतर का दूसरा अर्थ दिया है जो बिलकुल ऊटपटांग है । "लक्ष्मी कहती है कि ये यति (ए यइ) वाणी को मुख में रखनेवाले हैं, इस लिये (सौत की ईर्ष्या से) मैं मरती हूँ। तो हेमसूरि से छिपे छिपे (हेमसूरि आ छाणि) वे भाग गए, इस लिये जो ईश्वर (समर्थ) हैं वे पंडित हैं, पंडित लक्ष्मीवान् नहीं" ।

**पाठांतर**-पयइ, मरउ, सूरिआ छाणि ।

**लच्छिवाणिमुहकाणि**-मुखक (सं०) = प्रभृति, आदि । **एयई**-यह, ऐसा । **भरउं**-भयों । **ईसरते**-ईषद्रते ? (सं.) कुछ भी प्रेम करते हुए । **छाणि**-( सं॰ छन्य छाद्य ? ) छिपकर, राजस्थानी-छाने ।

( २८ )

वह चारण तो बैठ गया । इतने में कुमारपालविहार में आरती के समय महाराज कुमारपाल आए और उनके प्रणाम करने पर हेमचंद्र ने उनकी पीठ पर हाथ रक्खा ! इतने में दूसरे चारण ने कहा—

हेम तुहाला कर भरउं जांह अच्चंपभू रिद्दि ।
जेवं पह हिठा मुहा तांह ऊपहरी सिद्धि ॥

**पाठांतर**-जिंह अच्चुपुयरिद्धि, जे चंपह हिठा मुहा तीह उबहरी सिद्धी ।

**अर्थ**—हे हेम, तुम्हारा हाथ जिन पर भरा ( रक्खा ) है उनके तो अचंभे की सी रिद्धि होती है और जिनका मुँह नीचा होता है (या जो नीचे मुख से [आपके पाँव] दबाते हैं) उन्हें आपने सिद्धि

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

उपहार में दी । यह अर्थ शास्त्री और टॉनी दोनों के अर्थ से भिन्न है, वे दोनों संतोषदायक नहीं हैं। चारण कुमारपाल की अचंभे की सी संपत्ति को हेमचंद्र के पीठ पर हाथ रखने और सिद्धि के उपहार को नीचे मुँह से पैरों में प्रणाम करने के कारण मानता है। यह विरोधाभास भी हो सकता है कि मुँह नीचा और सिद्धि ऊँची (उपहरी)। कवि की इस अछूती उक्ति पर राजा प्रसन्न हुआ और उससे दोहा बार बार पढ़वाया। तीन बार पढ़कर चारण ने, शिवाजी के सामने भूषण की तरह, बे-सबरी से कहा कि क्या प्रति पाठ पर लाख दोगे ? राजा ने तीन लाख दिए । कहानी अधूरी है, हेमचंद्र ने किसीको न सराहा । न मालूम उनकी होड़ाहोड़ी का क्या हुआ ।

**तुहाला**-तुम्हारा, तुहाडा ( पंजाबी ) देखो ( १ ) । **जांह**-जिसमें, जहां । **अच्चंब्भू**-अत्यद्भुत, देखो ( ६ ), (१३)। **जे चंपह**-जो दबाते हैं ( चरणों को ), पगचंपी ( राजस्थानी ) पैर दबाना । **जेंव**-जिनका । **पह**-पैरों पै । **हिट्ठा**-हेठा, देखो (२१)। **ऊपहरी**-उपहार दी गई (सं. उपहृता ) या ऊपर की, ऊँची ।

## ( २९ )

जब कुमारपाल शत्रुंजय तीर्थ में गए तो वहां एक चारण को प्रतिमा के सामने यह सोरठा नौ बार पढ़ते देखकर उन्होंने नौ सहस्र दिए—

इक्कह फुल्लह माटि देअइ सामी सिद्धि सुहु ।
तिणि सिउं केही साटी भोलिम जिणवरह ॥

**पाठांतर**-देवइ सिद्धि सुठु'''केहि साटि कटि (रि ?), रे भोति( लि ?) म, तिणिसउं ।

**अर्थ**—एक फूल के लिये, एक फूल की ख़ातिर, स्वामी सिद्धिसुख ( या सौ सिद्धि ) देते हैं, इसी तरह हे जिनवर, आप किस लिये (इतने) भोले हैं ? या जिनवर का इतना भोलापन क्यों है ?। टानी ने तिणिसउं का अर्थ किया है 'यह निश्चित है (तन्निश्चितं !)'। इस लिए जिनवर को कभी न भूलो' ( भोलि म ) ।

**माटि**-लिये, ख़ातिर । **तिणि सिउं**-उससे ( इस कारण से ), ( सं. तन्नि-

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

अया, शास्त्री ) उसी प्रकार से । **केही साटी**-किस लिये, देखो (४) किस बदले में । **भोलिम**-भोलापन ।

## ( ३० )

कुमारपाल का उत्तराधिकारी और भतीजा अजयपाल बड़ा निर्दयी था । उसने जैनों पर उतने ही अत्याचार किए जितनी उसके पूर्वज ने भलाइयाँ की थीं । उसने गिन गिनकर विद्वानों और प्रधानों को मारा । पंडित रामचंद्र ने सौ ग्रंथ बनाए थे, उसे तत्ते तांबे पर चढ़ा दिया । बेचारा यह दोहा पढकर दाँतों से अपनी जीभ काटकर वेदना से मर गया ।

महिवीढह सचराचरह जिण सिरि दिह्ला पाय ।
तसु अत्थमणु दिणे सरह होउत होइ चिराय ॥

**पाठांतर**-जिणि सिरि दिन्ना, दिणसरसु, होइतु होहु, विराय ।

**अर्थ**—पृथ्वी के पीठ पर जिसने सचराचर सब ( भूमंडल ) के सिर पर पाँव दिया उसी दिनेश्वर (सूर्य) का अस्त होता है, सच है, जो होना होता है वह देर से कभी न कभी भी होकर रहता है ।

**महिवीढह**-महीपीठ ( में या का ), पीठा( सं० )-हिं० पीढा । **सचराचरह**—( में या का ) । **जिण सिरि दिह्ला पाय**-का शास्त्री ने अर्थ किया है जिसने श्री दी प्रायः ( ! ) । **तसु**-तासु । **अत्थमणु**-सं० अस्तमन, अँथवणो, आथणो ( =अस्त ), आथण ( =सायंकाल ), आँथूणी ( =पश्चिम दिशा), राजस्थानी । **होउत**-भवितव्य ।

चौथे चरण का टानी का अनुवाद—'होना पड़ता है और बहुत काल के लिये होगा'।

## ( ३१ )

सिद्धसेन दिवाकर को केतलासर ग्राम को जाते हुए एक वृद्धवादी मिला उसने रोककर कहा, विवाद करो । सिद्धसेन ने कहा, नगर में चलो, वहां पुरवासी मध्यस्थ होंगे । वृद्धवादी ने कहा, ये गोआले ही सभ्य हैं, येही निर्णय कर देंगे । सिद्धसेन ने संस्कृत में बहुत कुछ कहा, फिर वृद्धवादी ने एक गाथा पढ़ी जिसे सुन कर ग्वालों ने कहा तुम ही जीत गए, दूसरा कुछ नहीं जानता । वह गाथा यह है—

नवि मारीयए नवि चोरीयए परदारगमण निवारीयए ।
थोवा विहु थोवं दाइयए इम सग्गि टगमगु जाईयए ॥

**अर्थ**—न मारिए, न चोरिए, परदारगमन को छोड़िए, थोड़े से भी थोड़ा दान दीजिए, यों चटपट स्वर्ग जाइए ।

**नवि**–न + अपि । **थोवा**-थोड़ा ( सं० स्तोक, हिंदी शब्द में वही 'ड' आया है, स्तोकक ) । **दाइयए**-दीजिए । **सग्गि**-स्वर्ग में । **टगमगु**-झटपट, दड़बड़ाते हुए ।

## ( ३१ क )

प्रबंधचिंतामणि में जितनी पुरानी हिंदी की कविता थी उसका व्याख्यान हो चुका । दो प्रसंगों पर उसमें कुछ गद्य भी आया है और वहां की कथा रोचक है इस लिये उनका भी उल्लेख यहां किया जायगा । कुमारपाल के मंत्री साह आंबड ने कुंकुण के राजा मल्लिकार्जुन को जीतकर उसके सिर के साथ और जो भेंट राजा के सामने रक्खी उसकी सूची में संस्कृत के साथ कुछ देशभाषा दी है । वह यह है—**शृंगारकोडी साडी** ( शृंगारकोटि साड़ी ), **माणिकउ पखेवडउ** ( माणिक नाम पखेवड़ा = पक्षपट, दुपट्टा या ओढ़नी, राजस्थानी पछेवड़ा ), **पापखउ हारु** ( पापक्षय हार ),···मौक्तिकानां **सेडउ** ( सेडो ? = सेटक, सेर या लड़ी ? )[1]

---

[1] प्रबंधचिंतामणि की इबारत यह है–शृंगारकोडी साडी १ मणिकउ पछेवडउ २ पापखउ हारु ३ संयोगसिद्धि सिप्रा ४ तडा (मुडा ? = तथा ?) हेमकुंभा ३२ स्तथा मौक्तिकानां सेडउ ६ चतुदन्त हस्ति १ पात्राणि १२० कोडी सार्द्ध १४ द्रव्यस्य दंडः ( पृ. २०३ ) । इसी प्रसंग के वर्णन में जिनमंडन के कुमारपाल प्रबंध ( सं० १४६२ ) में तीन श्लोक दिए हैं जिनसे अर्थ स्पष्ट होता है—

शाटीं शृङ्गारकोटयाख्यां पटं माणिक्यनामकम् ।
पापक्षयङ्करं हारं मुक्ताशुक्तिं ( = सेडउ ? ) विषापहाम् ॥
हैमान् द्वात्रिंशतं कुम्भान् १४ मनुभारप्रमाणतः ।
षण् मूटकां ( = सेडउ ? ) स्तु मुक्तानां स्वर्णकोटीश्चतुर्दश ॥
विंशं शतं च पात्राणां चतुर्दन्तं च दन्तिनम् ।
श्वेतं सेदुकनामानं दत्वा नव्यं नवग्रहम् ॥

( आत्मानंद सभा, भावनगर का संस्करण पत्र ३९ पृ० २ )

दूसरा प्रसंग यह है कि एक समय हेमचंद्र ने कपर्दि मंत्री से पूछा कि तेरे हाथ में क्या है ? उसने उत्तर दिया कि **'हरडइ'** (=हरडै, हर्र ) । इसपर हेमचंद्र ने पूछा कि 'क्या अब भी ?' कपर्दी ने उनका आशय समझकर कहा कि नहीं अब क्यों ? अंत से आदि हो गया और मात्रा ( धन ) में अधिक हो गया । हेमचंद्र उसकी चातुरी पर बहुत प्रसन्न हुए। पीछे समझाया कि मैंने **'हरडइ'** का अर्थ 'ह रडइ' [ =ह ( कार ) रडइ, रटति, रोता है ] लेकर पूछा था कि क्या हकार अब भी रोता है ? कपर्दी ने उत्तर दिया कि पहले वह वर्णमाला में अंतिम था, अब आपके नाम में प्रथम वर्ण हो गया और कोरा 'ह' न रहकर ए कार की मात्रा से बढ़ गया, अब क्यों रोने लगा ?

## समय-सूचक सारिणी ।

इस लेख में जिन ऐतिहासिक बातों का उल्लेख हुआ है उनका आगा पीछा समझाने के लिये उनके संवत् एक जगह लिख दिए जाते हैं—

| विक्रम संवत् | घटना |
|---|---|
| ९५० से १००० | राजशेखर का लिखा अपभ्रंश, भूतभाषा और शौरसेनी का देशविन्यास । |

---

पापचय किसी विशेष प्रकार के हार की संज्ञा थी क्योंकि सिद्धराज जयसिंह का पिता कर्ण ( भोगी कर्ण ) जब सोमनाथ के दर्शन करने गया तो उसने प्रतिज्ञा की थी कि पापचय हार, चंद्र, आदित्य नाम के कुंडल और श्रीतिलक नाम अंगद ( बाजूबंद ) पहनकर दर्शन करूं ( वही प०४ पृ०२ ) 'सेडउ' के अर्थ में संदेह रह जाता है किंतु कुमारपाल के राजतिलक के वर्णन में वहीं ( पत्र ३४ पृ० १ ) में एक अस्पष्ट पंक्ति और है—'मुक्तानां सेतिका क्षिप्ता तस्य शीर्षे सफल्पिका ( ? ) संजाता राज्ञः समग्रैश्वर्यवृद्धिं सूचयति स्म' यहाँ सेतिका का अभिप्राय लड़ी से ही हो सकता है । संभव है कि यही अर्थ 'सेडउ' का भी हो ।

कुंकुण की लड़ाई के लिये देखो ना०प्र०पत्रिका, भाग १ पृ०३९९–४०१ ।

| विक्रम संवत् | घटना |
|---|---|
| १०२९ से १०५० तक किसी समय | परमार राजा मुंज का राज्याभिषेक |
| १०५० से १०५४ तक किसी समय | मुंज की मृत्यु |
| ,, | भोज का राज्याभिषेक |
| १०३६ | मूलराज सोलंकी के हाथ कच्छ के राजा लाखा फूलानी का मारा जाना |
| ११५० | सिद्धराज जयसिंह का गद्दी बैठना |
| ११६२ ( ? )<br>११५० से ११९९ तक किसी समय | आभीर राणा नवघन की मृत्यु |
| ११९९ | सिद्धराज जयसिंह की मृत्यु |
| ११९९ | कुमारपाल का राज्याभिषेक |
| १२३० | कुमारपाल की मृत्यु |
| ११९९ से १२३० तक किसी समय | हेमचंद्र के व्याकरण की रचना |
| १२४९ | पृथ्वीराज की मृत्यु |
| १३६१ | प्रबंधचिंतामणि की रचना |

# ३—राष्ट्र का लक्षण तथा विचार।

[ लेखक—पंडित प्राणनाथ विद्यालंकार, काशी। ]

अंग्रेजी भाषा में राष्ट्र के स्थान पर स्टेट् शब्द प्रचलित है। स्टेट् शब्द का व्यवहार अनेक अर्थों में होता है। स्वतंत्र रियासतों को स्टेट् नाम से पुकारा जाता है। प्रदेश या जनपद, जनसंख्या, एकता तथा संगठन इन चार अर्थों में स्टेट् शब्द का व्यवहार साधारणतया किया जाता है[1]।

महाशय वुड्रो विल्सन का विचार है कि 'किसी एक जनपद में रहनेवाले जन-समूह का नाम स्टेट् है, जो व्यवस्था तथा शांति के लिये संगठित हो[2]। थियोडोर वूल्जे का मत है कि स्टेट् राज्यनियमों के द्वारा संगठित उस जन-समाज का नाम है जो अपने अंगों के द्वारा एक विशेष भूमिभाग तक शासन करता हो[3]। महाशय हालैंड तो स्टेट् द्वारा उस जन-समूह का ग्रहण करते हैं जो किसी एक जनपद में रहता हो और बहुसम्मति के द्वारा राज्यकार्य चलाता हो[4]। प्रसिद्ध जर्मन राजनीतिज्ञ ब्लंट्श्ली राष्ट्र को सजीव मानता है और यही कारण है कि वह स्टेट् को मनुष्य समाज का विराट् रूप समझता है[5]। सारांश यह है कि योरुप के राजनीतिज्ञों के अनुसार स्टेट् शब्द प्रत्यक्ष तौर पर ऐसे मनुष्य-समूह का बोधक है जिसका प्रत्येक मनका राज्यनियम रूपी सूत में पिरोया गया हो। प्राचीन आर्य्य लोग स्टेट् के स्थान पर राष्ट्र शब्द का व्यवहार करते थे। आश्चर्य्य का विषय है कि राष्ट्र शब्द भी स्टेट शब्द के सदृश ही

---

[1] एलीमेंट्स आफ पोलिटिकल साइंस, लीकाक, भाग १ अध्याय १।

[2] वुड्रो विलसन—दी स्टेट।

[3] टी॰ वूल्जे—पोलिटिकल साइंस।

[4] टी॰ ई॰ हालेंड—एलीमेंटस् आफ जुरिसप्रुडेंस।

[5] ब्लंट्श्ली—दि थियोरी आफ दि स्टेट।

प्रदेश या जनपद, जनसंख्या, एकता तथा संगठन इन चार अर्थों को प्रगट करता है ।

**जनसंख्या**—ऐतरेय ब्राह्मण में लिखा है[1] कि 'राष्ट्राणि वै विशः' अर्थात् किसी एक जनपद में रहनेवाले, **राज्याधीन**, मनुष्य-समूह का नाम ही राष्ट्र है । **राज्याधीन** शब्द इस लिये लिखा कि 'विशः' शब्द प्रजा अर्थ में आता है प्रजा राजा की अपेक्षा रखती है, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है । इसी प्रकार महर्षि व्यास ने 'जन-समूह' अर्थ में ही कई स्थानों में राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है । वे शांतिपर्व में लिखते हैं कि 'राजा का **राज्याभिषेक करना राष्ट्र का ही काम है**'[2] । 'सहायकों के साथ होते हुए या उनके विना भी, राजा **राष्ट्र को यह कह दे** कि मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा'[3] । एक बार केकय प्रदेश के राजा ने एक राक्षस को कहा कि 'राष्ट्र सोता है तो भी मैं जागता रहता हूँ, तू मेरे यहाँ मत घुस'[4] ।

**राज्याभिषेक करना राष्ट्र का ही काम है, राष्ट्र को यह कह दे, राष्ट्र के असावधान होने पर भी**, इत्यादि वाक्यों में राष्ट्र का तात्पर्य एक मात्र भूमि नहीं हो सकता है । क्योंकि

---

[1] 'तस्मै विशः स्वयमेवानमंत' इति राष्ट्राणि वै विशः राष्ट्राण्येवैनं तत्स्वयमुपनमन्ति इति ।

——ऐतरेय ब्राह्मण, आनन्दाश्रम संस्करण, पृ० ६६ ।

[2] राष्ट्रस्यैतत् कृत्यतमं यद्राज्ञोऽभिषेचनं । अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवंत्युत ।

——महाभारत, शान्तिपर्व, अ० ६५, श्लो० २ ।

[3] ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः । ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा । महा., शान्ति., अ० ६५, श्लो० २५ ।

[4] राष्ट्रे स्वपिति जागर्म्मि मा ममान्तरमाविशः ।

——महा. शान्ति. अ० ७७, श्लो० २३ ।

केकय राजा की यह कथा उपनिषदों में भी है । इसमें एक राक्षस उसके राष्ट्र में घुसना चाहता था । राजा ने कहा कि मेरे राज्य में न कोई चोर है, न कायर, न मद्यप, न अग्निहोत्र या यज्ञ न करनेवाला, न कोई व्यभिचारी है, व्यभिचारिणी तो कहां से हो ? मेरे यहाँ तू कैसे घुसेगा ?

भूमिसदृश जड़ वस्तु से क्या कोई कहेगा ? कैसे किसीका वह राज्याभिषेक करेगी ? सावधान तथा असावधान होना भी उसके लिये कुछ भी संभव नहीं। ये सब बातें मनुष्य-समाज में ही होती हैं। वही किसीका राज्याभिषेक कर सकता है, वही असावधान हो सकता है, और राजा भी उसीको कुछ कह सकता है। यदि मनुष्य-समाज में राष्ट्र शब्द का व्यवहार लाक्षणिक माना जाय और भूमि अर्थ में मुख्य, तो बड़ी गड़बड़ी मच सकती है। क्योंकि भूमि अर्थ में राष्ट्र शब्द का व्यवहार बहुत थोड़े स्थानों पर ही देखा गया है। उसमें भी कुछ न कुछ संदेह बना रहता है कि कहीं उसका दूसरा अर्थ न हो। सबसे बड़ी बात तो यह है कि ऋग्वेद, अथर्ववेद आदि अति प्राचीनतम ग्रंथों में राष्ट्र शब्द का व्यवहार मनुष्य-समाज के लिये ही प्रचलित था। 'मैं ही राष्ट्र हूँ'[1] 'सुवीर राष्ट्र'[2] आदि अथर्ववेद के वाक्यों में राष्ट्र का तात्पर्य मनुष्यों से ही है न कि भूमि से।

**प्रदेश या जनपद**—मनुष्य-समाज या जनसंख्या के सदृश ही राष्ट्र शब्द का प्रयोग कभी कभी प्रदेश या जनपद अर्थ में भी किया जाता था। शांतिपर्व में कुछ एक स्थानों में लिखा है कि 'कुरुप्रदेश का बड़ा जंगल तुम्हारा राष्ट्र है,'[3] 'राष्ट्र में रहनेवाले नगर-निवासी समृद्ध हैं,'[4] 'ग्राम, पुर तथा राष्ट्रों को जलाया'[5] उनके पुरों तथा राष्ट्रों को,'[6] 'उपाय से राष्ट्र का भोग किया जा सकता

---

[1] स अहमेषां राष्ट्रं स्यामि। अथर्ववेद। ३. १६. ५।

[2] एषामहमायुधा संस्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। अथर्व. ३. १६. ५।

[3] हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम्। चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजांगलम्॥ महा. शांति. अ. ३७, श्लो. २३।

[4] अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः। महा. शां. अ. ५७, श्लो. ३४।

[5] ग्रामान् पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैवानु वीर्यवान्। जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधिक्षया॥ महा. शांति. अ. ४६. श्लो. ३६।

[6] तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन्सुहृद्वत। महा. शां. अ. ३३, श्लो० ४२—४३।

है'[१] । इन वाक्यों में आए हुए राष्ट्र शब्द के अर्थ का यदि पता लगाया जाय तो स्पष्ट हो सकता है कि राष्ट्र शब्द का तात्पर्य उस जनपद तथा प्रदेश से है जिसमें मनुष्य रहते हैं । एकमात्र भूमि अर्थ में राष्ट्र शब्द का प्रयोग कदाचित् ही कहीं पर हो । प्राचीन लेखक जनपद तथा जनसंख्या इन दो अर्थों को अकेले राष्ट्र शब्द से प्रगट करते थे ।

**एकता तथा संगठन**—यदि राष्ट्र शब्द के भिन्न भिन्न प्रयोगों को देखा जाय तो स्पष्ट हो सकता है कि स्टेट शब्द के सदृश ही राष्ट्र शब्द भी एकता तथा संगठन की अपेक्षा रखता है । अमरीका की छोटी छोटी रियासतें यदि एक दूसरे से अलग हो जायँ तो अमरीका एक स्टेट् नहीं कहा जा सकता । इसी प्रकार संगठन के छिन्न भिन्न होते ही राष्ट्र नाश को प्राप्त हो जाता है । प्राचीन काल में राज्य कर के अधिक बढ़ने पर,[२] राजा के प्रमादी होने पर,[३] प्रजा के उच्छृंखल हो जाने पर,[४] पुराने राजा के मर जाने और नये राजा के निश्चित न होने पर[५] राष्ट्र के नाश का भय लोगों को हो जाता था । इसीसे यह परिणाम निकलता है कि स्टेट् के सदृश ही राष्ट्र शब्द का व्यवहार भी संगठित व्यवस्थायुत समाज के लिये ही किया जाता था ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्र शब्द का मुख्य प्रयोग राजनैतिक

---

[१] अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितं । जनयत्यतुलां नित्यं कोषवृद्धिं युधिष्ठिर । महा-शां अ. ७१, श्लो० १६. १८ ।

[२] ऊधश्छिन्द्यात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत् पयः । एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते । महा. शां. अ. ७१, श्लो० १६ ।

[३] दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् । महा. शां. अ. ६८, श्लो० २६ ।

[४] अराजकानि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः । महा. शां. अ. ६७, श्लो० ६ ।

[५] इक्ष्वाकूणामिहात्रैव कश्चिद्राजा विधीयताम् । अराजकं हि नो राष्ट्रं विनाशं समवाप्नुयात् । वाल्मीकिरामायण, अयोध्या० सर्ग ६७, श्लो. ८ ।

अर्थ में ही रूढ़ था । किसी एक जनपद पर व्यवस्था के लिये संगठित, प्रभुत्वशक्तिसंपन्न, राजनैतिक तौर पर स्वतंत्र मनुष्य-समाज को ही प्राचीन काल में राष्ट्र नाम से पुकारा जाता था ।

ऋग्वेद के ज़माने में जब प्रजा किसी एक व्यक्ति को राजा के तौर पर निर्वाचित कर शासन का काम उसके सुपुर्द करती थी, उस समय पुरोहित उसको यह कहकर आशीर्वाद देता था कि हे राजन् ऐसा काम करो जिससे सारी की सारी प्रजा तुमको ही चाहे और **तुझसे राष्ट्र च्युत न हो**[1] । तुम पर्वत की तरह स्थिर रहते हुए **राष्ट्र का धारण ( शासन ) करो**[2] , **राष्ट्र के लिये ही काम करो**[3] । असत्य का परित्याग कर राष्ट्र का प्रबंध करो[4] । इसी प्रकार अन्य बहुत से स्थान हैं[5] जहाँ राष्ट्र शब्द का प्रयोग स्टेट् के ही अर्थ में किया गया है । अथर्ववेद में 'राष्ट्रभृत्य'[6] 'राष्ट्रभृत्'[7] 'वृहद्राष्ट्र'[8] आदि शब्दों के प्रयोग के साथ साथ ऋग्वेद के सदृश ही लिखा है कि हे राजन्

---

[1] आ त्वाहार्षं अंतरेधि ध्रुवः तिष्ठ अविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वाः वांछन्तु मा त्वद् राष्ट्रमधि भ्रशत् ।

ऋ० म० १० अ० १२ सू० १७३ म० १ ।

[2] इह एव एधि मा अपच्योष्ठाः पर्वतः इव अविचाचलिः । इन्द्रः इव इह ध्रुवः तेष्ठ इह राष्ट्रं उ धारय । वहीं, म० २ ।

[3] अभि राष्ट्राय वर्तय । ऋ० म० १० अ० १२ सू० १७४ म० १ ।

[4] अनृतं वि विञ्चन् मम राष्ट्रस्य आधिपत्यं आ इहि । ऋ० म० १० अ० १२ सू० १२४ म० ५ ।

[5] राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य । ऋग्वेद म० १० अ० ६ सू १०९ म० २ । युवोः राष्ट्रं वृहत् इन्वति । ऋ० म० ७ अ० ५ सू० ८४ म० २ । राष्ट्रं क्षत्रियस्य । ऋ० म० ४ अ० ४ सू० ४२ म० १ ।

[6] ऊर्जे त्वा बलाय त्वौजसे सहसे त्वा । अभिभूयाय त्वा राष्ट्रभृत्याय पर्यूहामि शतशारदाय । अथर्व १९. ३७. ३ ।

[7] उग्रं पश्ये राष्ट्रभृत्किल्बिषाणि । अथर्व ११८, २ । दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते । महद्यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भान्ति । अथर्व, ११०.१४ । ये देवा राष्ट्रभृतः । अथर्व १३.१.२५ ।

[8] वृहद्राष्ट्रं सवेश्यं दधातु । अथर्व ३.८.१ ।

[9]

तुम स्वस्थचित्त होकर **राष्ट्र का धारण करो**[१] । तुमको प्रजा राज्य के लिये चुने, तुम **राष्ट्र के शिरोमणि हो**[२], **राष्ट्र तुम्हारे साथ आवे**[३] । राष्ट्र शब्द का प्रयोग अंतर्जातीय शक्ति के राजनैतिक अर्थ में होता था और संगठन तथा एकतासंबंधी भाव उसके अंदर छिपा था । इसके बहुत से प्रमाण अथर्व वेद में विद्यमान हैं । दृष्टांत स्वरूप वहां लिखा है कि 'ब्राह्मण की गौ पकाने पर राष्ट्र की शक्ति तथा तेज नष्ट होता है,[४] जो राजा क्रोध में आकर ब्राह्मण को मारता है उसका राष्ट्र नष्ट होता है[५], और पानी में बही हुई नाव की तरह छिन्न भिन्न हो जाता है[६] ।

यों स्टेट् तथा राष्ट्र शब्द के अर्थों में घनिष्ठ सादृश्य है । कदाचित् इसका मुख्य कारण यही हो कि प्राचीन आर्य्यों में अर्वाचीन यूरोपियों के सदृश ही राष्ट्रीय जीवन विद्यमान हो और वे भी यूनानियों तथा रोमनों के सदृश ही राष्ट्र के उपासक हों ।

---

[१] राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः । अथर्व १३.१.३५ ।

[२] त्वां विशो वृणुतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्चदेवीः । वर्ष्मराष्ट्रस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो विभजा वसूनि । अथर्व ३.४-२ ।

[३] आ त्वागन्राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ्विशां पतिः एकराट् त्वं विराज । अथर्व ३. ४. १ ।

[४] ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत्सा हि विजंगहे । तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा । अथर्व ५.१९.४ ।

[५] उग्रो राजामन्यमानो ब्राह्मणं यज्जिघत्सति । परा तत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते । अथर्व ५.१९.१६ ॥

[६] तद्वै राष्ट्रमास्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् । ब्राह्मणं यत्र हिंसन्ति तद्राष्ट्रं दुच्छुनाः । अथर्व ५.१७.८ ।

# ४–कवि कलश।

[ लेखक—मुंशी देवीप्रसाद, जोधपुर। ]

"तुअ तप तेज निहार के, तखत तज्यो अवरंग"

—कवि कलश।

हिंदी के किसी ग्रंथ में अब तक मैंने कवि कलश का हाल नहीं देखा है पर ख़ाफ़ीख़ां की फ़ारसी तवारीख़[1] और जोधपुर के महाराजा अजीतसिंह के संस्कृत इतिहास अजितोदय[2] और राठौर दुर्गदास के पत्रों में कवि कलश का कुछ हाल मिलता है, इन्हीं तीनों के आधार पर यह छोटा सा निबंध लिखा गया है। ख़ाफ़ीख़ां की तवारीख़ तो कवि कलश का उदय और अस्त बताती है। अजितोदय से मरहठा राज्य में उसके ओज और ऐश्वर्य की खबर मिलती है और दुर्गदास के पत्रों से इस असार संसार की उन्नतियों के परिणाम का पता लगता है। यों तो इस निबंध में बहुत सी त्रुटियां हैं परंतु बड़ी भारी त्रुटि यह है कि ऐसे बड़े कवि की कविता के उदाहरण इसमें नहीं हैं जो एक कवि के इतिहास में अवश्य होने चाहिएँ। उसके लिये मैंने दौड़ धूप तो बहुत की परंतु आधे दोहे और एक छंद को छोड़कर और कुछ न मिला। वह मिला तो सहज में ही मिल गया जैसा कि आगे लिखा जायगा।

## ख़ाफ़ीख़ां की तवारीख़ से

मुहम्मद हाशिमख़ां ख़वाफ़ी ने जो ख़ाफ़ीख़ां के नाम से अधिक प्रसिद्ध है अपनी तवारीख़ के दूसरे भाग में लिखा है कि सेवा

---

[1] यह तवारीख़ औरंगजेब के मरे पीछे हिजरी सन् ११२२ [संवत १७६७] में बनी है।

[2] यह इतिहास भी महाराजा अजीतसिंह के पीछे उनके बेटे महाराजा अभयसिंह के राज्य में जगजीवन नामी मारवाड़ी पंडित ने बनाया है। ग्रंथ बड़ा है।

[3] ये पत्र बीलाड़े के दीवानों के दफ़्तर में हैं।

( शिवाजी ) जब कैद से भागा तो ऐसी फुरती और चालाकी से मथुरा में जा पहुँचा कि बादशाही हरकारों और गुर्ज़बरदारों में से जो उसके पकड़ने को हर तरफ़ दौड़ाए गए थे कोई भी उसके पास तक नहीं पहुँचा। मथुरा से वह भेस बदलकर और दाढ़ी मूँछ मुँडाकर अपने कम-उमर बेटे संभा और ४०।५० हरकारों और नौकरों के साथ जो सब मुँह पर राख लगाकर हिंदू फकीरों का रूप बनाए हुए थे इलाहाबाद के रास्ते से बनारस को रवाना हुआ। उसके पास जितने बढ़िया मोल के जवाहरात मुहरें और हून[1] थे उनमें से वह जो कुछ ले जा सका उनको उसने पोली की हुई लाठियों में भरकर बंद कर दिया और कुछ पुराने जूतों में सी लिया।

ये लोग अलग अलग रंग और रूप में गुसाँई और उदासी बनकर इलाहाबाद के रास्ते से बनारस जाते थे। एक एक कीमती हीरा और कई याकूत[2] मोम से लिपटे हुए हरकारों के कपड़ों में सी लिए गए थे और कुछ कई साथियों के मुँह में भी थे।

इस तरह चलते चलते वह एक मकान में पहुँचे जहाँ के फौजदार अलीकुली को गुर्ज़बरदारों और हुक्म के पहुँचने से पहले ही सेवा के भागने और गुर्ज़बरदारों के तैनात होने की ख़बर पहुँच गई थी। इस लिये उसने इन फ़कीरों की जमाअत के पहुँचते ही सबको क़ैद कर लिया और तफ़तीश[3] करने लगा।

एक दिन और एक रात वे सब लोग और बहुत से मुसाफ़िर भी कैद रहे। दूसरी रात आधी गुज़र चुकी थी कि सेवा अकेला थानेदार के पास जा पहुँचा और बोला कि "मैं सेवा हूँ, एक लाख से ज़ियादा कीमत के दो हीरे और याकूत मेरे पास हैं। जो तू यह जानता है कि मुझे जीता पकड़कर भेज दे या मेरा सिर काट कर

---

[1] दक्खन का सुनहरी सिक्का जो ४) में चलता था [ = हूणमुद्रा ]

[2] लाल।

[3] खोज लगाने की कार्रवाई जो आज भी पुलिस करती है।

भेजे तो ये दोनों कीमती नग तेरे वास्ते नहीं रहेंगे। यह मैं हूँ और मेरा सिर है। नहीं तो हम सब मुसाफ़िरों को छोड़ दे।"

मुहम्मद कुली ने रोकड़ सौदे को इनाम की उधार उम्मेद से जो पूरी हो या न हो अच्छा समझकर वे दोनों अनमोल पत्थर ले लिए और सबेरे ही बहुत सी दबाने और धमकाने की 'तफ़तीश' के पीछे सब फ़कीरों और मुसाफ़िरों को छोड़ दिया जिसको सेवा ने नई ज़िंदगी पाना समझा।

जैसे कोई पँखेरू पिंजरे से छूटे वैसेही सेवा फ़ौजदार के जाल से छूटकर बनारस को चला और इलाहाबाद पहुँचा। पैदल चलने में वह सब जल्दी चलनेवालों से आगे निकलता था परंतु संभा के पाँव में छाले पड़ जाने से उसके पाँव में भी बेड़ी पड़ गई, इस लिये उसने कवि कलश को, जो पीढ़ियों से उसके बाप दादाओं का जो कभी बनारस में आए थे, पुरोहित कहलाता था और जिसके पास उनकी मुहर और दस्तखत का लिखत था, ढूंढकर अपने बेटे को कुछ जवाहर और अशर्फ़ियों समेत सौंप दिया और कहा कि जो मैं जीता रहा और अपने मकान पर पहुँच गया तो अपने हाथ से तुझको खत लिखूँगा और तू मेरे लिखे हुए रास्ते और तरीके से संभा को लेकर मेरे पास आ जाना। नहीं तो मैं तुझे और इसे परमात्मा को सौंपता हूँ, पर लड़के के कहने और उसकी मा के लिखने से कभी अपनी जगह से मत हिलना। अपने भरोसे के पुराने ब्राह्मण को भी, जिसने कवि कलश का पता लगाया था, कई वर्ष का खर्च देकर संभा के पास छोड़ा और आप बनारस को चल दिया। जिस दिन वहाँ पहुँचा उसके दूसरे दिन तड़के ही दो घड़ी रात रहे नहाने और पिंडप्रदान करने के लिये गंगा के किनारे पर गया। अभी मूंडन और नहाने से निबटा भी नहीं था और कुछ अँधेरा भी था कि सेवा के भागने, हजूर से गुर्ज़बरदारों के पहुँचने और पकड़ धकड़ करने का गुल गपाड़ा हुआ। जब मैं (ख़ाफ़ीख़ां) सूरत बंदर में था तब बन्हा नामी एक ब्राह्मण ने,

जो यात्रियों की बंदगी करता था, कहा कि ज्योतिष वैद्यक और शास्त्र पढ़ने के लिये कंगाल ब्राह्मण, पास और दूर से, बनारस में जाकर वहाँ के किसी ब्राह्मण को गुरु बना लेते हैं, उससे विद्या पढ़ते हैं और सुबह शाम उसकी तरफ से गंगा किनारे जाकर दस्तूर के मुताबिक वहाँ आनेवालों की ख़िदमत करते हैं और उनसे जो कुछ मिलता है वह ज्यों का त्यों ले जाकर गुरु को दे देते हैं। चेलों को खुराक और पोशाक गुरु देता है। मैं भी बनारस में जाकर इसी तरह ३-४ बरस गुरु की ख़िदमत करता था और जो कुछ मिलता था गुरु को दे देता था। गुरु तंगी और तकलीफ़ में मेरी ख़बर लेता था। एक दिन जब कि कुछ अंधेरा था मैं गंगा पर गया तो एक आदमी ने मेरा हाथ पकड़कर मुट्ठी भर जवाहरात, अशरफ़ियां और हून मेरे हाथ में दिए और कहा—मुट्ठी मत खोल और मुझे जल्दी स्नान करा दे। मैंने खुश होकर अपनी मुट्ठी कुछ खोली तो अशरफ़ी और जवाहरात के सिवा और कुछ दिखाई न दिया। मैं जल्दी जल्दी उसको मुंडन और स्नान कराने लगा, अभी पूरा नहीं करा चुका था कि सेवा के वास्ते गुर्ज़बरदारों के पहुँचने और पकड़ धकड़ करने का कोलाहल मचा और जब तक मैं सँभलूँ वह आदमी जिसकी मैं खिदमत करता था फौरन मेरी आँखों के आगे से लोप हो गया। तब मैंने जाना कि वही सेवा था, मुट्ठी खोलकर गिने तो नौ जवाहरात, नौ अशरफ़ियां और नौ हून निकले। मैंने फिर गुरु को सूरत दिखाना मसलहत न समझा और मैं सीधा सूरत में आ गया। यह मेरी हवेली उसी रकम से बनी है।

निदान सेवा बनारस से बिहार, पटना और चाँदा होता हुआ ज़मींदारों की विकट सरहदों में, जिनसे **कौली**[1] व्यापारियों और कासिदों के सिवाय हर किसीका निकलना मुश्किल है चला जाता था और जहाँ कहीं पहुँचता था वहाँ अपने साथियों सहित नई सूरत बदल लेता था। इस तरह चलता चलता हैदराबाद

---

[1] वचन दिए हुए।

में पहुँचा और वहाँ के बादशाह अबदुल्लाह कुतुबुलमुल्क की मिलावट और फ़ौज से उसके क़िलों को, जो बीजापुरवालों ने दबा रखे थे, उसके वास्ते जीतता हुआ राजधानी राजनगर में पहुँच गया[1] और कुछ दिनों पीछे एक ख़त कवि कलश की तरफ से लिखकर संभा का मरना मशहूर किया और बेटे के शोक में बैठ गया। आस पास के ज़मींदारों, कई अमीरों और राजपूतों ने जो दक्खन में तैनात थे और छिपे छिपे उससे लिखा पढ़ी किया करते थे, मातमपुरसी के खत भेजे। संभा की औरत जवान हो गई थी, उसने सती होना चाहा तो उसको बड़ी मिहनत और खुशामद से रोककर क्रिया कर्म की जो रीत रसमें होती हैं सब उसने अदा कीं। जब सूरत बंदर और उन तरफों के हरकारों और अख़बार लिखनेवालों की लिखावटों से यह ख़बर बादशाह को पहुँची तो बादशाह ने फ़रमाया कि "खसकम जहां पाक" अर्थात् कूड़ा गुमा और जहान पाक हो गया। इस बात को ४-५ महीने भी नहीं गुजरे थे कि संभा कवि कलश के साथ इलाहाबाद से आ पहुँचा और सेवा ने खुशी के ढोल दमामे खूब घुराये। उसकी औरत और पास के रहनेवालों ने उस बुरी खबर के मशहूर करने का सबब पूछा तो उसने कहा कि जो उस खबर के मशहूर करने से बादशाह को ग़ाफ़िल और लड़के ढूँढ़ने की तलाश से बेफ़िक्र नहीं कर देता तो दो महीनों की दूरी से रास्ते की पकड़ धकड़ देखते हुए लड़के का पहुँचना मुश्किल था। सन् १०९१ हिजरी ता० २४ रबीउल-आख़िर (जेठ बदी १० वि० सं० १७३७) को सेवा मर गया। संभा ने उसकी जगह बैठकर कवि कलश ब्राह्मण को, जो उसके साथ इलाहाबाद से आया था, अपना दीवान और राज के कामों का मुख़तार बनाया।

सन् १०९१ हिजरी ( वि० सं० १७३६-७ ) में शाहज़ादा

---

[1] शिवाजी दिल्ली से ताः २७ सफर सन् हिजरी १०७७ ( भादों बदी १४ सं० १७२३ ) को भागा था और ९ महीने पीछे अपने घर पहुँचा।

अकबर, जो अपने बाप से बाग़ी हो गया था, बादशाही फ़ौज से लड़ता भिड़ता भागता बगलाने के पहाड़ों और फ़रंगियों की सरहदों में होकर संभा के राज्य में राहेरी के पास आ पहुँचा[1]। संभा ने पेशवाई करके राहेरी के किले से तीन कोस पर अपने हाकिम के रहने की जगह में ठहराया और खर्च का बंदोवस्त कर दिया मगर उसमें शाहज़ादे का पूरा नहीं पड़ता था। इसपर एक दिन वहाँ के क़ाज़ी ने बेवक़ूफ़ी और खुशामद से शाहज़ादे के सामने संभा को कहा कि महाराज के दुश्मन पामाल हों। बादशाहज़ादे ने ख़फ़गी से क़ाज़ी को बेवक़ूफ़ कहकर संभा से कहा कि हमारे हजूर में ऐसी बातें कहना और सुनना तुमको अच्छा नहीं है। फिर इसके साथ ही बादशाही फ़ौज के आने की ख़बर मशहूर हुई इस लिये शाहज़ादा वहाँ ठहरना ठीक न समझकर जहाज में बैठकर ईरान को चला गया[2]।

सन् १०९५ ( वि० संवत् १७४०-१ ) में बादशाह ने संभा के मुल्कों में से बहादुरगढ़ गुलशनाबाद पर शाहज़ादे आज़मशाह को, राजगढ़ वग़ैरह पर ख़ान फीरोज़जंग को और खुद संभा पर मुकर्रबखां ( शेख़ निज़ाम हैदराबादी ) को भेजा। शेख निज़ाम ने परनाले का किला फतह करने के वास्ते कोल्हापुर के पास पहुँचकर संभा के पीछे जासूस लगाए। संभा ने उपद्रव करने में अपने बाप से आगे बढ़कर अपना नाम संभा सवाई रख लिया था और अब वह अपने असली मकान राहेरी को छोड़कर खेलने के किले में रसद वगैरह का बंदोवस्त करके बादशाही फौज से ग़ाफ़िल होकर मानगंगा के स्नान और सैल सपाटे के वास्ते संगमनेर की तरफ़ गया था। वहाँ कवि कलश ने बाग़ लगाया था और एक बड़ा मकान भी बनाया था जिसमें खूब चित्राम किया हुआ था। उसका जनाना

---

[1] ता० ७ जादिउल अव्वल सन् १०९२, जेठ सुदी ९ सं० १७३८—मआसिर आलमगीरी, पृ. २०६।

[2] ता० १८ सफर सन् १०९४, फाल्गुन बदी ५ संवत् १७२६, ता० ६ फरवरी १६८२।

और कम उमर लड़का साहू और कवि कलश भी साथ था। स्नान के पीछे विकट जगह देखकर संभा वहीं उतर पड़ा और अपने बाप की चाल के खिलाफ़ शराब और भोग विलास में पड़ गया। मुकर्रबख़ाँ के हरकारों ने यह ख़बर उसको दी। वह कोल्हापुर से ४५ कोस जंगल झाड़ियों और आसाघाटे जैसे विकट घाटों में चलकर बड़ी मुश्किलों से २००० चुने हुए सवारों के साथ संभा तक जा पहुँचा। संभा के हरकारे दुश्मन के आने की ख़बर देते रहे पर उस ग़ाफ़िल और घमंडी ने ऐसे विकट रास्तों से दुश्मन के पहुँचने की ख़बरों को ग़लत समझकर उनकी ज़बानें काटने का हुक्म दे दिया, लशकर तैयार करने और मोरचे बाँधने की कुछ फ़िक्र और तदबीर नहीं की।

जब मुकर्रबखां अपने भाई भतीजों, १०। १२ दूसरे रिश्तेदारों और २००। ३०० सवारों के साथ तलवारें खैंचे हुए संभा के सिर पर आ पहुँचा तब वक्त और काम हाथ से निकल चुका था। तो भी जितनी फौज पास थी, और बहुत सी उसमें से छिप भी गई थी, उसीके साथ कमर और हथियार बाँधकर लड़ने को तैयार हुआ। उसका वज़ीर कवि कलश जो उसके सब मुसाहिबों में बड़ा बहादुर और नमकहलाल कहाता था, संभा को अपनी पीठ के पीछे रखकर कुछ नामी मरहठों के साथ लड़ने को आगे बढ़ा। लड़ाई शुरू होते ही एक तीर उसकी दाहिनी बांह में लगा जिससे हाथ बेकार हो गया और उसने घोड़े से गिर कर पुकारा कि मैं रहा। संभा जो भागने की फिक्र में था घोड़े से कूदकर बोला कि पानजी (पांडेजी) मैं भी रहा। ४। ५ मरहठे सरदारों के मारे जाने के पीछे संभा के बाकी आदमी भी भाग गए। कवि कलश पकड़ा गया। संभा मंदिर में जाकर छुप गया, ढूंढने से मिला और बेफ़ायदा हाथ पांव मारने लगा। आख़िर कई आदमियों को कटवाकर गिरफ़तार हुआ। उसके साथ २६ मर्द, ८ बरस का बेटा साहू और २ औरतें, उसके रिश्तेदारों मुसाहबों समेत, पकड़े गए। सिर्फ़ उसका भाई रामराजा बचा जो किसी किले में कैद था।

सब कैदियों को बांधकर बाल खैंचते हुए मुकर्रबख़ां के हाथी के पास लाए। संभा ने उतनी सी ही फ़ुरसत में डाढ़ी मूँड़कर मुँह पर राख मलकर कपड़े बदल लिए थे। तो भी मोतियों की माला से जो कपड़ों में नज़र आई, और सवारी के घोड़े के पाँव में सोने की पायल होने से, वह पहिचान लिया गया और ख़ान ने उसको अपने हाथी पर बैठाया। बाक़ी को तौक़ और जंज़ीरें पहिनाकर हाथियों और घोड़ों पर सवार कराकर ख़ान बड़ी सावधानी से अपने डेरे पर लाया और उसने फ़तह का डंका बजाकर हज़ूर में हक़ीक़त लिखी, पर उसकी अरज़ी पहुँचने से पहले ही हरकारों ने यह खुशखबरी पहुँचा दी थी जिससे डेरे डेरे में खुशी होने लगी थी।

जब मुकर्रबख़ां अकलोज से दो कोस पर पहुँचा जहाँ बादशाह के डेरे थे तब बादशाह ने हमीरखां व कोतवाल को उसकी पेशवाई में भेजा। लाखों आदमी तमाशा देखने को जमा हो गए।

सब कैदियों को ईरान के दस्तूर के मुआफ़िक तख़ता कुलाह[1] और हँसी ठट्ठे का लिबास[2] पहिनाकर बड़ी बड़ी तकलीफें देते हुए ऊँटों पर सवार करके बहुत ख्वारी और ख़राबी से लोगों को दिखाते हुए लशकर में लाये। नक्कारे बजने लगे और कई लाख हिंदू मुसलमान जो उस ज़ालिम के जुल्मों से जले हुए थे खुश हो गए।

कहते हैं कि उन ४। ५ दिनों में जब कि मुकर्रबख़ां के पहुँचने की खबरें पहुँचती थीं, औरतें क्या, मरद तक नहीं सोए थे और दो मंजिल तक खुश खुश पेशवाई को गए थे। रास्ते और आस पास के गाँव गाँव जहाँ कहीं खबर पहुँचती थी लोग खुशी से ढोल बजाते थे और जहाँ होकर ये लोग निकलते थे वहाँ के मर्द औरत्त छतों पर चढ़कर तमाशा देखते थे। लेने और पहुँचाने को भी जाते थे। कई दिनों तक दुनिया की रात शबेबरात की रात और दिन ईद का दिन हो गया था।

ग़रज इस ख्वारी और फ़ज़ीहती के साथ उन्हें दरगाह में (बाद-

---

[1] कैदियों के पहिनने की टोपी। [2] जिसको देखकर लोग हँसें।

शाह के सामने ) लाए तो बादशाह दरबार किये बैठे थे, अमीर और सरदार सब जमा थे । उनको तख़्त के पास लाने का हुक्म हुआ । बादशाह देखते ही खुदा का शुक्र करते हुए तख़्त से उतर गए और नमाज पढ़ने लगे ।

कवि कलश ने जो हिंदी शैर कहने में मौज़ूँ ( तुली हुई ) तबिअत रखता था और उस वक्त जिसका तमाम बदन ज़ख़्मों से छिपा हुआ था और जिसकी आँखों और जीभ के सिवाय कोई अंग प्रत्यंग हिल भी नहीं सकता था, तो भी संभा की तरफ आँख का इशारा करके फौरन एक हिंदी शैर ( दोहा ) इस मज़मून का पढ़ा कि ऐ राजा ! तेरे देखते ही आलमगीर बादशाह को उतनी शौकत और हशमत के होते हुए भी तख़्त पर बैठे रहने की ताक़त नहीं रही और बेअख़्तियार ( अपने आपे में न रहकर ) तेरी ताज़ीम के वास्ते तख़्त से उठ गया ।[1]

बादशाह ने दोनों को कैदखाने में भेज दिया । कई ख़ैरख़्वाहों की यह राय थी कि उनको जान की अमानत देकर किलों की कुंजियाँ ले लें और फिर उनको किसी किले में क़ैद रखें । पर उनको तो यह यकीन था कि आखिर तो सूली होगी और कैद रहने में कुछ मज़ा नहीं है, तरह तरह की तकलीफें भुगतनी पड़ेंगी । इस वास्ते वे दोनों ( संभा और कलश ) जो चाहते थे बकते थे, बादशाह और बादशाही बंदों को बुरा भला कहते थे । इधर खुदा की मरज़ी भी ऐसी थी कि दक्खन का मुल्क उन लोगों ( मरहठों ) से पाक और साफ न होवे और बादशाह की बाकी उमर भी लड़ाइयों और किलों के लेने में पूरी हो जावे । इस लिये बादशाह अमानत देने और कुंजियाँ लेने पर राजी न हुए और फरमाने लगे कि किले तो जल्दी फ़तह हो जावेंगे । दोनों की बदज़बानी बंद करने के लिये उन्होंने उनकी ज़बानें

---

[1] इस चमत्कारी दोहे के पिछले ही चरन कई बरस ढूँढ़ते ढूँढ़ते अकस्मात् एक दिन भट्ट नानूराम से मिले हैं—तुअ तप तेज निहार के तख़्त तज्यो अवरंग ।

और आँखें निकालने का हुक्म दे दिया और वे इस तरह १०-११ आदमियों के साथ मारे गए[१] ।

संभा और कवि कलश के कल्लों ( चहरों ) में भूसा भराकर दक्खन के सब शहरों और बस्तियों में बाजे गाजे से फिराने का हुक्म दिया और उसके आठ बरस के छोकरे और दूसरे आदमियों की जाँबख़शी करके गुलालबाड़ा[२] के भीतर रखने का हुक्म फरमाया और समझदार आदमी उसकी संभाल पर तैनात किए, उसको ७ हज़ारी मनसब बख़श कर उसके दीवान बख़शी भी अपने हजूर में मुकर्रर कर दिए । साँप को मारने सांप के बच्चे को पालने, आग को बुझाने और चिंगारी को रख छोड़ने का जो फल होता है वह बादशाह के मरे पीछे लगा । भेड़िये का बचा आदमियों में बड़ा होकर भी आख़िर में भेड़िया ही होता है ।

दूसरी कई औरतें जिनमें संभा की माँ और उसकी बेटी भी थीं कैद रहने के लिये दौलताबाद के किले में भेज दी गई ।

## अजितोदय से

जब दुर्गदास और शाहज़ादे अकबर के पहुँचने की ख़बर राजा शंभु को मिली तो उसने अपने दीवान कवि कलश से पूछा कि इन दोनों को जो आए हैं अपने देश में रखना ठीक है या नहीं । कवि कलश ने कहा कि महाराज एक तो दिल्ली के बादशाह का शाहज़ादा है दूसरा महाराजा अजीतसिंह का उमराव है, सो

---

[१] मआसिर आलमगीरी में लिखा है कि जिस दिन संभा और कवि कलश को बादशाह के हजूर में लाये थे उसी रात को संभा की आँखें निकाली गई थीं, दूसरे दिन कवि कलश की जीभ काटी गई थी और वे दोनों २९ जमादिउल अव्वल सन् ११०० ( चैत सुदी २ सं० १७४६ ता० ११ मार्च १६९० ई० ) को कूरा गांव फतेहाबाद में तलवार से मारे गए थे जहाँ बादशाह का लशकर २१ जमादिउल अव्वल चैत वदी ८ सं० १७४५ ता० ४ मार्च सन् १६९० को पहुँचा था ।

[२] बादशाही डेरों के चारों तरफ की लाल क़नात जो कई मील के घे में खड़ी की जाती थी और बड़े शहर के कोट के समान होती थी ।

इनको बहुत आदर सत्कार कर रखना चाहिए। इसमें आपका बड़ा यश होगा। महाराज ने कहा कि तुम अच्छी तरह से विचार करलो और जो तुमको अच्छा लगे वही करो। कवि कलश ने उनको बुलाकर झाड़ियों से छिपे हुए एक मकान में बड़े आदर सत्कार से रखा और खाने पीने कपड़े लत्ते का बंदोबस्त करके बहुत सा धन माल सोना रत्न और घोड़ा आदि दिया जिससे वे सुख पाकर कुछ समय तक वहाँ रहे ( सर्ग १२, श्लोक २७ । २८ )।

फिर अकबर ने दुर्गदास से कहा कि इस राजा के राज में रहते बहुत दिन हो गए, अब तुम जाकर कहो कि हम मारवाड़ जाना चाहते हैं सो हमको विदा कर दो।

दुर्गदास ने जाकर कवि कलश से और कवि ने राजा शंभु से कहा। राजा ने शाहजादे को जवाहरात, बहुत घोड़े, दो हाथी, और रास्ते खर्च के वास्ते रुपये दिए और कवि कलश के बेटे गणपति की अफ़सरी में सेना भी साथ की।

दुर्गदास अच्छे ज्योतिषी से मुहूर्त्त पूछकर राजा से विदा हुआ। राजा कुछ दूर पहुँचाने को गया, फिर ये गणपति को साथ लेकर चले। मुकर्रबख़ां यह सुनकर अपनी और बादशाही फौज के साथ लड़ने को सामने आया। दुर्गदास ने अकबर से कहा कि अब आप मेरा लड़ना देखें कि मैं क्या करता हूँ। दक्खिनी लोग तो जो पहुँचाने को साथ आये थे बादशाही फौज को देखते ही लौट गए पर दुर्गदास अपने सरदारों के साथ मुसलमानी फौज पर जा पड़ा और उसको हथियारों से काटने छाँटने लगा। मुकर्रबख़ां अपने लोगों को मरा देखकर रण छोड़ भागा। दुर्गदास ने अपने खेत पड़े आदमियों को पहिचान पहिचान कर दाग़ दिया (दाह किया) और अकबर के पास जाकर कुल हाल अर्ज़ किया।

अकबर ने डरकर कहा कि इतने थोड़े आदमियों से मारवाड़ में नहीं पहुँच सकते, तुम जाकर फौज ले आओ तब तक मैं यहीं रहूँगा, जब तुम फौज ले आओगे तो मारवाड़ चलूँगा।

अकबर यह कहकर घोड़े पर सवार हुआ और राजा शंभु (संभा) के पास जाने लगा। दुर्गदास ने घोड़े को पकड़कर कहा कि हमसे ऐसा क्या दोष हुआ है कि आप हमको छोड़कर पीछे जाते हैं। आप हमारे मालिक हैं, हम आपके चाकर हैं जिन्हें आप बिना कसूर छोड़कर जाते हैं। हम लोगों में कुछ दोष निकालकर जाइए, यों इस परदेश में अपने चाकरों को छोड़ना वाजिब नहीं है। किंतु अकबर ने उन मुल्कों में बादशाही फौज ज़ियादा और अपने पास थोड़े आदमी होने से उसका कहना नहीं माना, दुर्गदास को खिलअत, घोड़े देकर बड़ी मेहरबानी से बिदा किया और आप शंभु (संभा) राजा के पास गया। उससे बिदा होकर जहाज में बैठा और हबशियों की विलायत में गया। दुर्गदास मारवाड़ में चला आया (सर्ग ११, श्लोक १ से १० तक)।

## मारवाड़ में कवि कलश के कुटुंबी और उनका पालन पोषण।

राठौड़ दुर्गदास के लिखे हुए कई पत्र दीवान बीलाड़े[1] के दफ़तर में हैं। एक पत्र से ऐसा जाना जाता है कि संभा के पीछे जो आफ़त सेवा जी के घराने पर आई उसमें कवि कलश के घरवाले जो दक्खिन में थे किसी तरह जान बचाकर मारवाड़ में आ गए थे। मारवाड़ में भी (बादशाही) अमलदारी हो जाने से गड़बड़ मची हुई थी इस लिये दुर्गदास ने उन्हें उदयपुर में भेज दिया था। पर वहां भी नहीं बनी तो दुर्गदास ने उनके लिये १।।)रु० रोज मेड़ते के पर्गने पर करके बीलाड़े के उस समय के दीवान भगवानदास को सिफ़ारिश का ख़त मारवाड़ी भाषा में लिख दिया जिसका खुलासा यह है—

(अलक़ाब मामूली॰ के पीछे) अपरंच भट कवि कलश का

---

[1] बीलाड़े में एक आईजी [माताजी] का मंदिर है वहां अखंड ज्योति की पूजा होती है। वहां के अधिष्ठाता महंत 'दीवान' कहलाते हैं। उनके यहां ऐतिहासिक पत्रों का बहुत बड़ा और उपयोगी संग्रह है जिसका हाल फिर कभी लिखा जायगा।

कबीला यहां आया था। यहां रखने का तो सबब (सुभींता) न हुआ उदयपुर भेज दिया था। वहां तो इनको हरामख़ोर[1] ठहराया सो किस्मत इनकी कि वहां नहीं बनी, जिससे १।।)रु० रोज़ीना मेड़ते[2] पर कर दिया है और ५०) की हुंडी यहां से व्यास नरोत्तम को भेजी है। इनके कबीलों को मेड़ते पहुँचा देना। जो इतने रुपये काफ़ी न हों और २५) वक्र खरच की ज़रूरत हो तो सरबरा (प्रबंध) करा देना। हम यहां से राज (आप) को भिजवा देंगे परंतु बहू बाई[3] उदयपुर में हैं, वहां से बुलाकर मेड़ते को गाड़ी कराकर साथी साथ देकर हर तरह से मेड़ते तक पहुँचती करना। लौटते हुए कागज से समाचार जल्दी देना। संवत् १७६२[4] असाढ़ सुदी १३।

## कवि कलश की कविता।

मेरे पास २। ३ हजार कवियों की कविता संग्रह की हुई है। उसमें तो कवि कलश का एक भी छंद नहीं है। मिश्रबंधु-विनोद के दूसरे भाग के पृष्ठ १०१३ में एक कवित्त कवि कलश के नाम से दिया है। आधे दोहे का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

---

[1] उस समय उदयपुर में राना अमरसिंह थे। इन लोगों को जो विपदा के मारे दक्खिन से शरणागत हुए थे हरामख़ोर क्यों ठहराया गया यह बात समझ में नहीं आती। वीरविनोद से भी इसका कुछ पता नहीं लगता।

[2] मेड़ते की कचहरी या तहसील पर।

[3] बहूबाई कौन थी यह भी समझ में नहीं आता। इसका अर्थ बहू और लड़की का भी होता है और जो बहूबाई एकही शब्द हो तो ऐसा अनुमान हो सकता है कि कवि कलश की बहू [ स्त्री ] ने शायद दुर्गदास को राखी बांधकर भाई बनाया हो जैसा कि राजपूताना में कायदा है और दुर्गदास ने भी इसी लिहाज़ से या कवि कलश की सहायता के बदले में उनके साथ यह सलूक किया हो।

[4] यहां संवत् १७६२ मारवाड़ी है जो सावन बदी १ से लगता है और असाढ़ सुदी १५ को पूरा होता है और "टीपणे" अर्थात् पंचांग का संवत् चैत सुदी १ से ही लग जाता है। इस हिसाब से यह असाढ़ सुदि १३ संवत् १७६३ है।

अंग अरसोहैं छबि अधरन सोहैं,
चढ़ि आलस की भौंहैं धरे आभा रति रोज की।
सुकवि कलश तैसे लोचन पगे हैं नेह,
जिनमें निकाई अरुणोदय सरोज की ॥
आछी छबि छाके मंद मंद मुसकान लागी,
बिचल बिलोकि तन भूषन के फौज की ॥
राजे रद मंडली कपोल मंडली में मानो,
रूप के खजाने पर मोहर मनोज की [1]॥

---

[1] संभा जी [ नृप शंभू ] की कविता भी कवि कलश की कविता से बहुत मिलती है। कदाचित् वह कवि कलश ने ही उनके नाम से की हो या उन्होंने कवि कलश से कविता करना सीखा हो जिससे मिलने की झलक आ गई है पर वह कविता अलग उनके हाल में ही लिखी जा सकती है। शिवसिंहसरोज में भूल से नृप शंभू को सोलंकी राजा लिख दिया है। वे राजपूत नहीं मरहठे थे।

# ५–विदुषी स्त्रियाँ।

[ लेखक—पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी, बी॰ ए॰, अजमेर। ]

## (१) अवंतिसुंदरी।

अवंतिसुंदरी राजशेखर की स्त्री थी। स्त्री के वर्णन में पति का वर्णन करना पड़ता है।

राजशेखर ने अपने को 'यायावरीय' अर्थात् यायावर ऋषि के कुल में उत्पन्न कहा है। जहां जहां काव्यमीमांसा में उसने अपना मत पुराने आचार्य्यों से भिन्न दिया है वहाँ अर्थशास्त्र के 'इति कौटिल्यः' 'नेति कौटिल्यः' के ढंग पर 'इति यायावरीयः' 'नेति यायावरीयः' आदि लिखा है। धनपाल ने तिलकमंजरी के आरंभ में उसे यायावर कवि कहा है। उदयसुंदरी के कर्त्ता सोड्ढल ने भी उसे यायावर कहा है। उसका प्रपितामह अकालजलद महाकवि था। मालूम होता है कि उसका नाम कुछ और था, 'भेकैः कोटरशायिभिः–' आदि चमत्कारी श्लोक पर से, जो सुभाषितावलियों में 'किसी दाक्षिणात्य' के नाम से दिया है और जिसमें अकालजलद पद आया है, उसका यह नाम पड़ा। ऐसे ही क्रीडाचंद्र, चंडालचंद्र, आदि कवियों के नाम पड़ गए हैं। चेदि देश का भूषण सुरानंद, तरल, कवि राज, आदि प्रसिद्ध कवि भी उसी याथावर कुल में हुए थे। राजशेखर का पिता दुर्दुक या दुहिक महामंत्री था और उसकी माता का नाम शीलवती था।

राजशेखर कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का उपाध्याय था और उसके पुत्र महीपाल से भी सम्मानित था। सियोडोनी लेख के अनुसार महेंद्रपाल विक्रम संवत् ९६० और ९६४ में और महीपाल ९७४ में विद्यमान था। यही राजशेखर का समय है।

राजशेखर ने पहले बालरामायण और बालभारत की रचना की और बाल कवि उपनाम पाया। विद्धशालभंजिका (विंधी पुतली)

और कर्पूरमंजरी नाटिका (प्राकृत) भी उसकी रचना हैं। पीछे उसने काव्यमीमांसा नामक अपूर्व ग्रंथ बनाया जिसका संस्करण एक ही अधूरी प्रति पर से गायकवाड़-प्राच्य-पुस्तक-माला में निकला है[१]। ऐसे ग्रंथ को खोज निकालने और छापने का प्रभूत यश मि० दलाल, पं० अनंत कृष्ण शास्त्री और गायकवाड सयाजीराव महाराज को है। हेमचंद्र ने काव्यानुशासन विवेक में राजशेखर के हरविलास काव्य का उल्लेख करके उसमें से दो श्लोक उद्धृत किए हैं। उज्ज्वलदत्त ने उणादि सूत्र टीका में भी हरविलास का एक आधा श्लोक उद्धृत किया है। यह हरविलास महाकाव्य अभी नहीं मिला। संभव है कि सूक्तिमुक्तावली में जो कई कवियों की प्रशंसा के श्लोक दिए हैं वे इसी काव्य के उपक्रम के हों अथवा काव्य मीमांसा के अनुपलब्ध अंश में से हों।

काव्यमीमांसा में भुवनकोश नामक भूगोल विषयक बड़े ग्रंथ की रचना का भी उल्लेख है। उज्ज्वलदत्त ने एक आधा श्लोक राजशेखर के नाम से दिया है जिससे मान सकते हैं कि उसने कोई कोश भी बनाया हो।

चारण जाति के मंगन मोतीसर[२] जब चारणों को बढ़ावा देते हैं तो उन्हें 'अबरी का केड' अर्थात् अबरी (यायावर) के वंशज कहते हैं। यायावर एक प्रकार के वानप्रस्थ ऋषि या ब्रह्मज्ञानी गृहस्थ होते थे जो सदा चलते ही रहते थे, उनका नियत स्थान न था। संभव है कि चारण उन्हीं यायावरों में से हों। राजशेखर ने काव्य-मीमांसा में कवियों के दस दर्जे गिनाए हैं। काव्यविद्यास्नातक, हृदय-कवि, अन्यापदेशी, सेविता, घटमान, महाकवि, कविराज, आवेशिक, अविच्छेदी, और संक्रामयिता। जो सब भाषा, सब प्रबंध और सब

---

[१] इस संस्करण की भूमिका में राजशेखर विषयक बातें अच्छी तरह संगृहीत हैं। टामस की कवींद्रवचनसमुच्चय की भूमिका में भी हैं।

[२] ना. प्र. पत्रिका, भाग १ अंक २ पृष्ठ १३३, टिप्पण ५२।

रसों में स्वतंत्र हो वह कविराज कहलाता है । राजशेखर कर्पूरमंजरी में अपने को कविराज कहता है ।

इस राजशेखर की स्त्री अवंतिसुंदरी थी। वह चाहुआण (चौहान) कुल की थी। ब्राह्मणों की क्षत्रिय स्त्री होना कोई विरल बात नहीं है। एक ही ब्राह्मण की ब्राह्मण स्त्री से संतान ब्राह्मण और क्षत्रिय स्त्री की संतान के क्षत्रिय होने के कई प्रमाण हैं, जैसे राजा बाउक के लेख में प्रतीहारों की उत्पत्ति । कर्पूरमंजरी नाटिका का पहला अभिनय उसीकी इच्छा से हुआ था[1] ।

वह बड़ी विदुषी थी । काव्यमीमांसा में तीन जगह उसका मत पति ने उद्धृत किया है, जिससे मालूम होता है कि उसने काव्य-शास्त्र पर कोई ग्रंथ लिखा होगा ।

( १ ) "कविता का 'पाक' क्या है ? वामन के मतवाले कहते हैं कि कवि ऐसे पद बैठावे जो बदले न जा सकें, वही शब्दपाक है । इसपर अवंतिसुंदरी का मत है कि यह तो अशक्ति हुई, पाक नहीं । एक वस्तु पर महाकवियों के अनेक पाठ भी पाकवान् होते हैं, इस लिए रसोचित-सूक्ति होना ही पाक है । उसने कहा भी है—गुण, अलंकार, रीति, उक्ति, शब्द, अर्थ इनके गांठने का क्रम जैसे विद्वानों को अच्छा लगे वही मेरे मत में वाक्यपाक है । कहनेवाला भी हो, अर्थ भी हो, शब्द भी हो, रस भी हो, तो भी कुछ और चीज़ बाकी रह जाती है जिसके विना वाणी मधु नहीं टपकाती" । ( पृष्ठ २० )

( २ ) "अर्थ चाहे रस के अनुगुण हो या विगुण, काव्य में कविवचन ही रस उपजाते या बिगाड़ते हैं, अर्थ नहीं । ...पाल्यकीर्ति का मत है कि वस्तु का रूप कैसा ही हो रसीलापन तो कहनेवाले के अधीन है । जिस अर्थ को रागी सराहेगा उसीको विरागी धिक्कारेगा और मध्यस्थ उससे उदासीन रहेगा । ...अवंतिसुंदरी

---

[1] चाहुआणकुलमोलिमालिआ राअसेहरकविन्दगोहिणी ।
भत्तुणो कइमवंतिसुंदरी सा पउञ्जयिदुमेअमिच्छइ ॥
[ कर्पूरमंजरी १–११ ]

कहती है कि वस्तु के रूप का स्वभाव नियत नहीं है, वह तो विदग्ध के कहने के ढंग के अधीन है, उससे जाना जाता है। वह कहती है कि काव्य में उक्ति के वश से गुण या अगुण होते हैं, वस्तुस्वभाव कवि के किसी काम का नहीं, चंद्रमा की स्तुति करनेवाला उसे 'अमृतांशु' कहता है और धूर्त उसकी निंदा करता हुआ उसे 'दोषाकर' ( रात करनेवाला, और 'दोष + आकर ) कह डालता है"। ( पृष्ठ ४५-४६ )

( ३ ) काव्य की चोरी पर राजशेखर ने बहुत लिखा है । अंत में सिद्धांत किया है कि 'न तो बनिये अचोर हो सकते हैं और न कवि अचोर, वही बिना बदनामी के गुलछर्रे उड़ाता है जो छिपाना जाने[1] ।

इस विचार में पूर्वपक्ष किया है कि चोरी न सिखानी चाहिए, क्योंकि समय बीत जाने पर मनुष्य की और चोरियाँ हट जाती हैं किंतु वाक्चौर्य पुत्र पौत्रों तक भी नहीं हटता[2] ।

इसपर अवंतिसुंदरी कहती है—'इस ( दूसरे कवि ) की प्रसिद्धि नहीं, मेरी है; इसकी प्रतिष्ठा नहीं, मेरी है; इसका संविधानक (प्लाट) अक्रम है, मेरा क्रमयुक्त है; इसके वचन गिलोय के जैसे, मेरे अंगूर के ऐसे; यह भाषा विशेष का आदर नहीं करता, मैं करता हूँ; इसके ( रचना के ) जाननेवाले मर गए, इसका कर्त्ता देशांतर में है; यह बीती बात को बाँधने या अशुद्ध अथवा क्रोधयुक्त रचना पर अवलंबित है, इत्यादि कारणों से शब्द या अर्थ के चुराने में मन लगावे' (पृ० ५७ ) ।

अवंतिसुंदरी ने **प्राकृत कविता में आने वाले 'देशी' शब्दों का एक कोश बनाया और उसमें प्रत्येक शब्द के प्रयोग के स्वरचित उदाहरण दिए। हेमचंद्र ने अपनी देशी नाममाला**

---

[1] नास्त्यचौरः कविजनो नास्त्यचौरो वणिग्जनः । स नन्दति विना वाच्यं यो जानाति निगूहितुम् ॥

[2] पुंसः कालातिपातेन चौर्यमन्यद् विशीर्यति । अपि पुत्रेषु पौत्रेषु वाक्चौर्यं न विशीर्यति ॥

में दो जगह ( १।८१, १।१२५ ) अवंतिसुंदरी के मतभेद का उल्लेख करके उसकी उदाहरण कविता उद्धृत की है ।

(१) '**इंदमह**'–हेमचंद्र का अर्थ–कँवारी का पुत्र । अवंतिसुंदरी का अर्थ–कुमार अवस्था, जैसा कि उसीने उदाहरण दिया है[1]

उवहसए एराणि इंदो इन्दीवरच्छि एताहे ।
इंदमहपेच्छिए तुह मुहस्स सोहं णिअच्छन्तो ॥[2]

(२) **ओहुर**=खिन्न ( हेमचंद्र ); झुका या लटका हुआ ( अवंतिसुंदरी ), जैसा कि उसीने उदाहरण दिया है ?

खणमित्तकलुसिआए लुलिआलयवल्लरीसमोत्थरिअं ।
भमरभरोहुरयं पङ्कयं व भरिमो मुंह तीए ॥[3]
किं तं पि हु वीसरिअं णिक्किव जं गुरुअणस्स मज्झम्मि ।
अहिधाविऊण गहिओ तं ओहुरउत्तरीआए ॥[4]

ऐसी प्रौढ़ नायिका के पति के स्त्रीशिक्षा के विषय में क्या विचार होने चाहिएँ ? "पुरुषों की तरह स्त्रियाँ भी कवि हों । संस्कार तो आत्मा में होता है, स्त्री या पुरुष के विभाग की अपेक्षा नहीं करता । राजाओं और मंत्रियों की बेटियाँ, वेश्याएँ, कौतुकियों की स्त्रियाँ, शास्त्रों में निष्णात बुद्धिवाली और कवि देखी और सुनी जाती हैं" । ( काव्यमीमांसा, पृ० ५३ ) ।

---

[1] यदुदाहरति स्म ।

[2] हँसी करता है, इंद्राणी को ( की ) इंद्र, हे कमलनयनी, अब, हे जवानी से भरी हुई, तेरे, मुख की, शोभा को, देखता हुआ ।

[3] क्षण मात्र में ही रूठी हुई ( नायिका ) का, बिखरे बालों की बेल से बिछा हुआ, भौंरों के बोझ से झुका हुआ, कमल सा, मानते हैं, मुख, उसका ।

[4] क्या, वह, भी, ही, भूल गया, निर्दय !, जो, गुरुजनों के, मध्य में, दौड़कर, पकड़ा था, तू, (मुझ) लटकते हुए दुपट्टेवाली ने ?

## ६—अशोक की धर्मलिपियाँ।

[ लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, और पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी, बी० ए०। ]

### [ क ५—पाँचवाँ प्रज्ञापन। ]

[ पत्रिका भाग १, पृष्ठ ५०७ के आगे। ]

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १ | देवानं | पिये | पियदसि | लाजा | | अहा | कयाने |
| गिरनार | २ | देवानं | प्रियो | पियदसि | राजा | एवं | आह | कलाणं |
| धौली | ३ | . वानं | पिये | पियदसी | लाजा | हेवं | आहा | कयाने |
| जौगड़ | ४ | देवानं | पिये | पियद · | . . | . . | . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५ | देवन | प्रियो | प्रियद्रशि | रय | एवं | अहति | कलणं |
| मानसेरा | ६ | देवनं | प्रिये | प्रियद्रशि | रज | एवं | अह | कलणं |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रिय: | प्रियदर्शी | राजा | एवं | आह। | कल्याणं |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं के | प्रिय | प्रियदर्शी | राजा ने | ऐसा | कहा है। | कल्याण |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७ | दुकले | ए | आदिकले | कयानसा | से | दुकलं |
| गिरनार | ८ | दुकरं | ये | आदिकरे | कलाणस | सो | दुकरं |
| धौली | ९ | दुकले | ए | . . . . | कयानस | से | दुकलं |
| जौगड़ | १० | . . . | . | . . . . | . . . . | . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ११ | दुकरं | यो | अ · · रो | कलणस | सो | दुकरं |
| मानसेरा | १२ | दुकरं | ये | अदिकरे | कयणस | से | दुकरं |
| संस्कृत-अनुवाद | | दुष्करम् । | यः | यदि कुर्यात्<br>आदि कुर्यात्<br>आदिकरः | कल्याणस्य | सः | दुष्करं |
| हिंदी-अनुवाद | | दुष्कर[है] । | जो | यदि करे<br>आरंभ करे<br>आरंभ करनेवाला[होता है] | कल्याण का<br>(= को) | सो | दुष्कर(काम) को |

१२

| | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३ | कलेति | से | ममया | बहु | कयाने | कटे | ता | | मम |
| गिरनार | १४ | करोति(३९) | त | मया | बहु | कलाणं | कतं | त | | मम |
| धौली | १५ | कलेति | से | मे | बहुके | कयाने | कटे | तं | ये | मे |
| जौगड़ | १६ | . . . | . | . | . . . | . . . | . . | . | . | . |
| शहवाज़गढ़ी | १७ | करोति | सो | मय | बहु | कलं | किट्रं | तं | | मह |
| मानसेरा | १८ | करोति | तं | मय | बहु | कयणे | कटे | तं | | मम्र |
| संस्कृत-अनुवाद | | करोति । | तत् | मया | बहु<br>बहुकं | कल्याणं | कृतं । | तत् | ये | मम |
| हिंदी-अनुवाद | | करता है । | सो | मैंने | बहुत | कल्याण | किया । | सो | जो | मेरे |

| | | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १९ | पुता | चा | नताले | चा(१३) | पलं | छा | तेहि | ये | |
| गिरनार | २० | पुता | च | पोत्रा | च | परं | च | तेन | य | मे |
| धौली | २१ | पुता | व(२०) | नति | व | · लं | च | तेन | ये | |
| जौगड़ | २२ | · · | ·(२२) | नति | व | पलं | च | ते · | · | |
| शहबाज़गढ़ी | २३ | पुत्र | च | नतरो | च | परं | च | तेन | य | मे |
| मानसेरा | २४ | पुत्र | च(१६) | नतरे | | परं | च | तेन | ये | |
| संस्कृत-अनुवाद | | पुत्राः | च | नप्तारः<br>पौत्राः | च | परं | च | तेन<br>तैः | यानि | मे |
| हिंदी-अनुवाद | | पुत्र | और | नाती<br>पौत्र | और | आगे | और | उनसे | जो | मेरे |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २५ | अपतिये | मे | | आवकपं | तथा | | अनुवटिसंति |
| गिरनार | २६ | अपचं | | | आवसंवटकपा | | | अनुवतिसरे |
| धौली | २७ | अपतिये | मे | | आवकपं | तथा | | अनुवतिसंति |
| जौगड़ | २८ | . . . . | . | | . . . . | . . | | . . . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | २९ | अपच | | अछंति | अवकपं | तथं | ये | अनुवतिशंति |
| मानसेरा | ३० | अपतिये | मे | | अवकपं | तथं | | अनुवतिशति |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपत्यानि | {मे} | भविष्यंति | यावत्कल्पं<br>यावत्संवर्तकल्पं | तथा | यं | अनुवर्तिष्यंते |
| हिंदी-अनुवाद | | अपत्य | {मेरे} | होंगे | कल्पांत तक | वैसा | जो | अनुसरण करेंगे |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३१ | | से | सुकटं | कछंति | ए | चु | हेता | देसं |
| गिरनार | ३२ | तथा (४०) | सो | सुकतं | कासति | यो | तु | एत | देसं |
| धौली | ३३ | | से | सुकटं | कछंति | ए | | हेत | देसं |
| जौगड़ | ३४ | | . | . . . | . . . | . | | . . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ३५ | | ते | सुकिट्रं | कषंति | यो | चु | अतो | कं |
| मानसेरा | ३६ | | से | सुकट | कषति | ये | चु | अत्र | देश |
| संस्कृत-अनुवाद | | {तथा} | ते | सुकृतं | करिष्यंति । | ये<br>यः | तु | अत्र<br>अतः | देशं |
| हिंदी-अनुवाद | | {वैसा} | वे | सुकृत | करेंगे । | जो | तो | यहां<br>इसमें से | एक देश<br>(अंश)को |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३७ | पि | हापयिसंति | से | दुकटं | कछति | | |
| गिरनार | ३८ | पि | हापेसति | सो | दुकतं | कासति | सुकरं | हि |
| धौली | ३९ | पि | हापयिसति | से | दुकटं | कछति | | |
| जौगड़ | ४० | . | . . . . . | . | . . . | . . . | | |
| शहबाज़गढ़ी | ४१ | पि | हपेशति | सो | दुकटं | कषति | | |
| मानसेरा | ४२ | पि | हपेशति | से | दुकट | कषति(२०) | | |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपि | हापयिष्यन्ति<br>हापयिष्यति | ते<br>सः | दुष्कृतं | करिष्यन्ति ।<br>करिष्यति । | {सुकरं | हि} |
| हिंदी-अनुवाद | | भी | हानि पहुँचाएंगे<br>हानि पहुँचाएगा | वे<br>वह | दुष्कृत(को) | करेंगे ।<br>करेगा । | {सहज | ही} |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४३ | पापे | हि | नाम | सुपदालये | से | अतिकंतं | अंतलं |
| गिरनार | ४४ | पापं | | | | | अतिकातं | अंतरं(४१) |
| धौली | ४५ | पापे | हि | नाम(२१) | सुपदालये | से | अतिकंतं | अंतलं |
| जौगड़ | ४६ | . . | . | . . (२३) | सुपदालये | से | अ . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ४७ | पपं | हि | | सुकरं | सो | अतिक्रंतं | अंतरं |
| मानसेरा | ४८ | पपे | हि | नम | सुपदरेव | से | अतिक्रतं | अंतरं |
| संस्कृत-अनुवाद | | पापं | हि | नाम | सुप्रस्तारम् ।<br>सुकरम् ।<br>सुप्रस्तारमेव । | तत् | अतिक्रान्तं | अन्तरं |
| हिंदी-अनुवाद | | पाप | ही | —— | सहज में फैलता [है] ।<br>करना सहज [है] ।<br>सहज में ही फैलता [है] । | सो | बीत गया | (बहुत)काल |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४९ | नो | हुतपुलुवा | धंममहामाता | नाम | | | तेदसवसाभिसितेना |
| गिरनार | ५० | न | भूतप्रुवं | धंममहामाता | नाम | त | मया | त्रैदसवासाभिसितेन |
| धौली | ५१ | नो | हूतपुलुवा | धंममहामाता | नाम | से | | तेदसवसाभिसितेन |
| जौगड़ | ५२ | . | . . . . . | . . . . . . | . . | . | | . . . . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५३ | न | भुतप्रुव | ध्रमहमत्र | नम | सो | | तिदशवषभिसितेन (११) |
| मानसेरा | ५४ | न | भुतप्रुव | ध्रमहमत्र | नम | से | | त्रेडशवषभिसितेन |
| संस्कृत-अनुवाद | | न | भूतपूर्वाः | धर्ममहामात्राः | नाम। | तत् | {मया} | त्रयोदशवर्षाभिषिक्तेन |
| हिंदी-अनुवाद | | नहीं | पहले हुए | धर्ममहामात्र। | | सो | {मैंने} | तेरह वर्ष से अभिषिक्त (ने) |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५५ | अमया | धंममहामाता | | कटा | ते | सवपासंडेसु |
| गिरनार | ५६ | | धंममहामाता | | कता | ते | सवपासंडेसु |
| धौली | ५७ | [illegible] | धंममहामाता | नाम | कटा | ते | सवपासंडेसु(२२) |
| जौगड़ | ५८ | . | . . . . . . | . . | . . | . | . . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५९ | मय | ध्रममहमत्र | | किट्र | ते | सव्रपषंडेषु |
| मानसेरा | ६० | मय | ध्रममहमत्र | | कट | ते | सव्रपषडेषु(२१) |
| संस्कृत-अनुवाद | | मया | धर्ममहामात्राः | नाम | कृताः । | ते | सर्वपाषंडेषु |
| हिंदी-अनुवाद | | मैंने | धर्ममहामात्र | | [नियत]किए। | वे | सब धर्मवालों में |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६१ | वियापटा(१४) | धंमाधियानाये | चा | धंमवढिया | हिदसुखाये |
| गिरनार | ६२ | व्यापता | धामधिस्टानाय(४२) | . | . . . . . | . . . . . |
| १३ धौली | ६३ | वियापटा | धंमाधियानाये | | धंमवढिये | हितसुखाये |
| जौगड़ | ६४ | . . . . (२४) | धंमाधियाना . | | . . . . . | . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ६५ | वपट | ध्रमधियनये | च | ध्रमवढिये | हिदसुखये |
| मानसेरा | ६६ | वपुट | ध्रमधियनये | च | ध्रमवध्रिय | हिदसुखये |
| संस्कृत-अनुवाद | | व्यापृता: | धर्माधिष्ठानाय | च | धर्मवृद्ध्यै | हितसुखाय |
| हिंदी-अनुवाद | | लगाए गए[हैं] | धर्म के अधिष्ठान के लिये | और | धर्म की वृद्धि के लिये | हित [और] सुख के लिये |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६७ | चा | धंमयुतसा | तं | योनकंबोजगंधालानं | |
| गिरनार | ६८ | · | धंमयुतस | च | योणकंबोजगंधारानं | रिस्टिकपेतेणिकानं |
| धौली | ६९ | च | धंमयुतस | | योनकंबोचगंधालेसु | लठिकपितेनिकेसु |
| जौगड़ | ७० | · | · · · · · | | · · · · · · · · · | · · · · · · · · · |
| शहबाज़गढ़ी | ७१ | च | ध्रमयुतस | | योनकंबोयगंधरनं | रस्टिकनं पितिनिकनं |
| मानसेरा | ७२ | च | ध्रमयुतस | | योनकंबोजगंधरनं | रद्रकपितिनिकन |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | धर्मयुतस्य | तें<br>च | यवनकंबोजगांधाराणाम्<br>यवनकंबोजगांधारेषु | राष्ट्रिकप्रतिष्ठानिकानां<br>राष्ट्रिकप्रतिष्ठानिकेषु<br>राष्ट्रिकाणां प्रतिष्ठानिकानां |
| हिंदी-अनुवाद | | और | धर्मयुक्त[लोगों]के | वे<br>और | यवन[और]कंबोज[और]गांधारों के<br>यवन[और]कंबोज[और]गांधारों में | राष्ट्रिक[और]पैठनिकों में<br>राष्ट्रिक[और]पैठनिकों के |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७३ | ए | वा | पि | अंने | अपलंता | भटमयेसु | |
| गिरनार | ७४ | ये | वा | पि | अंञे | अपराता | भतमयेसु | व(४३) |
| धौली | ७५ | ए | वा | पि | अंने | आपलंता | भटिमयेसु(२३) | |
| जौगड़ | ७६ | · | · | · | · · | · · · · | · · · · ·(२५) | |
| शहबाज़गढ़ी | ७७ | ये | व | पि | | अपरंत | भटमयेषु | |
| मानसेरा | ७८ | ये | व | पि | अञे | अपरत | भटमये(२२)षु | |
| संस्कृत-अनुवाद | | ये | वा | अपि | अन्ये | अपरांता: | भृतिमयेषु | {च} |
| हिंदी-अनुवाद | | जो | अथवा | भी | दूसरे | पश्चिमी सीमा पर रहनेवाले[हैं] | भत्ते के(=वेतन पानेवाले)नौकरों (में) | {और} |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७९ | बंभनिभेसु | अनथेसु | वुधेसु | | हिदसुखाये |
| गिरनार | ८० | ..... | .... | ... | | ··सुखाय |
| धौली | ८१ | बाभनिभियेसु | अनाथेसु | महालकेसु | च | हितसुखाये |
| जौगड़ | ८२ | ·भनिभि·· | .... | ...... | . | ..... |
| शहबाज़गढ़ी | ८३ | ब्रमणिभेषु | अनथेषु | वुढेषु | | हितसुखये |
| मानसेरा | ८४ | ब्रमणिभ्येषु | अनथेषु | वुध्रेषु | | हिदंसुखये |
| संस्कृत–अनुवाद | | ब्राह्मणेभ्येषु | अनाथेषु | वृद्धेषु<br>महालकेषु | {च} | हितसुखाय |
| हिंदी–अनुवाद | | ब्राह्मणों और धनियों(में) | अनाथों(में) | बुड्ढों (में)<br>बड़ों (में) | {और} | हित[और]सुख के लियं |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ८५ | धंमयुताये | अपलिबोधाये | वियापटा | ते | बंधनबधसा |
| गिरनार | ८६ | धंमयुतानं | अपरिगोधाय | व्यापता | ते | बधनबधस |
| धौली | ८७ | धंमयुताये | अपलिबोधाये | वियापटा | से | बंधनबधस |
| जौगड़ | ८८ | . . . . . | . . . . . . | . . . . . | . | . . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ८९ | ध्रमयुतस | अपलिबोधे | वपट | ते(१२) | बंधनबधस |
| मानसेरा | ९० | ध्रमयुत | अपलिबोधये | वियपुट | ते | बधनबधस |
| संस्कृत-अनुवाद | | धर्मयुक्तानां<br>धर्मयुक्तस्य<br>धर्मयुक्ताय | अपरिबाधाय | व्यापृताः | ते | बंधनवधस्य |
| हिंदी-अनुवाद | | धर्मयुक्तों के<br>धर्मयुक्त के<br>धर्मयुक्त के लिये | बाधा न पहुँचने के लिये | नियुक्त [हैं] | वे | बाँधने [और] वध के |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९१ | पटिविधानाये | अपलिबोधाये | मोखाये | चा | एयं |
| गिरनार | ९२ | पटिविधानाय(४४) | . . . . . . | . . . . | . | . . |
| धौली | ९३ | पटिविधानाये | अपलिबोधाये | मोखाये | च(२४) | इयं |
| जौगड़ | ९४ | . . . . . . . | . . . . . . . (२६) | मोखाये | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ९५ | पटिविधनये | अपलिबोधये | मोछये | | इयं |
| मानसेरा | ९६ | पटिविधनये | अपलिबोधये | मोछये | च | इयं(२३) |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रतिविधानाय | अपरिवाधाय | मोक्षाय | च। | अयं<br>इमं |
| हिंदी-अनुवाद | | रोकने के लिये | बाधा दूर करने के लिये | मुक्ति के लिये | और। | यह<br>इस(को = पर) |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९७ | अनुबधं | पजावति | वा(१२) | कटाभिकाले | ति |
| गिरनार | ९८ | .... | प्रजा | | कताभीकारेसु | . |
| धौली | ९९ | अनुबंध | पजति | व | कटाभीकाले | ति |
| जौगड़ | १०० | .... | ... | . | ..... | . |
| शहबाज़गढ़ी | १०१ | अनुबधं | प्रजव | | किटभिकरो | |
| मानसेरा | १०२ | अनुबध | पजति | व | क्रटभिकर | ति |
| संस्कृत-अनुवाद | | अनुबंधः<br>अनुबंधं | प्रजावति<br>प्रजावान् इति | वा | कृताधिकारे<br>कृताधिकारेषु<br>कृताधिकारः | इति |
| हिंदी-अनुवाद | | अनुबंध(अधिकार)<br>अनुबंध(अधिकार)<br>को = पर | संतानवाले में<br>संतानवाला ऐसा | या | (राज्य + )अधिकार किए हुए में<br>(राज्य + )अधिकार किए हुओं में<br>(राज्य + )अधिकार किया हुआ | ऐसा |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०३ | वा | महालके | ति | वा | वियापटा | ते | हिदा |
| गिरनार | १०४ | वा | थैरेसु | | वा | व्यापता | ते | पाटलिपुते |
| धौली | १०५ | व | महालके | ति | व | वियापटा | से | हिद |
| जौगड़ | १०६ | . | . . ; . | | . | . . . . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १०७ | व | महलक | | व | वियपट्र | | इम्र |
| मानसेरा | १०८ | व | महलके | ति | व | वियप्रट | ते | हिदं |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | महालके<br>स्थविरेषु<br>महालकः | इति | वा | व्यापृतः ।<br>व्यापृताः । | ते | इह<br>पाटलिपुत्रे |
| हिंदी-अनुवाद | | या | बड़े में<br>बूढ़ों में<br>बड़ा | ऐसा | या | नियुक्त[है] ।<br>नियुक्त[हैं] । | वे | यहाँ<br>पाटलिपुत्र में |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६१ | वियापटा(१४) | धंमाधियानाये | चा | धंमवढिया | हिदसुखाये |
| गिरनार | ६२ | व्यापता | धामधिस्टानाय(४२) | . | . . . . . | . . . . . |
| धौली | ६३ | वियापटा | धंमाधियानाये | | धंमवढिये | हितसुखाये |
| जौगड़ | ६४ | . . . .(२४) | धंमाधियाना . | | . . . . . | . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ६५ | वपट | ध्रमधियनये | च | ध्रमवढिये | हिदसुखये |
| मानसेरा | ६६ | वपुट | ध्रमधियनये | च | ध्रमवध्रिय | हिदसुखये |
| संस्कृत-अनुवाद | | व्यापृताः | धर्माधिष्ठानाय | च | धर्मवृद्धयै | हितसुखाय |
| हिंदी-अनुवाद | | लगाए गए [हैं] | धर्म के अधिष्ठान के लिये | और | धर्म की वृद्धि के लिये | हित [और] सुख के लिये |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६७ | चा | धंमयुतसा | तं | योनकंबोजगंधालानं | |
| गिरनार | ६८ | · | धंमयुतस | च | योणकंबोजगंधारानं | रिस्टिकपेतेणिकानं |
| धौली | ६९ | च | धंमयुतस | | योनकंबोचगंधालेसु | लठिकपितेनिकेसु |
| जौगड़ | ७० | · | · · · · · | | · · · · · · · · · | · · · · · · · · · |
| शहबाज़गढ़ी | ७१ | च | ध्रमयुतस | | योनकंबोयगंधरनं | रस्टिकनं पितिनिकनं |
| मानसेरा | ७२ | च | ध्रमयुतस | | योनकंबोजगंधरनं | रठ्रकपितिनिकन |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | धर्मयुतस्य | ते<br>च | यवनकंबोजगांधाराणाम्<br>यवनकंबोजगांधारेषु | राष्ट्रिकप्रातिष्ठानिकानां<br>राष्ट्रिकप्रातिष्ठानिकेषु<br>राष्ट्रिकाणां प्रतिष्ठानिकानां |
| हिंदी-अनुवाद | | और | धर्मयुक्त[लोगों]के | वे<br>और | यवन[और]कंबोज[और]गांधारों के<br>यवन[और]कंबोज[और]गांधारों में | राष्ट्रिक[और]पैठनिकों में<br>राष्ट्रिक[और]पैठनिकों के |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७३ | ए | वा | पि | अंने | अपलंता | भटमयेसु | |
| गिरनार | ७४ | ये | वा | पि | अंञे | अपराता | भतमयेसु | व(४३) |
| धौली | ७५ | ए | वा | पि | अंने | आपलंता | भटिमयेसु(२३) | |
| जौगड़ | ७६ | . | . | . | . . | . . . . | . . . . . (२५) | |
| शहबाज़गढ़ी | ७७ | ये | व | पि | | अपरंत | भटमयेषु | |
| मानसेरा | ७८ | ये | व | पि | अञे | अपरत | भटमये(२२)षु | |
| संस्कृत-अनुवाद | | यें | वा | अपि | अन्ये | अपरांता: | भृतिमयेंषु | {च} |
| हिंदी-अनुवाद | | जो | अथवा | भी | दूसरे | पश्चिमी सीमा पर रहनेवाले[हैं] | भत्ते के(= वेतन पानेवाले)नौकरों (में) | {और} |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७९ | बंभनिभेसु | अनथेसु | वुधेसु | | हिदसुखाये |
| गिरनार | ८० | . . . . . | . . . . | . . . | | . . सुखाय |
| धौली | ८१ | बाभनिभियेसु | अनाथेसु | महालकेसु | च | हितसुखाये |
| जौगड़ | ८२ | . भनिभि . . | . . . . | . . . . . | . | . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ८३ | ब्रमणिभेषु | अनथेषु | वुढेषु | | हितसुखये |
| मानसेरा | ८४ | ब्रमणिभ्येषु | अनथेषु | वुध्रेषु | | हिदंसुखये |
| संस्कृत–अनुवाद | | ब्राह्मणेभ्येषु | अनाथेषु | वृद्धेषु<br>महालकेषु | {च} | हितसुखाय |
| हिंदी–अनुवाद | | ब्राह्मणों और धनियों(में) | अनाथों(में) | बुड्ढों (में)<br>बड़ों (में) | {और} | हित[और]सुख के लिये |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ८५ | धंमयुताये | अपलिबोधाये | वियापटा | ते | बंधनबधसा |
| गिरनार | ८६ | धंमयुतानं | अपरिगोधाय | व्यापता | ते | बधनबधस |
| धौली | ८७ | धंमयुताये | अपलिबोधाये | वियापटा | से | बंधनबधस |
| जौगड़ | ८८ | . . . . . . | . . . . . . . | . . . . | . | . . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ८९ | ध्रमयुतस | अपलिबोधे | वपट | ते(१२) | बंधनबधस |
| मानसेरा | ९० | ध्रमयुत | अपलिबोधये | वियपुट | ते | बधनबधस |
| संस्कृत-अनुवाद | | धर्मयुक्तानां<br>धर्मयुक्तस्य<br>धर्मयुक्ताय | अपरिबाधाय | व्यापृता: | ते | बंधनवधस्य |
| हिंदी -अनुवाद | | धर्मयुक्तों के<br>धर्मयुक्त के<br>धर्मयुक्त के लिये | बाधा न पहुँचने के लिये | नियुक्त [हैं] | वे | बाँधने[और]वध के |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९१ | **पटिविधानाये** | **अपलिबोधाये** | **मोखाये** | **चा** | **एयं** |
| गिरनार | ९२ | **पटिविधानाय**(४४) | . . . . . . | . . . | . | . . |
| धौली | ९३ | **पटिविधानाये** | **अपलिबोधाये** | **मोखाये** | **च**(२४) | **इयं** |
| जौगड़ | ९४ | . . . . . . . | . . . . . . . (२६) | **मोखाये** | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ९५ | **पटिविधनये** | **अपलिबोधये** | **मोछये** | | **इयं** |
| मानसेरा | ९६ | **पटिविधनये** | **अपलिबोधये** | **मोछये** | **च** | **इयं**(२३) |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रतिविधानाय | अपरिबाधाय | मोक्षाय | च । | अयं<br>इमं |
| हिंदी-अनुवाद | | रोकने के लिये | बाधा दूर करने के लिये | मुक्ति के लिये | और । | यह<br>इस (को = पर) |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९७ | अनुबधं | पजावति | वा⁽¹⁵⁾ | कटाभिकाले | ति |
| गिरनार | ९८ | . . . . | प्रजा | | कताभीकारेसु | |
| धौली | ९९ | अनुबंध | पजति | व | कटाभीकाले | ति |
| जौगड़ | १०० | . . . . | . . . | . | . . . . . . | . |
| शहबाज़गढ़ी | १०१ | अनुबधं | प्रजव | | किटभिकरे। | |
| मानसेरा | १०२ | अनुबध | पजति | व | क्रटभिकर | ति |
| संस्कृत-अनुवाद | | अनुबंधः<br>अनुबंधं | प्रजावति<br>प्रजावान् इति | वा | कृताधिकारे<br>कृताधिकारेषु<br>कृताधिकारः | इति |
| हिंदी-अनुवाद | | अनुबंध(अधिकार)<br>अनुबंध(अधिकार)<br>को = पर | संतानवाले में<br>संतानवाला ऐसा | या | (राज्य + )अधिकार किए हुए में<br>(राज्य + )अधिकार किए हुओं में<br>(राज्य + )अधिकार किया हुआ | ऐसा |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०३ | वा | महालके | ति | वा | वियापटा | ते | हिदा |
| गिरनार | १०४ | वा | थैरेसु | | वा | व्यापता | ते | पाटलिपुते |
| धौली | १०५ | व | महालके | ति | व | वियापटा | से | हिद |
| जौगड़ | १०६ | . | . . . . | | . | . . . . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १०७ | व | महलक | | व | वियपट्र | | इस्र |
| मानसेरा | १०८ | व | महलके | ति | व | वियप्रट | ते | हिदं |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | महालके<br>स्थविरेषु<br>महालकः | इति | वा | व्यापृतः।<br>व्यापृताः। | ते | इह<br>पाटलिपुत्रे |
| हिंदी-अनुवाद | | या | बड़े में<br>बूढ़ों में<br>बड़ा | ऐसा | या | नियुक्त[है]।<br>नियुक्त[हैं]। | वे | यहाँ<br>पाटलिपुत्र में |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०९ | | बाहिलेसु | चा | नगलेसु | सवेसु | |
| गिरनार | ११० | च | बाहिरेसु | च(४५) | . . . . | . . . | |
| धौली | १११ | च | बाहिलेसु | च | नगलेसु | सवेसु | सवेसु |
| जौगड़ | ११२ | . | . . . . | . | . . . . | . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ११३ | | बहिरेषु | च | नगरेषु | सव्रेषु | |
| मानसेरा | ११४ | | बहिरेषु | च | नगरेषु | सव्रेषु | |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | बाह्येषु | च | नगरेषु | सर्वेषु | {सर्वेषु} |
| हिंदी-अनुवाद | | और | बाहरवालों (में) | और | नगरों में | सब(में) | {सब(में)} |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ११५ | ओलोधनेसु | | | | भातिनं | च | ने | भगिनिना |
| गिरनार | ११६ | . . . . . . | | | | . . . | . | . | . . . . |
| धौली | ११७ | ओलोधनेसु | से | एवा | पि | भातिनं | | से | भगिनीनं |
| जौगड़ | ११८ | . . . . . (२७) | . | एवा | . | . . . | | . | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ११९ | ओरोधनेषु | | | | भ्रतुनं | च | मे | स्पसुनं |
| मानसेरा | १२० | ओरोधनेषु | | | | भतन | च | | स्पसुन |
| संस्कृत-अनुवाद | | अवरोधनेषु | मे | एवं | अपि | भ्रातॄणां | च | मे | भगिनीनां<br>स्वसॄणां |
| हिंदी-अनुवाद | | अंत:पुरों में | मेरे | तथा | भी | भाइयों के | और | मेरी | वहिनों के |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १२१ | | एवा | पि | | अंने | | नातिक्ये |
| गिरनार | १२२ | | येवा | पि | मे | अञे | | ञातिका |
| धौली | १२३ | | व(२५) | | | अंनेसु | वा | नातिसु |
| जौगड़ | १२४ | | . | | | . . . | . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १२५ | च | येव | पि | | अंञे | | ञतिक |
| मानसेरा | १२६ | च(२४) | येव | पि | | अञे | | ञतिके |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | एवं | अपि | {मे} | अन्येपु<br>अन्येस्मिन् | {वा} | ज्ञातिषु<br>ज्ञातिके |
| हिंदी-अनुवाद | | और | तथा | भी | {मेरे} | दूसरों(में)<br>दूसरे (में) | {या} | संबंधियों में<br>संबंधी में |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १२७ | **सवता** | **वियापटा** | | **ए** | **इयंधंमनिसिते** | **ति** |
| गिरनार | १२८ | **सर्वत** | **व्यापता** | **ते** | **यो** | **अयंधंमनिस्रितो** | **ति** |
| धौली | १२९ | **सवत** | **वियापटा** | | **ए** | **इयंधंमनिसिते** | **ति** |
| जौगड़ | १३० | . . . | . . . . . | | . | . . . . . . . | |
| शहबाज़गढ़ी | १३१ | **सवत्र** | **वियपुट** | | **यं** | **इयंध्रमनिश्रिते** | **ति** |
| मानसेरा | १३२ | **सव्रत्र** | **वियपट** | | **ए** | **इयंध्रमनिश्रिति** | **ति** |
| संस्कृत-अनुवाद | | सर्वत्र | व्यापृताः। | ते | ये<br>यः | इदंधर्मनिःश्रिताः<br>इदंधर्मनिःश्रितः | इति |
| हिंदी-अनुवाद | | सब जगह | नियुक्त [हैं]। | वे | जो | इस धर्म में अधिकृत | ऐसे |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३३ | **वा** | | | | **दानसुयुते** | **ति** |
| गिरनार | १३४ | **व**(४६) | | | | . . . . . | . |
| धौली | १३५ | **व** | **धंमाधियाने** | **ति** | **व** | **दानसयुते** | |
| जौगड़ | १३६ | . | . . . . . | . | . | . . . . . | |
| शहबाज़गढ़ी | १३७ | **व** | **ध्रमधियने** | **ति** | **व** | **दनसयुते** | **ति** |
| मानसेरा | १३८ | **व** | **ध्रमधियने** | **ति** | **व** | **दनसंयुते** | **ति** |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | धर्माधिष्ठाना: | इति | वा | दानसंयुता: | इति |
| हिंदी-अनुवाद | | अथवा | धर्म में अधिष्ठित | ऐसे | अथवा | ( अधीनस्थ ) दानाधिकारी | ऐसा |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३९ | **वा** | **सवता** | **विजितसि** | **ममा** | **धंमयुतसि** |
| गिरनार | १४० | . | .. . | | | . . . . . |
| धौली | १४१ | **व** | **सवपुठवियं** | | | **धंमयुतसि** |
| जौगड़ | १४२ | . | . . . . . . . (२८) | | | . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १४३ | **व** | **सवत्र** | **विजिते** | **मह** | **ध्रमयुतसि** |
| मानसेरा | १४४ | **व** | **सव्रत्र** | **विजितसि** | **मम्र** | **ध्रमयुतसि** |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | सर्वत्र<br>सर्वपृथिव्यां | विजिते | मम | धर्मयुक्ते |
| हिंदी-अनुवाद | | अथवा | सब जगह<br>सारी पृथ्वी पर | जीते हुए [देश] में | मेरे | (अधीनस्थ) धर्माधिकारियों पर |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १४५ | **वियापटा** | **ते** | **धंममहामाता** | **एताये** | **अठाये**(१६) |
| गिरनार | १४६ | . . . . | . | **धंममहामाता** | **एताय** | **अथाय** |
| धौली | १४७ | **वियापटा** | **इमे** | **धंममहामाता** | **इमाये** | **अठाये**(२३) |
| जौगड़ | १४८ | . . . . | . . | . . . . . . | . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १४९ | **वियपट** | **ते** | **ध्रममहमत्र** | **एतये** | **अठये** |
| मानसेरा | १५० | **विपुट** | **ते**(२५) | **ध्रममहमत्र** | **एतये** | **अथ्रये** |
| संस्कृत-अनुवाद | | व्यापृताः | ते<br>इमे | धर्ममहामात्राः । | एतस्मै<br>अस्मै | अर्थाय |
| हिंदी-अनुवाद | | लगाए हुए [हैं]। | वे | धर्ममहामात्र [हैं]। | इस (के लिये) | प्रयोजन के लिये |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १५१ | इयं | धंमलिपि | लेखिता | चिलथितिक्या | होतु |
| गिरनार | १५२ | अयं | धंमलिपी | लिखिता(४७) | . . . . . | . . |
| धौली | १५३ | इयं | धंमलिपी | लिखिता | चिलथितीका | होतु |
| जौगड़ | १५४ | . . | . . . . | . . . | . . . . . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १५५ | अयं | ध्रमदिपि | दिपिस्त | चिरथितिक | भोतु |
| मानसेरा | १५६ | अयि | ध्रमदिपि | लिखित | चिरठितिक | होतु |
| संस्कृत-अनुवाद | | इयं | धर्मलिपिः | लेखिता । | चिरस्थितिका | भवतु । |
| हिंदी-अनुवाद | | यह | धर्मलिपि | लिखाई । | चिरस्थायिनी | होवे । |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १५७ | तथा | च | मे | पजा | अनुवतंतु |
| गिरनार | १५८ | . . | . | . | . . | . . . . .(४८) |
| धौली | १५९ | तथा | च | मे | पजा | अनुवततु(२७) |
| जौगड़ | १६० | . . | . | . | . . | . . . . . (२९) |
| शहबाज़गढ़ी | १६१ | तथ | च | | प्रज | अनुवततु(१३) |
| मानसेरा | १६२ | तथं | च | मे | प्रज | अनुवटतु |
| संस्कृत-अनुवाद | | तथा | च | मे | प्रजाः | अनुवर्तन्ताम्। |
| हिंदी-अनुवाद | | वैसे | और | मेरी | प्रजा | अनुसरण करे। |

## [ हिंदी अनुवाद । ]

देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने इस प्रकार कहा है॑ । कल्याण [ करना ] कठिन है । जो कल्याण (या, कल्याण का आरंभ) करता है (या, कल्याण का आरंभकर्त्ता होता है) वह कठिन काम करता है । सो मैंने बहुत कल्याण किया । इस लिये [ यदि ] मेरे पुत्र, पौत्र तथा उनसे आगे जो मेरे वंशज होंगे वे कल्पांत तक वैसा

---

( १ ) **एवं आह**–राजा के लेख-व्यवहार को शासन कहते हैं । पिछले समय में शासन शब्द दान के आज्ञालेख में रूढ़ हो गया, जैसा कि अब भी राजपूताने में व्यवहार है या ताम्रपत्रों में मिलता है । कौटिल्य ने अर्थशास्त्र ( प्रकरण २८ ) में शासन को बहुत प्रधान माना है क्योंकि संधि विग्रह उसीके अधीन हैं । लेख, लेखक आदि पर बहुत कुछ लिखा है । शासनों के इतने भेद गिनाए हैं—प्रज्ञापन, आज्ञा, आधि या परिदान में उपग्रह, परिहार (= छूट), निसृष्टि, प्रवृत्ति, प्रतिलेख और सर्वत्रग । प्रज्ञापन के विषय में कहा है कि उसके कई ढंग हैं, उसका आरंभ यों हो—इससे विज्ञापित किया जाता है, (एवं आह =) महाराज यों कहते हैं, यदि सच हो तो, यह दे दो, या राजा के पास दूसरे ( शत्रु ) का पत्र यों कहता है । इस विचार से 'एवं आह' से आरंभ होनेवाली इन धर्मलिपियों को प्रज्ञापन या प्रज्ञापना कहना उस समय के राज्यव्यवहार के अनुकूल होगा । तीसरे प्रज्ञापन के भीतर ही प्रादेशिकों, रज्जुकों और परिषद् के नाम आज्ञा है । छठे में भी परिषद् के नाम आज्ञा है ( यों मैंने आज्ञा दी, एवं मया आज्ञप्तम् ) । इन दोनों स्थलों में कौटिल्य के आज्ञालेख का लक्षण मिल जाता है; इन्हें आज्ञालेख कहना चाहिए, किंतु ये पृथक् नहीं हैं, प्रज्ञापन के भीतर ही हैं । वस्तुतः सर्वत्रग शासन का लक्षण ही इनमें ठीक ठीक घट जाता है, यदि कौटिल्य की परिभाषा का ठीक ठीक अनुसरण करें तो इन धर्मलिपियों को सर्वत्रग शासन कहना चाहिए । वह परिभाषा यह है—जिस शासन में राजा समर्थों तथा अधिकारियों को रक्षा, उपकार या उपाय साधन के लिये कहे और जो मार्ग में, देश में, सर्वत्र, विदित कराया जाय, वह शासन सर्वत्रग होता है । पारस के दारा के लेखों का आरंभ भी 'ऐसे कहा है' से ही होता है ।

अनुसरण करेंगे [ तो ] वे सुकृत करेंगे। जो इस आज्ञा के अंशमात्र[२] में भी हानि पहुँचावेंगे वे बुरा काम करेंगे, क्योंकि पाप सहज में फैलता है ( या, पाप करना सहज है )। बहुत काल बीता कि धर्ममहामात्र[३] नहीं नियत हुए। इसलिये मैंने अभिषिक्त होने के तेरहवें वर्ष धर्ममहामात्र नियत किए। वे सब धर्मों[४] के लिये नियुक्त हैं। वे धर्म के अधिष्ठान ( =ऊपर देखभाल ) और धर्म की वृद्धि तथा धर्मानुयायी[५]

---

(२) **देश**–एक देश, कुछ अंश भी; इसका अर्थ 'संदेश' जँचता नहीं।

(३) **धर्ममहामात्र**–किसी भी राज्यविभाग के प्रधान अधिकारी को महामात्र कहते हैं। इसका अर्थ मंत्री नहीं, किंतु अपने विभाग का प्रधान है। विनयपिटक में बोहारिक महामात्त, गणक महामात्त, सेनानायक महामात्त, उपचारक महामात्त, सवत्थक महामात्त पद स्थान स्थान पर आए हैं जिनका अर्थ क्रमशः कानून, हिसाब, फौज, तथा दरबार के व्यवहार के अधिकारी और प्रधान मंत्री हैं। अशोक का कहना है कि पहले और विभागों की तरह धर्म का सीगा न था और न उसके महामात्र थे, मैंने ये नियत किए। धर्मलिपियों में जिन जिन महामात्रों का उल्लेख है उनपर यथास्थान लिखा जायगा।

(४) **पाषंड**–धर्म, संप्रदाय, मतभेद। पीछे से इस पद का अर्थ दंभ, दिखावट, पाखंड हो गया है। यहां पर अभिप्राय केवल धर्म के संप्रदायमात्र से है। सभी धर्मसंप्रदाय समय पाकर बाह्य चिह्नों और आडंबरों पर जोर देते और तत्व की उपेक्षा करने लग जाते हैं इससे "पाखंड' का बुरा अर्थ हो गया है। 'बौद्ध धर्मानुयायियों को छोड़कर और 'मत' भी इसका अर्थ हो सकता है।

(५) **धर्मयुत**–इस प्रज्ञापन में यह पद चार जगह आया है। पहले स्थान पर इसका व्यापक अर्थ धर्म में लगे हुए, धर्मानुयायी ही है। वहां युक्त नामक छोटे अधिकारियों से तात्पर्य नहीं हो सकता क्योंकि उनके हित सुख की चिंता करने की कोई आवश्यकता नहीं। दूसरी जगह दोनों अर्थ हो सकते हैं,—'धर्मानुयायियों को बाधा न पहुँचे इस लिये' और 'धर्मयुक्त नामक छोटे अधिकारियों को अपने कार्य में बाधा न पहुँचे इस लिये' अथवा 'धर्मयुक्त अधिकारियों के द्वारा प्रजा को बाधा न पहुँचे इस लिये'। तीसरी जगह 'दानसंयुत' में अधिकारी ही अर्थ है, दान में लगा हुआ नहीं। चौथी जगह 'धर्मयुत में व्यापृत' में दोनों अर्थ हो सकते हैं, धर्मानुयायी और युक्त नामक धर्माधिकारी। व्यापक अर्थ में 'धर्मयुत' सभी 'पाषंडों' के लिये है, केवल बौद्धों के लिये नहीं। धर्ममहामात्रों का काम धर्मानुयायी प्रजावर्ग को सुख पहुँचाना तथा युक्त नामक अधीनस्थ अधिकारियों को अत्याचार न करने देना था। 'हिदसुख' का अर्थ 'इधर अर्थात् इस लोक में सुख' भी किया जाता है।

लोगों के हित और सुख के लिये हैं। वे यवनों, कंबोजों, गांधारों,[6] राष्ट्रिकों, पैठनिकों[7] तथा पश्चिमी सीमा-प्रांत पर

---

(६) **यवन**–उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत पर जो यवन (ग्रीक) बस गए थे। कुछ लोग इस पद में गुजरात में बसे हुए शक आदि को भी ग्रहण करते हैं किंतु गांधार और कंबोज के सानिध्य से, तथा इस बात से कि गुजरात साम्राज्य का अंग था, यह ठीक नहीं जान पड़ता। **गांधार, कंबोज**—पूर्वी अफगानिस्तान से सिंधु नदी तक के पश्चिमी हिमालय और पश्चिमोत्तर पंजाब के वासी जिनकी भाषा कहीं कहीं ईरानी सी थी, वर्तमान कंदहारी और कंबो। ये तीनों जातियाँ अशोक के 'विजित' अर्थात् जीते हुए नियमित साम्राज्य के भीतर न थीं, किंतु किसी न किसी प्रकार अधीन थीं।

सुदर्शन ताल के लेख से जाना जाता है कि यवनराज तुषास्फ ने अशोक के राज्य में उसकी ओर से वहाँ जल की मोरियाँ बनाई थीं। तुषास्फ नाम पारसी है। जो यवन इधर बस गए थे उन्होंने पारसी और हिंदू नाम भी स्वीकार कर लिए थे। तुषास्फ जाति से यवन, यवन देश का राजा तथा अशोक का सामंत या जाति से पारसी किंतु अशोक की ओर से यवन देश और सोरठ का शासक हो सकता है। यवन, कंबोज, गांधार तीनों जातियों (और देशों) का साथ ही उल्लेख बाहर से भीतर की ओर आने के क्रम से है। यह संभव नहीं कि यहाँ पर यवन से अभिप्राय पुष्कलावती के यवन राज्य से हो जो स्वात नदी पर वर्तमान चारसड्डा के स्थान पर था और जहां अलसंद या एलेगजेंड्रिया नगर था, क्योंकि वह राज्य मौर्य्य साम्राज्य की दुर्बलता के समय स्थापित हुआ था।

(७) **राष्ट्रिक पैठनिक**–रिष्टिक नामक दक्षिणी जाति (बूलर)। कोसल महाकोसल, भोज, महाभोज की तरह राष्ट्र, महाराष्ट्र देश भी होंगे जिनमें से महाराष्ट्र नाम तो इतिहास में रह गया और राष्ट्र इस पद में तथा राष्ट्रकूट जाति नाम में बचा। अलवर का एक भाग अब तक राठ कहलाता है (काठ नवै पर राठ नवै ना—नीमराणा के चौहान राज्य का मतवाक्य)। काठियावाड़ और मालवे के बीच का भाग भी राठ कहलाता है। सीमा प्रांत के आरट्ट तथा इन राठों से यहाँ अभिप्राय नहीं हो सकता क्योंकि साथ में पैठनिक है जिसका संबंध गोदावरी नदी पर के प्रतिष्ठानपुर से ही है। अतएव राष्ट्र (रट्ठ, रट्ट, रस्स) और प्रतिष्ठान (पैठण, पितन) दक्षिण में महाराष्ट्र के पड़ोसी देश होने चाहिएँ। ये भी अशोक के साम्राज्य में ठीक ठीक अंतर्भूत न थे।

आंध्र या सातवाहन काल के दक्षिण के लेखों से पाया जाता है कि वहां के कुछ प्रधान शासक या सामंत महारठि, महाभोज,

रहनेवाले[८] दूसरे लोगों के, वेतनभोगी नौकरों,[९] ब्राह्मणों और धनवानों, अनाथों और बुड्ढों के हित और सुख तथा अधीनस्थ धर्माधिकारियों[५] की (=से?) बाधा न पहुँचने के लिये नियुक्त हैं। वे कैद करने और प्राणदंड देने को नियंत्रित करने, बाधा को दूर करने और छुड़ाने के लिये नियुक्त हैं[१०]। यह अनुबंध (अधिकार) बालबच्चों वालों, या जो राज्याधिकार

---

महासेनापति कहलाते थे। इनमें से महाभोज बंबई के थाना और कोलाब ज़िलों और महारठि पूना और उसके आसपास के विभाग पर अधिकार रखते थे। इन नामों में से प्रतिष्ठा सूचक 'महा' पद निकाल दें तो पाँचवें प्रज्ञापन के 'राष्ट्रिक' और तेरहवें के 'भोज' ये ही हैं। यह भांडारकर का मत है। उनके मत में 'पितेनिक' किसी राष्ट्रविशेष का नाम नहीं है, अंगुत्तर निकाय के एक प्रयोग के अर्थ के अनुसार इसका तात्पर्य्य वंशक्रमानुयायी, मौरूसी (पितृक्रमागत) है और यहाँ 'राष्ट्रिक' और तेरहवें प्रज्ञापन में 'भोज' का विशेषण है, परंपरागत राष्ट्रिक, परंपरागत भोज। किंतु यह कल्पना ही जान पड़ती है।

(८) **अपरांत**—यहाँ दक्षिण के अपरांत देश से अभिप्राय नहीं है, किंतु (पश्चिम) सीमाप्रांत के वासी से है जिनका साम्राज्य से कुछ संबंध न था। चार प्रकार के राज्यों का उल्लेख मिलता है (१) 'विजित' जो सब तरह अधीन था (२) यवन, कंबोज, गंधार, रट्ठ, पेठण आदि जो किसी प्रकार अधीन थे (३) 'अपरांत, पश्चिम सीमा वासी जो केवल पड़ोसी थे। मिलाओ प्रज्ञापन दूसरे में 'अंताः' (४) अंतियोक आदि यवन मित्र राजाओं के राज्य।

(९) भट = भृत्य, अयेषु = आर्येषु, बीच का 'म' मुखसुखार्थ, इस लिये भटमयेषु = भृतार्येषु = सेवक और स्वामियों में (फ्रँके)। यह, तथा भट = सिपाही, दोनों क्लिष्ट कल्पनाएँ हैं।

(१०) धर्ममहामात्रों का यह काम तो स्पष्ट जान पड़ता है कि वे अनुचित कैद या बध की आज्ञा जहाँ होती पावें वहाँ रुकवा दें, बदलवा दें (प्रतिविधान), ऐसे अपराधियों को बाधा न पहुँचने दे (अपरिबाध) और जहाँ उचित हो उन्हें छुड़ा दें (मोक्ष)। अगले वाक्य का यह अर्थ किया गया है कि वे यह भी ध्यान रखने के लिये व्यापृत हैं कि ऐसा दंडनीय व्यक्ति कहीं बहुत संतानवाला, आपत्ति का मारा या बूढ़ा तो नहीं है। ऐसी अवस्था में वे उसके लिये भी वही तीनों उपाय करें। कालसी के 'कटाभिकाले, या उसके भिन्न भिन्न पाठांतरों का 'आपत्ति का मारा' अर्थ ठीक नहीं जान पड़ता। सप्तमी के प्रयोग से तथा अनुबंध पद से यही अर्थ ठीक है जो हमने दिया है कि धर्ममहामात्र के पद पर ऐसे ऐसे उपयुक्त लोग ही रक्खे गए हैं। यह

कर चुके हैं, या बूढ़ों [ ही ] के लिये नियत है [ ऐसे मनुष्य ही इस पर नियत किए गए हैं ] । ये लोग यहाँ पाटलिपुत्र में[११] तथा बाहर के सब नगरों में, मेरे तथा मेरे भाई और बहिनों के महलों[१२] तथा दूसरे संबंधियों के लिये सब जगह

---

पृथक् वाक्य है, जिसमें उनकी नियुक्ति के लक्षण कहे हैं, अधिकार नहीं । 'अनुबध' से यह अर्थ निकालना कि प्राण दंड के प्रति अवसर पर प्रजा में कृताधिकार और बूढ़े नियत हैं यहां पर बेमेल है ।

यहां बध (=वध) का अर्थ सता कर मारना है क्योंकि बिना पीड़ा पहुँचाए झटपट प्राणदंड को कौटिल्य ने 'शुद्ध वध' कहा है । पीड़ा देकर मारने के दंड में धर्मसहामात्र अपना दयायुक्त काम दिखा सकते हैं । **अनुबंध** का अर्थ अपराधी की 'नीयत' या 'मनशा' है ( मनु ८।१२६, ७।१६ ) । **अपलिबोधाय** = दंड घटाना, यह पद ऊपर भी आया है जहां गिरनार का पाठ 'अपरिगोधाय' है, जिसका अर्थ गर्धा या लोभ को हटाना है । यही मूल पाठ हो सकता है । **कताभिकार**-किसी के बहकाने या साजिश से अपराध करनेवाला (जायसवाल और स्मिथ) । गिरनार के पाठ पंक्ति ४५ में 'अ' तथा 'रे' कुछ स्पष्ट हैं, बीच के दो अक्षर टूट गए हैं उनका कुछ अंश ही दीखता है । यहां के 'कतभिकार' की पुष्टि के लिये वहां के दूसरे अक्षर को भी 'भि' पढ़कर 'अभिकरे' का अर्थ 'प्रथम कर्ता' किया जाता है किंतु वह 'भि' नहीं हो सकता, 'दि' ही है । अस्तु । अपराधी की मनशा या नीयत का विचार कर, उसके बालबच्चे हैं यह विचार कर, उसने किसी के बहकाने या साजिश से काम किया है यह विचार कर, या वह वृद्ध है यह विचार कर भी महामात्र उन्हीं तीन प्रकारों से उसको सुख पहुँचा सकते हैं ।

( ११ ) गिरनार के पाठ में ही 'यहाँ' के स्थान पर 'पाटलिपुत्र में' लिखा है जो उस सुदूर देश में 'यहाँ' का अर्थ स्पष्ट करने के लिये है । और जगह राजधानी से आई हुई मूल प्रति में जैसा ( यहाँ ) लिखा था वैसा ही खोद दिया है ।

( १२ ) अवरोधन का अर्थ घेरा या घिरा भाग ( पंजाबी—बेढा ) अर्थात् अंतःपुर या ज़नाना है । इसका यह अर्थ नहीं है कि उस समय मुसलमानी या राजस्थानी ढंग का कठिन पर्दा था । स्त्रियों की निवासभूमि सभी देशों और जातियों में कुछ न कुछ तो पृथक् होती है । कुछ कुछ पर्दा उस समय अवश्य था—देखो कौटिल्प २।२३, और भास के एक श्लोक की व्याख्या ( पत्रिका भाग १ पृ० ९८ ) ।

नियुक्त हैं । जो यों धर्म के काम में अधिकृत अथवा अधिष्ठित अथवा दान के काम में अधिकार[५] पर [रहते हुए] मेरे सब विजित देशों में, सारी पृथ्वी में, धर्म के अधिकारियों[६] पर नियुक्त हैं वे धर्ममहामात्र हैं । इसलिये यह धर्मलिपि लिखवाई[१३] ।

---

(१३) दिपिस्त (शहबाज़गढ़ी) । हुल्श लिखते हैं कि दिपि और दिपिस्त में 'दि' नहीं है, 'नि' है और वे 'निपिस्त' का अर्थ निपिष्ट' पीसा गया या फ़ारसी (ईरानी) नविश्त, लिखा गया, करते हैं । इसपर जायसवाल ने प्रौढ़ कल्पना की है कि यदि 'नि' है तो 'निपि' = नीवी, निपिस्त = नीविस्थ मान लो और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'नीवी' के प्रयोगों का अर्थ फाइल, मिसल, रेकार्ड करके कहा है कि अशोक ने ये धर्मलिपियां भी 'नीवीस्थ' कराई होंगी जैसे कि कौटिल्य ने धर्माधर्मव्यवहारसंस्थान, मित्रामित्र, संधिविग्रहप्रदान आदि को निबंधपुस्तकस्थ कराने का नियम किया है । नीवी का अर्थ कमरबंद या नीचे का वस्त्र बांधने का नाड़ा होता है । काम के कागज़ों की फाइल भी सूत्र (नाड़े) से बँधी होती हों इस उपचार से जायसवाल महाशय नीवी का यह अर्थ (अंगरेज़ी Red Tape की छाया पर) करते हैं । यह ठीक नहीं । नीवी का अर्थ मूलधन या रोकड़ बाकी ही है । आश्चर्य्य है कि यह अर्थ भी उसी नाड़े या इज़ारबंद के उपचार से हुआ है । कमर में धन की थैली बांधने की चाल है, मोरी या अंटी (टेंट) में भी रुपया रक्खा जाता है । कुबेर की पुरानी मूर्तियों में उसके गले में वैसी ही गुँथी हुई धन की थैली बनाई जाती है जैसी नौली या बासणी गांववाले बाँधते हैं । इस नीवी के उपचार से मूल धन या जमा पूँजी 'नीवी' कहलाई और जिस धन का केवल व्याज ही काम में लिया जाय, मूल न छेड़ा जाय, वह 'अक्षय-नीवी' हुआ (मराठी गंगाजली, न खर्चने के भाव से) । एक ऐसा ही उपचार और है । मारवाड़ी में पोतिया कपड़े सिर पर लपेटने के रुमाल पल्ले, या रुमाल मात्र को कहते हैं । प्रबंधचिंतामणि में पोत वस्त्र के अर्थ में आया है । 'पोते बाकी' का अर्थ है पल्ले में जो बाकी बचे । यह पल्ला या पोत वस्त्र का वाचक होकर जमा या 'नीवी' का वाचक हो गया, जैसे, पोतदार, पोतेदार में । कई लोग पोतेदार को फारसी फ़ोते से मिलाते हैं जो संस्कृत के कोष की तरह दो अर्थों में आता है—खज़ाना और वृषण । आश्चर्य यह है कि हेमचंद्र की देशीनाममाला में 'पोत्तओ' का अर्थ वृषण दिया है (६।६२)। संभव है कि देशी' 'पोत' भी वस्त्र, उसकी गांठ अर्थात् धनकोश और वृषण तीनों का वाचक रहा हो । अस्तु । कौटिल्य में नीवी का अर्थ पूँजी या बचत स्पष्ट है—आय व्यय और नीवी (पृ. ६१), जब गणना के

[यह] चिरस्थायी रहे तथा मेरी प्रजा[१४] इसका अनुसरण करे।

अधिकारी मोहरबंद बहियाँ, माल और नीवी लेकर आवें तो उनका एकत्र बातचीत करना रोक दे; आय, व्यय और नीवी के अग्र (जोड़) सुनकर नीवी का अवहरण करे ( पृ. ६४ ), इन इन उपायों से आय को जाँचे, मिलावे ( समानयेत् ), इन इन से व्यय को मिलावे, इन इन से नीवी को मिलावे ( पृ. ६४ ) जो नीवी को घटाकर लिखे उसे दूना दंड, खा जावे उसे अठगुना, नष्ट कर दे उसे पँचगुना दंड और खोई रकम की वापसी का दंड ( पृ. ६५ ) दे।

शिलालेखों में भी जहाँ अक्षय नीवी पद आया है वहां उसका अर्थ स्थायी भांड ही है जिसकी बढोतरी ही काम आवे। शक उषवदात ( ऋषभदत्त ) के नासिक गुहा लेख में उषवदात ने "अक्षयनीवी काहापण ( कार्षापण, एक सिक्का ) सहस्रानि त्रीनि" दी थी जो वस्त्र बुननेवालों के दो संघों में धरोहर रक्खी थी, मूल कभी न दिया जाय (अपडिदातवा) और केवल लाभ काम में लिया जाय (वढिभोजा = वृद्धिभोग)। सांची के शिलालेख में उपासिका हरिस्वामिनी ने काकनादबोट के संघ को "अक्षयनीवी दत्ता दीनारा द्वादश" और "एष दीनाराणां या वृद्धिरुपजायते तया दिवसे दिवसे संघमध्यप्रविष्टकभिक्षुरेकैको भोजयितव्यः"। स्कंदगुप्त के विहार शिलालेख में भी एक ग्रामक्षेत्र की अक्षयनीवी दान की गई पाई जाती है। (इं.एं. १९१९, पृ. १३,१४)। दिपिस्त को नीवीस्थ मानने से ध्रमदिपि (प्रज्ञापन१, शहबाज़गढी और मानसेरा ) को धर्मनीवी मानना होगा। वह पद धर्मलिपि के जोड़ का है। तो क्या लिपि का अर्थ भी नीवी हुआ ? जायसवाल महाशय ने तो नीवी की बुरी खैंचतान की है,—मातः किमीयः करोनाभीं तेन क एष कर्षति मुहुर्नीवीमपश्यन्निव ? ( गणरत्न महोदधि में उद्धृत पृ. १३ )। हमें तो 'दि' के 'नि' होने में संदेह ही है। खरोष्ठी में द और न का बहुत साम्य है, इस लिये दिपिर और दबीर वाला दिप धातु मानना ही होगा ( दे० प्रज्ञापन ४, टिप्पण. १४ )।

(१४) यहाँ संतति से भी अभिप्राय है, ऊपर अनुवाद की पंक्ति ३ देखो।

# काशी नागरीप्रचारिणी सभा
का
# कार्य विवरण

## संवत ११७८

## प्रबन्ध समिति ।

शनिवार मि० ३ वैशाख १९७८ (१६ अप्रैल १९२१) सन्ध्या के ५॥ बजे

स्थान-सभाभवन ।

### उपस्थित

बा० श्यामसुन्दर दासजी बी.ए.(सभापति), बा. गौरीशंकरप्रसाद बी.ए.एल.एल.बी., बाबू हरिप्रसाद पालधि बी. ए., बाबू बेणी प्रसादजी, बाबू ब्रजरत्न दासजी

(१) फाल्गुन और चैत्र १९७७ के आयव्यय का निम्नलिखित हिसाब उपस्थित किया गया—

| आय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| गत मासकी बचत | २२४१६॥=)१० | | कार्य कर्ताओं का वेतन | २७०≡)। | ११७।–)॥ |
| सभासदोंकाचन्दा | १६८।=) | | छपाई | ५०५=) | |
| नागरी प्रचार | ॥।=)॥ | | नागरी प्रचार | १६॥।) | |
| फुटकर आय | ३८=)। | | डाकव्यय | १६॥≡)॥। | |
| पुस्तकालय | १३९॥।) | | पुस्तकालय | ७७≡)। | |
| स्थायी कोश | १॥)२ | | | | |

| आय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| भवन निर्माण | १॥=)२ | | पुस्तकों की खोज | ९४।) | |
| अमानत | २२१॥≡)। | | फुटकर व्यय | ११।-) | |
| पुस्तकोंकी बिक्री | | ५८५≡)॥ | अमानत | ३९५॥=)॥। | |
| पृथ्वीराज रासो | | १४६॥) | मनोरंजन पुस्तक माला | | १०३०।≡)॥ |
| हिन्दी कोश | | ११०६॥=)५ | हिन्दी कोश | | ३०९९)॥ |
| मनोरंजन पुस्तक माला | | ९०८॥-)॥ | देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | ॥=) |
| भारतेन्दु ग्रंथावली | | ९०॥।≡)। | छपाई | | ५९३।)॥। |
| देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | ३७॥=)॥। | विज्ञापन | | ५४-) |
| हिन्दी पुस्तकों की खोज | ५००) | | | १३८७॥) | ४८९४॥।-)। |
| | २३४९६॥≡)२ | २८७५॥-)५ | | ६२८२।-)। | |
| | | | बचत | २००८९॥।≡)४ | |
| | २६३७२।)७ | | | २६३७२।)७ | |

( २ ) निश्चय हुआ कि सभा के नए भवन का नकशा तयार कराने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की एक उपसमिति बना दी जाय:—

बाबू हरिप्रसाद पालधि, बाबू गौरीशंकर प्रसाद बी. ए. एल एल. बी., पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए., बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए. तथा राय ज्वाला प्रसाद जी।

( ३ ) वेतन वृद्धि के लिये क्लार्कों का प्रार्थनापत्र उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि मंत्री की सम्मति के सहित यह आगामी अधिवेशन में उपस्थित किया जाय।

( ४ ) ग्वालियर तथा संयुक्त प्रदेश की हिन्दी हस्तलिपि परीक्षा के पर्चे उपस्थित किए गए।

निश्चय हुआ कि इन पर विचार करने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जाय:—बाबू शिवकुमार सिंह, बाबू वेणीप्रसाद तथा पं० रामचन्द्र शुक्ल।

( ५ ) आगामी वर्ष के लिये निम्न लिखित बजेट तयार किया गया—

## काशी नागरी-प्रचारिणी सभा का संवत १९७८ का बजेट।

| आय का व्योरा | सं० १९७७ का बजेट | संवत् १९७७ की वास्तविक आय | संवत् १९७८ का बजेट | व्यय का व्योरा | संवत् १९७७ का बजेट | संवत् १९७७ का वास्तविक व्यय | संवत् १९७८ का बजेट |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| गत वर्ष की बचत | ६९५॥=)७ | २२१९५॥-)२ | ७१०॥।)२ | कार्यकर्ताओंका वेतन | १६००) | १५५१॥) | १८००) |
| सभासदों का चन्दा | १५००) | १८६३॥≡)॥ | २०००) | छपाई | १८००) | १९७८॥।-)॥ | ५१००) |
| हिन्दी पुस्तकोंकी खोज | १०००) | १०००) | १५००) | डाक व्यय | ३५०) | ४५८≡)॥ | ५००) |
| नागरी प्रचार | १५) | १८॥=)॥ | २०) | नागरी प्रचार | ११०) | १००॥।=) | १००) |
| फुटकर आय | १००) | ६७।=)॥ | ६०) | पारितोषिक | ६४) | ९२॥=) | ६४) |
| पुस्तकालय | ६००) | ६६२।-)॥ | ७००) | पुस्तकालय | ६००) | ३८३।-)॥। | ५००) |
| विशेष आय | १५००) | ८०४॥=)॥। | १९५६) | पुस्तकों की खोज | १०००) | ९०९॥-)। | १५००) |
| जोधसिंह पुरस्कार | ६५) | ६३॥-)॥ | ६०) | फुटकर व्यय | २००) | १७६≡)॥। | २००) |
| अमानत | ६५१=)॥ | २०३९॥=)। | ७८०-)॥। | मरम्मत | ५०) | १०७॥।≡)॥ | ५०) |
| भवन निर्माण | ... | २४॥=)१० | ...... | अमानत | २३७।≡)। | २४३७) | ... |
| स्थायी कोश | ११६) | ३८४)७ | १००) | सभाभवन पर टिकस | १०६।) | ... | २१२॥) |
|  |  |  |  | स्थायी कोश के लिये | १२६) | ... | ९३।) |
|  |  |  |  | वार्षिकोत्सव | ... | १६८॥) | १००) |
|  |  |  |  | टेक्स | ... | ८४।-)॥ | ... |
|  |  |  |  | जोधसिंह पुरस्कार | २००) | २२१॥।) | १३२॥।) |

## पुस्तक विभाग ।

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| पुस्तकों की बिक्री | १२००) | १६६३॥=)। | २०००) | कार्यकर्ताओंका वेतन | १४२५) | २५६॥≡) | ८१७) |
| पृथ्वीराजरासो | ७००) | ६४४।)॥ | ७००) | मनोरञ्जन पुस्तकमाला | ७४००) | ५४४६-)। | ९५००) |
| हिन्दी कोश | ९०००) | ४५९४॥≡)८ | ७३००) | हिन्दी कोश | १०२९३।=)½ | ६८८३॥≡)। | ७३००) |
| पुस्तकोंकेलिये पुरस्कार | १००) | ५०।≡)।॥ | ५०) | भारतेन्दु ग्रन्थावली | ५००) | ३२४-)॥ | १०००) |
| मनोरंजन पुस्तकमाला | ७०००) | ५९५९।-)॥। | ७५००) | विज्ञापन | ५००) | ८६॥-) | ५००) |
| भारतेन्दु ग्रन्थावली | ७००) | ३६२।)१ | १०००) | देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला | १६४१) | ३४०=) | ११७८॥=)॥। |
| देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला | २०५०) | ३१८७॥=)॥। | १८००) | छपाई | ... | १०५०॥≡) | ... |
| सूर्यकुमारीपुस्तकमाला | ५०००) | २६५०) | ८०००) | सूर्यकुमारीपुस्तकमाला | ५०००) | २०१७॥≡) | ७९८२-) |
| | ३१९९२॥)८ | ४८२३७॥)१ | ३६२३६॥-)११ | | ३३२०३-)३½ | २८१४७॥।)॥। | ३५९२३।=)॥। |

## बचत का ब्योरा ।

३६॥=)॥ रोकड़ सभा
६०४॥)। बनारस बङ्क चलता खाता
६९।-)५ बनारस बङ्क सेविंग बङ्क
७१०॥)२

१०५००) इम्पीरियल बङ्कके ७ शेयर
१००=) बनारस बङ्क फिक्सड डिपाजिट ( जोधसिंह पुरस्कार )
७५००) " "
३७५॥=)८ पोस्टल सेविंग बङ्क
३।)॥ बनारस बंक ( भवन निर्माण )
१९३७९≡)२

कुल जोड़ २००८९॥≡)४

## आय का ब्योरा ।

### मनोरंजन पुस्तकमाला

| | |
|---|---|
| ६ नई संख्याओं का बिक्री | २५००) |
| फुटकर बिक्री | ५०००) |
| | ७५००) |

### देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

| | |
|---|---|
| पुस्तकों की बिक्री | ११००) |
| इम्पीरियल बंक से डिविडेण्ट | ७००) |
| | १८००) |

### हिन्दी कोश

| | |
|---|---|
| चार संख्याओं की बिक्री | ४४००) |
| पुराने अंकों की बिक्री | २६००) |
| ब्याज | ३००) |
| | ७३००) |

### पुस्तकालय

| | |
|---|---|
| बनारस म्युनिसिपपेलिटी की सहायता | ३६०) |
| सहायकों का चन्दा | ३४०) |
| | ७००) |

## व्यय का ब्योरा ।

### छपाई

| | |
|---|---|
| ना० प्र० पत्रिका ६ संख्याएँ | ३९६०) |
| वार्षिक रिपोर्ट | १५०) |
| पिछले बिल | ८५३।=)।।। |
| फुटकर | १३६॥-)। |
| | ५१००) |

### मनोरंजन पुस्तकमाला

| | |
|---|---|
| ६ संख्याओं की छपाई ग्रन्थकारों के पुरस्कार सहित | ४०५०) |
| फुटकर | ११४८।)।।। |
| पिछले बिल | १३०१॥≡)। |
| | ६५००) |

### जोधसिंह पुरस्कार

| | |
|---|---|
| प्रशंसा पत्र की छपाई | १३२॥।) |

### पुस्तक विभाग के कार्यकर्त्ता

| | |
|---|---|
| सहायाक मंत्री | ६००) |
| दफ्तरी | ११४) |
| चपरासी | ९६) |
| | ८१०) |

### हिन्दी कोश

| | |
|---|---|
| चार संख्याओं की छपाई | ३२००) |
| वेतन तथा पुरस्कार | २५००) |
| फुटकर | १०३२।।।) |
| बचत | ५६७।) |
| | ७३००) |

### कार्यकर्त्ताओं का वेतन

| | |
|---|---|
| सहायक मंत्री | ७८०) |
| क्लार्क १ | २७६) |
| क्लार्क २ | २१६) |
| क्लार्क ३ | १४४) |
| चपरासी | ९६) |
| पंखा कुली | ३६) |
| मेहतर | १२) |
| माली | ३६) |
| फुटकर | २०४) |
| | १८००) |

### देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला

| | |
|---|---|
| सुंगयुन की छपाई | ११०७।≡)।।। |
| बचत | ७१।≡) |
| | ११७८॥≡)।।। |

( ६ ) गंगा पुस्तकमाला कार्यालय का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लखनऊ के लिये सभा की पुस्तकों की एजेन्सी मांगी थी और लिखा था कि वर्ष में वे कम से कम एक हजार की बिक्री करेंगे ।

निश्चय हुआ कि जिन नियमों पर हिन्दी पुस्तक एजेन्सी को एजेन्सी दी गई है उन्हीं नियमों पर उन्हें भी दी जाय परन्तु पुस्तकें उधार न दी जा सकेंगी ।

( ७ ) मुं० बटुक प्रसाद का प्रार्थनापत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने एक मास के लिये आधे वेतन पर छुट्टी की प्रार्थना की थी ।

निश्चय हुआ कि विशेष अवस्था में इन्हें आधे वेतन पर छुट्टी दी जाती है ।

( ८ ) निश्चय हुआ कि गोभिलीय गृहकर्म प्रकाशिका की सब प्रतियां कोई सज्जन एक साथ ले लें तो वे उन्हें अर्द्ध मूल्य पर दे दी जांय ।

( ९ ) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

## (२) प्रबन्ध समिति

सोमवार मि० २ ज्येष्ठ १९७८ ( १६ मई १९२१ ) सन्ध्या के ५॥ बजे

स्थान-सभाभवन

उपस्थित

बाबू श्यामसुन्दरदास जी बी. ए., बाबू गौरीशंकर प्रसाद बी. ए. एल.एल. बी.
ठाकुर शिवकुमारसिंह, बाबू ब्रजरत्नदास ।

कोरम पूरा न होने के कारण अधिवेशन न हो सका और निश्चय हुआ कि कल मि. २ ज्येष्ठ १९७८ को सन्ध्या के ५ बजे अधिवेशन किया जाय ।

## (३) प्रबन्ध समिति

मंगलवार मि० ३ ज्येष्ठ १९७८ ( १७ मई १९२१ ) सन्ध्या के ५॥ बजे

स्थान-सभाभवन

उपस्थित

बा. श्यामसुन्दरदासजी बी.ए. (सभापति ,बा. गौरीशंकर प्रसाद बी.ए.,एल.एल.बी.
ठाकुर शिवकुमार सिंह, बाबू वेणीप्रसाद, बाबू ब्रजरत्न दास ।

( १ ) ३ वैशाख १९७८ का कार्यविवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ ।

( २ ) सभा का अट्ठाइसवां वार्षिक विवरण पढ़ा गया और उसमें आवश्यक संशोधन किया गया ।

निश्चय हुआ कि यह रिपोर्ट स्वीकार की जाय पर इसमें समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं का जो उल्लेख किया गया है उसके स्थान पर केवल उन समाचार पत्रों तथा पत्रिकाओं की नामावली दी जाय जो इस वर्ष नए निकलने लगे

अथवा जो बन्द हो गए। इसे तथा इस विवरण की अन्य त्रुटियों को दूर करने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जायः—बाबू श्याम सुन्दरदासजी बी. ए., बाबू बेणीप्रसाद तथा पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए.।

( ३ ) वेतन वृद्धि के लिये क्लार्कों का प्रार्थनापत्र उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि यह मंत्री की सम्मति के सहित आगामी अधिवेशन में उपस्थित किया जाय।

( ४ ) एक मास की छुट्टी के लिए पं० विश्वेश्वरनाथ तिवारी का प्रार्थना पत्र उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि मंत्रीजी इस सम्बन्ध में जैसा उचित समझें करें।

( ५ ) मंत्री ने सूचना दी कि हिन्दी हस्तलिपि परीक्षा के लिये जिन सज्जनों को सभा ने नियत किया था उनमें से पण्डित रामचन्द्र शुक्ल बाहर चले गए हैं अतः हस्तलिपि के पर्चों पर विचार नहीं हो सका।

निश्चय हुआ कि इस कार्य के लिये पंडित रामचन्द्र शुक्ल के स्थान पर पंडित रामनारायण मिश्रजी चुने जांय।

( ६ ) पंडित प्यारेलाल गौड़ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि (क) सभा के साधारण अधिवेशनों की सूचना बाहरी सभासदों को भी भेजी जाया करे और (ख) हिन्दी वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा में आनर्स प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों तथा उनके अध्यापकों को कुछ पुरस्कार दिया जाय।

निश्चय हुआ कि (क) साधारण सभा के सब अधिवेशनों की तिथियां सभा की पत्रिका में छाप दी जांय और (ख) यह आगामी अधिवेशन में उपस्थित किया जाय।

( ७ ) रायपुर के श्रीयुत बी० पी० पुरोहित का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने पूछा था कि क्या सभा उनकी "अंक चन्द्रिका" को प्रकाशित कर सकेगी ?

निश्चय हुआ कि सभा इसे इस समय प्रकाशित नहीं कर सकती।

( ८ ) बुलन्दशहर के बाबू वंशीधर मारवाड़ी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने प्रस्ताव किया था कि संयुक्त प्रदेश के गवर्न्मेंट गजट का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कराने के लिये सभा उचित उद्योग करे और प्रान्तीय रिपोर्टों का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित कराने का उद्योग किया जाय।

निश्चय हुआ कि सभा इस सम्बन्ध में उद्योग कर चुकी है पर उसे सफलता नहीं हुई।

( ९ ) डाक्टर गंगानाथ झा का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने न्याय प्रकाश तथा वैशेषिक दर्शन की कुछ प्रतियां मांगी थीं।

निश्चय हुआ कि उक्त पुस्तकों की दस दस प्रतियां उन्हें भेंट की जांय।

(१०) निश्चय हुआ कि हिन्दी पुस्तकों की खोज की कार्य प्रणाली निश्चित करने तथा सूर्यकुमारी पुस्तकमाला का कार्यक्रम बनाने के लिये निम्न लिखित सज्जनों की एक उपसमिति बनाई जाय।

पण्डित रामनारायण मिश्र बी. ए., बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए., बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद बी. ए. एल. एल. बी.।

( ११ ) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

---

## वार्षिक अधिवेशन

### रविवार मिती ८ ज्येष्ठ सं० १९७८ (२२ मई १९२१) सन्ध्या के ६ बजे

### स्थान–सभाभवन

### उपस्थित

बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए. (सभापति), बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद बी. ए. एल. एल. बी., पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए, ठाकुर शिवकुमार सिंह जी, बाबू लक्ष्मीनारायण गुप्त, बाबू सत्यनारायण प्रसाद, बाबू माधव प्रसाद, बा. वेणी प्रसाद, बाबू चन्द्रिका प्रसाद, बाबू गोपाल दास, बाबू सूर्यनारायण सिंह, बाबू बालमुकुन्द वर्म्मा, पंडित केदारनाथ पाठक, बाबू केदारनाथ, पंडित मदनमोहन शास्त्री, पंडित इन्द्रदेव तिवारी, बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, बाबू कवीन्द्रनारायणसिंह, पंडित रामचन्द्र नायक कालिया, बाबू शिवप्रसाद गुप्त, बाबू रामचन्द्र वर्म्मा।

राय बहादुर बाबू हीरालाल––प्रतिनिधि बाबू श्यामसुन्दर दास द्वारा।

बाबू रामधन सिंह, बांदा—प्रतिनिधि पंडित रामनारायण मिश्र द्वारा।

बा. लालमणि गुप्त, फर्रुखाबाद–प्रतिनिधि बा. शिवप्रसाद गुप्त द्वारा।

सैयदअमीरअली, धर्म्मजयगढ़–प्रतिनिधि बाबू बेणीप्रसाद द्वारा।

बाबू जगन्नाथ झुंझनूवाले, रानीगञ्ज }
बाबूदामोदरदास खंडेलवाल,कलकत्ता। } प्रतिनिधि बा. गौरीशङ्कर प्रसाद द्वारा

बाबू चन्डी प्रसाद नायक गोरखपुर–प्रतिनिधि बाबू जगन्मोहन वर्मा द्वारा।

( १ ) कार्याधिकारियों और प्रबन्ध समिति तथा बोर्ड के सभासदों के चुनाव के लिये उपस्थित सभासदों में निर्वाचनपत्र वितरित किए गए, सभासदों ने इन पत्रों को भरा और इनका परिणाम जाँचने के लिये सभापति महोदय ने ठाकुर शिवकुमार सिंह, बाबू सत्यनारायण प्रसाद और बाबू माधव प्रसाद को नियत किया।

( २ ) सभा का अट्ठाइसवां वार्षिक विवरण पढ़ा गया।

बाबू शिवप्रसाद गुप्त के प्रस्ताव पर काशी विद्यापीठ का और बाबू रामचन्द्र वर्म्मा के प्रस्ताव पर सभा भवन में ठाकुर वैजनाथ सिंह जी के पधारने का उल्लेख इसमें बढ़ाया गया।

बाबू गौरीशङ्कर प्रसादजी के प्रस्ताव तथा पंडित रामनारायण मिश्र के अनुमोदन पर निश्चय हुआ कि यह विवरण स्वीकार किया जाय।

( ३ ) सम्वत् १९७७ के आय व्यय का हिसाब उपस्थित किया गया और स्वीकृत हुआ।

( ४ ) सम्वत् १९७८ के लिये निम्न लिखित बजेट उपस्थित किया गया।

बाबू रामचन्द्र वर्म्मा के प्रस्ताव तथा बाबू केदारनाथ के अनुमोदन पर निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

( ५ ) वार्षिक चुनाव का निम्नलिखित परिणाम उपस्थित किया गया।

सभापति—रायबहादुर पंडित गौरीशङ्कर हीराचन्द ओझा
उप सभापति—बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद बी. ए., एल. एल. बी.
,, —पंडित रामनारायण मिश्र बी. ए.
मंत्री—बाबू श्यामसुन्दर दास बी. ए., उपमंत्री–बाबू व्रजरत्न दास

| | |
|---|---|
| प्रबंध समिति के सदस्य | बाबू कवीन्द्रनारायण सिंह |
| | बाबू बेणी प्रसाद |
| | पंडित आत्माराम हरी खांडीलकर |
| | पंडित देवीप्रसाद उपाध्याय |
| | पंडित शुकदेव बिहारी मिश्र बी. ए. |
| | रायबहादुर बाबू हीरालाल |
| | डाक्टर रामकृष्ण गोपाल भंडारकर |
| बोर्ड आफ ट्रस्टीज़ के सदस्य | रायबहादुर बाबू हीरालाल |
| | बाबू गौरीशंकर प्रसाद बी. ए., एल. एल. बी. |
| | सर आसुतोष मुकर्जी |
| | बाबू बेणीप्रसाद |

(६) बोर्ड आफ ट्रस्टीज तथा प्रबन्धसमिति का यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि नियम ४८ के अनुसार बोर्ड आफ ट्रस्टीज़ में जिन सदस्यों के स्थान रिक्त हुए हैं उनमें से माननीय पंडित मदनमोहन मालवीय, बाबू भगवानदास एम. ए., राजा मोतीचन्द और राय शिवप्रसाद पुनः उक्त बोर्ड के सदस्य चुने जांय।

पंडित रामनारायण मिश्र के प्रस्ताव तथा बाबू गौरीशंकर प्रसादजी के अनुमोदन पर निश्चय हुआ कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाय।

( ७ ) प्रबन्ध समिति का यह प्रस्ताव, जो साधारण सभा से अनुमोदित हो चुका था, उपस्थित किया गया कि राजाधिराज सर नाहरसिंह जी. के. सी. आई. ई. शाहपुराधीश, जिनके राजकुमार ने सूर्यकुमारी पुस्तकमाला के लिये एक लाख रुपए का दान दिया है, सभा के संरक्षक चुने जांय।

सर्व सम्मति से यह प्रस्ताव स्वीकृत हुआ।

( ८ ) बाबू गौरीशंकर प्रसादजी के प्रस्ताव तथा बाबू रामचन्द्र वर्म्मा के अनुमोदन पर निश्चय हुआ कि बाबू बेणीप्रसादजी ने गत वर्ष मंत्री रह कर सभा का कार्य्य जिस योग्यता और उत्तमता से चलाया है उसके लिये उन्हें धन्यवाद दिया जाय।

( ९ ) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

## साधारण सभा ।

शनिवार वि० २८ ज्येष्ठ १९७८ ( ११ जून १९२१ ) सन्ध्या के ६ बजे

स्थान—सभाभवन ।

उपस्थित

बाबू बेणी प्रसाद ( सभापति ) बाबू श्यामसुन्दरदास बी. ए. पंडित रामचन्द्र नायक कालिया, पंडित देवीप्रसाद उपाध्याय, बाबू ब्रजरत्नदास, पंडित केदारनाथ नाथ पाठक, बाबू बालमुकुन्द वर्म्मा ।

( १ ) बाबू श्यामसुन्दर दासजी के प्रस्ताव तथा बाबू बालमुकुन्द वर्म्मा के अनुमोदन पर बाबू बेणी प्रसाद जी सभापति चुने गए ।

( २ ) प्रबन्ध समिति का ३ वैशाख १९७८ का कार्यविवरण सूचनार्थ पढ़ा गया ।

(३) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के फार्म उपस्थित किए गए-

| | | |
|---|---|---|
| १ | बाबू ब्रजभूषण, कम्बो दरवाजा, मेरठ | ३) |
| २ | द्विवेदी नाथूरामात्मज धनलाल शर्मा, रायजीकी ब्रह्मपुरी, सिरोयोंका वास, उदयपुर | ३) |
| ३ | पंडित रोशनलालझा, पोलिटिकल सुपरेण्टेण्डेन्सी, हिली ट्रेकृस, खैरवाड़ा, मेवाड़ | ३) |
| ४ | पंडित रघुनन्दनलाल शर्म्मा, टिंबर मर्चेंट, अनूपशहर, बुलंदशहर | ३) |
| ५ | पंडित परमेश्वरानन्द शर्म्मा, सनातन धर्म संस्कृत कालेज अनारकली, लाहौर | ३) |
| ६ | बाबू शारदा प्रसाद गुप्त, अहरौरा, जि० मिर्जापुर | ३) |
| ७ | बाबू पूरनचन्द, सबओवरसियर, शङ्करगढ़, प्रयाग | ३) |
| ८ | बाबू बिशनदास अरोड़ा, ढुंढिराज गणेश, काशी | ३) |
| ९ | श्रीयुत रतीलाल मगन लाल अन्ताणी, अड़ज, झालावाड़, झालरापाटन | ३) |
| १० | बाबू रामशरण वकील, सहायक मंत्री, ब्रिटिश इण्डियन एसोसिएशन, मुरादाबाद | ३) |
| ११ | श्रीयुत बाबू शिवजी, मेयोकालेज, अजमेर | ३) |
| १२ | बाबू मोड़ीराम, सहायक खज़ानची, मसूदा, वाया नसीराबाद | ५) |
| १३ | बाबू द्वारिका प्रसाद बी. ए., सब इन्स्पेक्टर आफ स्कूल्स, राजपुर, जि० चम्पारन | ३) |
| १४ | बाबू अतीन्द्र मोहन चट्टोपाध्याय, सब डिप्टी कलेक्टर पो० साहसपुर, जिला बांकुड़ा | ३) |

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जांय ।

(४) निम्न लिखित सभासदों के त्यागपत्र उपस्थित किए गए—

१ बाबू दातारामजी, छोटी कुञ्जगली, काशी।
२ पं० लक्ष्मीनारायण शर्म्मा, टेढ़ी बाजार, गाजीपुर।
३ बाबू नवरत्न लाल मुख्तार।

निश्चय हुआ कि इनके त्यागपत्र स्वीकार किए जांय।

(५) मंत्री ने सूचना दी कि बुलन्दशहर के पंडित टीकाराम गणेशदत्त वैद्य के यहां जो पत्रिका भेजी जाती है उसे वे अस्वीकार करके लौटा देते हैं।

निश्चय हुआ कि इनका नाम सभासदों की नामावली से काट दिया जाय।

(६) मंत्री ने सूचना दी कि प्रबन्धसमिति के अधिवेशनों में उपस्थित न होने अथवा उनमें अपनी सम्मति न भेजने के कारण निम्नलिखित सदस्यों के स्थान उस समिति में रिक्त होते हैं (१) पंडित गोविन्दराव जोगलेकर (२) सेम्युएल पी० सी० दास (३) बाबू हरिप्रसाद पालधि (४) पंडित गोविन्द नारायण मिश्र (५) ठाकुर राजेन्द्र सिंह (६) बाबू बलदेव दास (७) बाबू शिवप्रसाद गुप्त (८) पं० रामचन्द्र नायक कालिया (९) बाबू जगन्नाथ झुनझुनूवाले (१०) बाबू काशी प्रसाद जायसवाल और (११) राय रामशरणदास। इनके अतिरिक्त मध्यप्रदेश से पं० शुकदेव बिहारी मिश्र के चले जाने के कारण उनका स्थान भी रिक्त हो गया।

निश्चय हुआ कि इनके स्थान पर क्रमात् निम्नलिखित सज्जन चुने जांय (१) पंडित रामचन्द्र शुक्ल (२) पंडित प्राणनाथ विद्यालङ्कार (३) बाबू दुर्गाप्रसाद (४) बाबू माधव प्रसाद (५) पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी (६) गोस्वामी रामपुरी (७) बाबू बलदेव दास (८) पंडित रामचन्द्र नायक कालिया (९) राय पूरणचन्द्र नाहर (१०) रायसाहब बाबू रामगोपाल चौधरी (११) पंडित जगन्नाथ निरुक्तरत्न तथा (१२) रायबहादुर डा० सरयूप्रसादजी।

(७) निम्नलिखित पुस्तकें उपस्थित की गईं और स्वीकृत हुईं—

१ इंडियन प्रेस, प्रयाग—
Bate's Hindi-English Dictionary.
२ बनारस म्युनिसिपल बोर्ड—
Administration Report of 1920-21.
३ ज्ञानमंडल कार्यालय, काशी—
बिहारी सतसई, अब्राहम लिंकन, प्राचीन भारत, इटली के विधायक महात्मागण, यूरप के प्रसिद्ध शिक्षण सुधारक, वैज्ञानिक अद्वैतवाद।
४ हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई।
ज्ञान और कर्म, सरल मनोविज्ञान
५ श्रीयुत जी० पी० श्रीवास्तव बी. ए., एल. एल. बी., गोंडा—
मर्दानी औरत, भड़ामसिंह शर्म्मा, नोक झोंक।

६ ठाकुर महावीर सिंह वर्म्मा, अढ़िया, पो० रसूलाबाद, उन्नाव —
मेघदूत ।

७ पंडित माधवराव सप्रे बी. ए., जबलपुर--
महाभारत मीमांसा ।

८ जैन पुस्तक प्रकाशक कार्यालय, ब्यावर—
उपदेश रत्नकोश, वैराग्य शतक, मार्गानुसारी के ३५ गुण, जैन दर्शन और जैन धर्म्म ।

९ पण्डित परमेश्वर मिश्र, नई बस्ती, काशी-
पंडित दामोदर शास्त्री ।

१० बाबू रामचन्द्र वर्म्मा, काशी-
सुभाषित और बिनोद ।

११ बाबू माधव प्रसाद खत्री, धर्मकूप, काशी--
मेज़िनी ।

१२ पंडित भोलानाथ पांडे, गायघाट, काशी--
नराधम ।

१३ नाथ क्षत्री ब्रह्मचर्याश्रम, काशी-
कौशल किशोर कल्पतरु ( हस्तलिखित )

( ८ ) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

---

## ( ४ ) प्रबन्ध समिति ।

शनिवार वि० ११ आषाढ़ १९७८ (२५ जून ९२१) सन्ध्या के ६ बजे

स्थान--सभाभवन ।

### उपस्थित

बाबू माधवप्रसाद (सभापति), बाबू बेणीप्रसाद, बाबू श्यामसुन्दरदास बी०ए० पण्डित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू ब्रजरत्नदास, पण्डित देवीप्रसाद उपाध्याय ।

### सम्मति भेजने वाले

राय बहादुर बाबू हीरालाल, वर्धा

( १ ) बाबू श्यामसुन्दर दास जी के प्रस्ताव तथा बाबू बेणीप्रसाद जी के अनुमोदन पर बाबू माधव प्रसाद जी सभापति चुने गए ।

( २ ) गत अधिवेशन ( ३ ज्येष्ठ १९७८ ) का कार्यविवरण पढ़ा गया और स्वीकृत हुआ ।

( ३ ) वैशाख और ज्येष्ठ १९७८ के आयव्यय का निम्नलिखित हिसाब सूचना उपस्थित किया गया:-

## वैशाख १९७८

| आय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| गत मासकी बचत | २००८९॥।≡)४ | | कार्य कर्ताओं का वेतन | १३१।≡)॥ | ६७॥) |
| सभासदोंका चंदा | ११=) | | डाक व्यय | २७॥=)॥ | |
| नागरी प्रचार | १॥=)॥। | | नागरी प्रचार | ८।=) | |
| फुटकर आय | ३≡)॥ | | पुस्तकालय | २०॥।-) | |
| पुस्तकालय | ४६) | | हिन्दी पुस्तकों की खोज | १२०≡) | |
| अमानत | ७०≡) | | | | |
| पुस्तकों की बिक्री | | १३५॥≡)॥ | | | |
| पृथ्वीराजरासो | | ५२॥) | फुटकर व्यय | १२॥≡)॥। | |
| हिन्दीकोश | | ११८॥≡)। | अमानत | ३९३-) | |
| मनोरञ्जन पुस्तक माला | | २३२॥।=) | हिन्दी कोश | | १५२।≡) |
| भारतेन्दु ग्रन्थावली | | ३७-)॥। | भारतेन्दुग्रंथावली | | १) |
| | | | विज्ञापन | | १६) |
| देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | ३५६४≡)॥ | देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | ८॥।=) |
| | | | सूर्यकुमारी पुस्तक माला | | २००) |
| | | | | ७२४॥।)॥। | ४४६-) |
| | | | | ११७०॥।-)॥। | |
| | २ २२२।=)७ | ४१४१=)। | बचत | २३१९२॥≡)१ | |
| | २४३६३॥)१० | | | २४३६३॥)१० | |

## ज्येष्ठ १९७८

| आय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय का ब्योरा | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| गत मासकी बचत | २३१९२॥≡)१ | | कार्य कर्ताओं का वेतन | १२९)॥। | ६६) |
| सभासदोंकाचन्दा | ३) | | | | |
| नागरी प्रवार | -) | | छपाई | १५०२॥-)॥ | |

| आय | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| फुटकर आय | ३।)। | | डाकव्यय | १३४=)। | |
| पुस्तकालय | ३२।) | | नागरी प्रचार | ८।=) | |
| विशेष आय | ६४०।।।≡)।।। | | पुस्तकालय | ३५।।।=)।।। | |
| अमानत | ३०८।।-)।। | | पुस्तकों की खोज | ७४।।।-)। | |
| स्थायी कोश | ६६।-)।।। | | फुटकर व्यय | ४६।।।-)। | |
| पुस्तकोंकी बिक्री | | ७२।=)। | भवन का टिकस | १०६।) | |
| पृथ्वीराज रासो | | ३७।।) | स्थायी कोष के लिये | ६६।-)।। | |
| हिन्दी कोश | | १३१) | | | |
| | | | जोधसिंहपुरस्कार | १३२।।।) | |
| मनोरंजन पुस्तक माला | | १५०।=) | अमानत | १८२≡)।।। | |
| भारतेन्दु ग्रंथावली | | ४८।।।=) | मनोरंजन पुस्तक माला | | १११।।≡ |
| देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | १०) | हिन्दी कोश | | ४५०।।।= |
| | | | देवीप्रसाद ऐतिहासिकपुस्तक माला | | १२०३≡) |
| | | | सूर्यकुमारी पुस्तक माला | | ७८≡) |
| | | | पुस्तकों के लिये पुरस्कार | | १६-) |
| | | | | २४५२।।।-)।। | २९२६-) |
| | | | | ५३७८।।।≡)। | |
| | २४५७७≡)४ | ४५०=)। | बचत | १९६४८।=)४ | |
| | २५०२७।-)७ | | | २५०२७।-)७ | |

## बचत का ब्योरा

| | |
|---|---|
| २०।।।=)।।। | रोकड़ सभा |
| ६२२।।।≡) | बनारस बङ्क चलता खाता |
| ।-)५ | बनारस बङ्क सेविंग बङ्क |
| ६४४≡)२ | |

| | |
|---|---|
| १०५० ) | इम्पीरियल बंक के शेयर |
| १०००) | बनारस बङ्क, फिक्स डिपाज़िट, ( जोधसिंह पुरस्कार ) |
| ७५००) | बनारस बङ्क ,फिक्सडिपाज़िट |
| ।।।=)८ | पोसल सेविंग बङ्क |
| ३।)।। | बनारस बङ्क, भवन निर्माण |
| १९००४≡)२ | |

कुल जोड़ १९६४८।=)४

( ४ ) वेतन वृद्धि के लिये क्लार्कों तथा चपरासियों का प्रार्थनापत्र उपस्थित किया गया।

निश्चय हुआ कि १ आषाढ़ १९६८ से पण्डित विश्वेश्वरनाथ, पंडित केदार नाथ पाठक, बाबू देवनन्दन सिंह, बाबू शंकरसिंह और बाबू बटुक प्रसाद के मासिक वेतन में दो दो रुपए की शिवप्रसाद तथा गौरशंकर के वेतन में एक एक रुपये की तथा मेहतर के वेतन में आठ आने की वृद्धि की जाय।

( ५ ) पंडित प्यारेलाल गौड़ का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि हिन्दी वर्नाक्युलर मिडिल परीक्षा में जो विद्यार्थी ओनर्स प्राप्त करें उन्हें तथा उनके अध्यापकों को सभा से कुछ पारितोषिक दिया जाय।

निश्चय हुआ कि सभा अभी इसके करने में असमर्थ है।

( ६ ) बाबू सूरज नारायण सिंह का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे एक इतिहास लिख रहे हैं और उसके लिये सभा के पुस्तकालय से अंग्रेजी की कुछ पुस्तकें लेना चाहते हैं।

निश्चय हुआ कि इन पुस्तकों को वे सभा के पुस्तकालय में पढ़ सकते हैं।

( ७ ) मुंशी देवीप्रसाद जी का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने अपनी पुस्तकों का संग्रह सभा को देने के लिये मंत्री को बुलाया था।

निश्चय हुआ कि इस कार्य के लिये जब रा० ब० पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा तथा पंडित चन्द्रधर शर्म्मा जी जोधपुर जा सकें उस समय काशी से मंत्री जी भी वहां जांय।

( ८ ) निश्चय हुआ कि हुवेन्त्सांग की यात्रा का अनुवाद चार भागों में प्रकाशित किया जाय और प्रत्येक भाग को रायबहादुर पण्डित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा जी देखकर अपनी स्वीकृति दे दें तब अनुवादक को उस भाग का पुरस्कार दे दिया जाय।

( ९ ) पण्डित श्याम बिहारी मिश्र जी का पत्र उपस्थित किया गया जिस में उन्होंने हिंदी पुस्तकों की खोज के लिये निरीक्षक के पद से मुक्त किए जाने की प्रार्थना की थी।

निश्चय हुआ कि पण्डित श्याम बिहारी मिश्र जी का त्यागपत्र स्वीकार किया जाय और जिस योग्यता से उन्होंने इतने वर्षों तक खोज का काम किया है उसके लिये उन्हें विशेष धन्यवाद दिया जाय।

( १० ) पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने हिन्दीपुस्तकों की खोज का निरीक्षक होना स्वीकार किया था और लिखा था कि प्राचीन पुस्तकों के संस्करण निकालने के स्थान पर सभा प्राचीन साहित्य के संग्रह प्रकाशित करे। यदि सभा चाहे तो Golden Treasury Series की भांति करीब २००० पृष्ठों में चार भागों में वे एक बहुत अच्छा संग्रह तैयार करदेंगे।

निश्चय हुआ कि पण्डित शुकदेव बिहारी मिश्र जी हिंदी पुस्तकों की खोज के निरीक्षक चुने जाँय। उनसे प्रार्थना कीजाय कि वे कृपापूर्वक प्राचीन साहित्य

का एक सर्वोत्तम संग्रह अपने प्रस्ताव के अनुसार तयार करदें और इस कार्य के लिये उन्हें एक लेखक तथा जिन पुस्तकों की आवश्यकता हो वे पुस्तकें भी सभा से दी जांय।

(११) हिन्दी हस्त लिपि परीक्षा के सम्बन्ध में उपसमिति की रिपोर्ट उपस्थित की गई।

निश्चय हुआ कि उपसमिति की सम्मति के अनुसार निम्नलिखित बालकों को पारितोषिक और प्रशंसापत्र दिए जांय--

## हाई और मिडिल विभाग

१ राम स्वरूपशर्म्मा, सेकेण्ड इयर स्पेशलक्लास, धर्म समाज हाई स्कूल अलीगढ़ १०)
२ कृष्णसिंह राजपूत, कक्षा ७, टाउन स्कूल, अलमोड़ा ८)
३ महीलाल शर्म्मा, सेकेंडइयर स्पेशलक्लास, धर्मसमाज हाईस्कूल अलीगढ़ ६)
४ पानसिंह राजपूत कक्षा ७, टाउन स्कूल, अलमोड़ा
५ राम भरोसे, कक्षा ७, टाउन स्कूल, ललितपुर, झांसी
६ भगवान दीन, कक्षा ६, तहसीली स्कूल, कर्वी, जि० बांदा
७ कुन्दनसिंह, कक्षा १०, गवर्नमेंट हाईस्कूल, श्रीनगर, गढ़वाल
८ जगदीशप्रसाद थपलिवाल, कक्षा १०, गवर्नमेंट हाईस्कूल कानपुर
९ मनोहरलाल, कक्षा ६, हिन्दी मिडिल स्कूल, रायबरेली

प्रशंसा पत्र

## प्राइमरी विभाग

१ दुर्गादत्त लोहुमी, कक्षा ४, पाठशाला गंगोली हाट, तहसील चम्पावत, जि० अलमोड़ा ८)
२ चिन्तामणि राव, कक्षा ४, यु० प्रा० टाउन स्कूल, कर्वी जि० बांदा ६)
३ ब्रजभूषण लाल, कक्षा ३, टाउन स्कूल, कर्वी, जि० बांदा, ४)
४ कल्यान, कक्षा ४, मिडल स्कूल, तहसील, अलमोड़ा
५ शिवदयालराम, कक्षा ४, पाठशाला बैरिया, जि० बलिया
६ ठाकुर राम, कक्षा ४, पाठशाला बैरिया, जि० बलिया
७ राधाकृष्ण राय, कक्षा ३, पाठशाला बैरिया, जि० बलिया
८ धूप नारायण राय, कक्षा ३, पाठशाला बैरिया, जि० बलिया

प्रशंसा पत्र

## प्रिपरेटरी विभाग

इस विभाग में किसी की लिपि पारितोषिक या प्रशंसापत्र के योग्य नहीं समझी गई।

(१२) निश्चय हुआ कि सूर्यकुमारी पुस्तकमाला में निम्नलिखित पुस्तकें प्रकाशित की जांय और यह सूची श्रीमान् महाराजकुमार उम्मेदसिंह जी की सेवा में स्वीकृति के लिये भेज दी जाय।

( १ ) दर्बारे अकबरी चार भागों में चित्रों सहित
( २ ) Light of Asia का पद्यमय अनुवाद
( ३ ) The atmosphere. ( ४ ) Weather Science.
( ५ ) Town planning. ( ६ ) Journalism.
( ७ ) World Geography. ( ८ ) Heredity.
( ९ ) Boy scouting ( १० ) Egypt
( ११ ) Babylon ( १२ ) Persia (Ancient)
( १३ ) Assyria ( १४ ) China
( १५ ) Parth a ( १६ ) Phenicia
( १७ ) Kindergaten System ( १८ ) Montessorian System
( १९ ) The Universe based on "Miracles of Science", "Marvels of the Universe" and "the nature and purpose of the Universe" ( २० ) Machanism of Exchange
( २१ ) कृषि और पशुपालन।

( १३ ) निश्चय हुआ कि निम्न लिखित प्राचीन हिन्दी पुस्तकें इस सभा द्वारा प्रकाशित की जांय—

१ प्राचीन हिन्दी कविता—अपभ्रंश तथा प्राकृत कविताओं का संग्रह जिसमें हिन्दी के प्रारम्भिक रूप का परिचय हो।
२ चन्द्रावती और रानी केतकी की कहानी।
३ प्रेमसागर-फोर्ट विलियम कालेज के संस्करण के आधार पर।
४ वीसलदेव रासा और ढोला मारवनी।
५ जायसी की पद्मावत।
६ सूरदास—नोट्स के सहित।
७ तुलसी के अन्य ११ ग्रन्थ ( रामायण को छोड़ कर )
८ बिहारी।
९ केशव—रामचन्द्र चन्द्रिका, कविप्रिया, रसिक प्रिया, विज्ञान गीता, वीरसिंह देव चरित्र।
१० देव—समस्त प्राप्त ग्रन्थ।
११ नाभादास का भक्तमाल।
१२ प्रताप सिंह ( ब्रज निधि ) के ग्रन्थ।

(१४) पुस्तकालय के प्रस्तावित नियम उपस्थित किए गए।

निश्चय हुआ कि ये आगामी अधिवेशन में उपस्थित किए जांय और गत वर्ष सहायकों के यहां कितने मूल्य की किवनी पुस्तकें रह गई हैं इसका ब्योरा भी उपस्थित किया जाय।

(१५) निश्चय हुआ कि संशोधित हिन्दी व्याकरण कई भागों में प्रकाशित किया जाय, प्रत्येक भाग डिमाई अठपेजी आकार के ९६ पृष्ठों का हो और उसका मूल्य बारह आना रक्खा जाय।

(१६) निश्चय हुआ कि इस वर्ष पुस्तकालय के निरीक्षण का भार सभा के उपमंत्री जी को सौंपा जाय और नागरी प्रचार के निरीक्षक बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद जी चुने जांय ।

(१७) मध्य प्रदेश की गवर्नमेंट का ८ जून का पत्र सूचनार्थ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि इस समय धनाभाव से वे अपने प्रान्त में हिन्दी पुस्तकों की खोज के लिये आर्थिक सहायता न दे सकेंगे ।

(१८) पंडित राधाकृष्ण झा का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि बिहार में एम० ए० तक की पढ़ाई में हिन्दी भी रक्खी जायगी और इस पढ़ाई के लिये उन्होंने उपयुक्त पाठ्य पुस्तकों के नाम मांगे थे ।

निश्चय हुआ कि पाठ्य पुस्तकों की सूची तयार करने के लिये, निम्न लिखित सज्जनों की उपसमिति बना दी जाय—

बाबू श्याम सुन्दर दास जी बी० ए०, पण्डित रामचन्द्र शुक्ल और बाबू रामचन्द्र वर्म्मा ।

(१९) बाबू श्यामसुन्दर दास, पंडित रामनारायण मिश्र तथा ठाकुर शिव कुमार सिंह का तैलचित्र देखने के उपरान्त निश्चय हुआ कि यह चित्र बाबू दुर्गा प्रसाद बी० ए०, को दिखलाया जाय और उनके बतलाने के अनुसार इसकी त्रुटियां ठीक करा ली जांय । तब इसका पुरस्कार दिया जाय ।

(२०) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई ।

---

## ( ५ ) प्रबन्ध समिति का विशेष अधिवेशन.

बुधवार मि० २२ आषाढ़ सं० १९७८ (६ जूलाई १९२१) सन्ध्या के ६ बजे
स्थान–सभा भवन ।

उपस्थित

पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, (सभापति ) पं. देवी प्रसाद उपाध्याय, बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह बाबू ब्रजरत्न दास, पंडित रामचन्द्र शुक्ल, बाबू दुर्गा प्रसाद, और बाबू बलदेव दास ।

बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद जी का २७ जून का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सभा के उप-प्रधान तथा बोर्ड आफ ट्रस्टीज़ के सदस्य के पद से इस्तीफा दिया था और सभापति महोदय ने सूचना दी कि कौन्सिल के निर्वाचन सम्बन्धी मुकदमे के फैसले के अनुसार वे इन पदों पर नहीं रह सकते और इसी कारण उन्होंने यह त्यागपत्र दिया है ।

निश्चय हुआ कि सभा की ओर से संयुक्त प्रदेश के गवर्नर की सेवा में एक प्रार्थनापत्र भेजा जाय जिसमें उनसे प्रार्थना की जाय कि सन् १९२० के एक्ट नं० ३९ की १३ वीं धारा के प्रोविज़ो के अनुसार वे उस आपत्ति से मुक्त किए जांय जिसके कारण वे इस सभा के ट्रस्टी आदि नहीं रह सकते। यह भी निश्चय हुआ कि इसी आशय का एक तार आज ही श्रीमान् गवर्नर महोदय को भेजा जाय।

## ( २ ) साधारण सभा

शनिवार ३२ आषाढ़ १९७८ ( १६ जूलाई १९२१ ) सन्ध्या के ६ बजे

स्थान—सभाभवन ।

उपस्थित

बाबू शिवकुमार सिंह जी (सभापति), बाबू श्यामसुन्दरदास बी॰ ए॰, बाबू ब्रजरत्नदास, पं. पद्माकर द्विवेदी, बाबू कवीन्द्र नारायण सिंह, पं. मदन मोहन शास्त्री, बाबू बालमुकुन्द वर्मा, बाबू रामचन्द्र वर्म्मा, बाबू गौरीशङ्कर प्रसाद।

(१) बाबू रामचन्द्र वर्म्मा के प्रस्ताव तथा बाबू ब्रजरत्न दास के अनुमोदन पर बाबू शिवकुमार सिंह जी सभापति चुने गए।

(२) प्रबन्ध समिति के ३ ज्येष्ठ तथा ११ आषाढ़ १९७८ के साधारण अधिवेशनों तथा २२ आषाढ़ के विशेष अधिवेशन के कार्यविवरण सूचनार्थ पढ़े गए।

(३) सभासद होने के लिये निम्नलिखित सज्जनों के फार्म उपस्थित किए गए:—

१ बाबू जोरावर सिंह, नगला डागुर, पो॰ वेसवाँ, जि॰ अलीगढ़ ३)

२ पंडित जयचन्द्र विद्यालङ्कार, अध्यापक, राष्ट्रीय महाविद्यालय, पाटीदार आश्रम, सूरत। ३)

३ पंडित जगद्धर गुलेरी एम॰ ए॰, एल॰ एल॰ बी॰, पञ्जाब एग्रिकलचरल कालेज, लायलपुर ३)

निश्चय हुआ कि ये सज्जन सभासद चुने जांय।

(४) निम्नलिखित सभासदों के त्यागपत्र उपस्थित किए गए और स्वीकृत हुए:—

१ बाबू मथुरा प्रसाद बी॰ ए॰, टीकमगढ़।

२ पं॰ मुन्नालाल मिश्र, लश्कर।

३ पं॰ सोमदेव शर्म्मा गुलेरी, कांगड़ा।

४ बाबू इन्द्रदमन प्रसाद वकील, मुज़फ्फरपुर।

५ बाबू भगवान स्वरूप भटनागर, हाथरस।

(५) मंत्री ने सूचना दी कि कलकत्ते के बाबू कन्हैयालाल चौखानी के यहां सभा के वार्षिक चन्दे के लिये जो कार्ड भेजा गया था वह फिरता आया और उस पर पोस्टआफिस की यह सूचना लिखी है कि उक्त महोदय का देहान्त हो गया। सभा ने इनकी मृत्यु पर शोक प्रगट किया।

(६) निम्न लिखित पुस्तकें धन्यवाद पूर्वक स्वीकृत हुईं:—

१ भारत की गवर्नमेंट—Linguistic Survey of India Vol. X

२ बङ्गाल की गवर्नमेंट—Grammar of Colloquial Tibetan. English Tibetan Colloquial Dictionary

३ बाबू शिवप्रसाद गुप्त, नगवा, काशी—Local Government in Ancient India.

४ स्मिथ सोनियन इन्स्टीट्यूशन, वाशिंगटन—Reports upon two collections of mosses from British East Africa.

Bureau of American Ethnology. Native cemetries and forms of burial east of the Mississipi.

५ एशियाटिक सोसायटी आफ बंगाल, किलकत्ता—Journal and Proceedings Vol. XVI of 1920 No. 6

६ बाबू श्यामसुन्दर दास जी द्वारा—सूरसागर ( हस्त लिखित )

७ राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह, सूर्यपुरा—तरंग।

८ बाबू रामचन्द्र वर्म्मा, काशी—असहयोग का इतिहास।

९ बाबू श्रीकृष्ण दास धूत, इन्दौर—योग भक्तिसार, साधु जीवन।

१० बाबू माधव प्रसाद, काशी—जर्मन जासूस

११ खरीदी गईं—
तिलक दर्शन, असहयोगदर्शन, नागपुर की कांग्रेस, गांधीजी कौन हैं, कविता कौमुदी, अभागिनी, अकबर, कालिदास और भवभूति, खांजहां, देव और बिहारी, भारतवर्ष का इतिहास प्रथम खण्ड, परिणाम, देवी उपन्यास, देवी चौधरानी, दयावती, सरोज सुन्दरी, सम्राट अशोक, A Dictionary of Scientific terms, Dynasties of the Kali age और नाटकावली।

१२ Indian Antiquary for March, April and May 1921 and Index to Vol. XLIX of the Antiquary.

(७) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

## ( ६ ) प्रबन्ध समिति।

शनिवार १४ श्रावण १९७८ ( ३० जुलाई १९२१ ) सन्ध्या के ६ बजे

स्थान--सभाभवन

उपस्थित

बाबू माधोप्रसाद (सभापति), बा. बेणीप्रसाद, पं० प्राणनाथ विद्यालङ्कार, बा. दुर्गाप्रसाद बा. व्रजरत्नदास, बा. श्यामसुन्दरदास बी.ए. और पं० रामचन्द्र शुक्ल।

सम्मति दाता।

बाबू पूर्णचन्द्र नाहर, कलकत्ता। पं० चन्द्रधर शर्म्मा गुलेरी बी.ए. अजमेर रायबहादुर बाबू हीरालाल, वर्धा। पं० रामनारायण मिश्र बी० ए०, देवरिया, गोरखपुर। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, दौलतपुर, कानपुर। बाबू रामगोपाल सिंह चौधरी, पटना।

(१) बाबू माधवप्रसादजी सभापति चुने गए।

(२) ति० ११ आषाढ़ १९७८ के साधारण अधिवेशन और २२ आषाढ़ १९७८ के विशेष अधिवेशन के कार्यविवरण पढ़े गए और स्वीकृत हुए।

( ३ ) आषाढ़ १९७८ के आयव्यय का निम्नलिखित हिसाब सूचनार्थ उपस्थित किया गया—

| आय | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग | व्यय | साधारण विभाग | पुस्तक विभाग |
|---|---|---|---|---|---|
| गतमास की बचत | १९६४८।=)४ | | कार्य कर्ताओं का वेतन | १२४॥≡)। | ६५॥≡)॥ |
| सभासदोंकाचन्दा | १७२) | | छपाई | ६३)॥ | |
| नागरी प्रचार | २।≡)॥ | | डाकव्यय | ७४।-) | |
| फुटकर आय | २७≡)। | | पुस्तकालय | २५≡) | |
| पुस्तकालय | ३४॥।-) | | पुस्तकों की खोज | ३५=)। | |
| जोधसिंहपुरस्कार | ३०॥≡)१ | | फुटकर व्यय | २१२)७ | |
| अमानत | ३३।-) | | अमानत | १८३) | |
| स्थायी कोश | ११।)८ | | मनोरंजन पुस्तक माला | | ७६८।=)॥। |
| भवन निर्माण | ४॥।-)॥। | | हिन्दी कोश | | १३६५-)१ |
| पुस्तकों की बिक्री | | २४३=)॥ | सूर्यकुमारी पुस्तक माला | | ९६।-) |
| पृथ्वीराज रासो | | ७५) | हिन्दी व्याकरण | | ५७) |
| हिन्दी कोश | | ७७२॥।=)७ | | | |
| मनोरंजन पुस्तक माला | | १८५=)॥। | | | |
| भारतेन्दु ग्रंथावली | | ३४≡)॥ | | | |
| देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तक माला | | ३६॥-)॥। | | | |
| | | | | ७२२॥=)७ | २३५२॥।)४ |
| | | | | ३०७५।=)११ | |
| | १९९६५)७ | १३४७-)४ | बचत | १८२३६॥≡) | |
| | २१३१२-)११ | | | २१३१२-)११ | |

## बचत का व्योरा

१४४=)॥ रोकड़ सभा
३१)॥ बनारस बङ्क, सेविंग बङ्क
१७५।≡)

१०५००) इम्पीरियल बंक के ७ शेयर
१०००) बनारस बङ्क, फिक्स डिपाज़िट, (जोधसिंह पुरस्कार)
७५००) बनारस बङ्क, फिक्सडिपाज़िट
७॥)७ पोस्टल सेविंग बङ्क
३।)॥ बनारस बङ्क, भवन निर्माण
१९०१०॥।-)१

कुल जोड़ १९१८६।)१
बनारस बँक से अधिक लिया गया ९०९-)१
१८२३६॥≡)

( ४ ) बनारस म्युनिसिपल बोर्ड के एकज़िक्युटिव आफ़िसर का २७ जून का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सभाभवन के सन् १९२०-२१ के भेजे हुए टिक्स को सन् १९१७-१८ के टिक्स में काटने की सूचना दी थी। साथ ही मंत्री ने सूचना दी कि उन्होंने इस पत्र के उत्तर में लिखा है कि सन् १९१७-१८ में सभाभवन पर टिक्स नहीं लगता था और इस कारण यह सभा उस वर्ष के टिक्स की देनदार नहीं है। अतः सभा ने सन् १९२०-२१ के टिक्स का जो रुपया भेजा है वह इसी वर्ष के टिक्स में जमा होना चाहिये और रसीद ठीक हो जानी चाहिए।

निश्चय हुआ कि मंत्री जी ने जो उत्तर दिया है वह बहुत ठीक है। इस विषय में म्युनिसिपल बोर्ड को भी लिखा जाय।

( ५ ) छत्रपुर के दीवान का २४ जून का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि मध्य भारत में हिन्दी पुस्तकों की खोज का कार्य प्रारंभ होने पर वे २५०) रु० सभा को सहायतार्थ देंगे।

निश्चय हुआ कि उनको इसके लिये धन्यवाद दिया जाय और लिखा जाय कि यह कार्य इतनी सहायता से नहीं चलाया जा सकता। साथ ही मध्यप्रदेश के अन्य नृपतिगण से भी सहायता की प्रार्थना की जाय।

( ६ ) पंडित जयदेव शर्म्मा विद्यालंकार का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने पुस्तकालय के अँग्रेजी विभाग से पुस्तकें लेने की आज्ञा मांगी थी।

निश्चय हुआ कि अँग्रेज़ी विभाग की पुस्तकों की सूची बन जाने पर उन्हें पुस्तकें दी जा सकेंगी।

(७) संयुक्त प्रदेश की गवर्नमेंट का पत्र उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सूचना दी थी कि सन् १९१२-१४ की हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की रिपोर्ट छपने के लिये गवर्नमेंट प्रेस को भेज दी गई है। साथ ही मंत्री ने सूचना दी कि उन्होंने गवर्नमेंट से प्रार्थना की है कि पूर्व रिपोर्टों की नाईं इस रिपोर्ट की छपाई का व्यय भी गवर्नमेंट प्रेस के अनुमान के अनुसार सभा को दिया जाय और सभा इसे छपवा लेगी।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

(८) पुस्तकों की बिक्री के सम्बन्ध में बाबू गौरीशंकर प्रसाद जी के अनेक प्रश्न उत्तर के सहित उपस्थित किए गए।

निश्चय हुआ कि बाबू गौरीशंकर प्रसाद जी आज उपस्थित नहीं हैं। अतः ये प्रश्न उत्तर सहित आगामी अधिवेशन में उपस्थित किए जांय।

(९) गत वर्ष पुस्तकालय के सहायकों के यहां जो पुस्तकें रह गई हैं उनकी नामावली के सहित पुस्तकालय के प्रस्तावित नियम उपस्थित किए गए।

बाबू श्यामसुन्दर दास जी के प्रस्ताव पर अधिक सम्मति से निश्चय हुआ कि पुस्तकालय के सब सहायकों से ५) रु० अमानत की भांति जमा करा लिया जाय और पुस्तकालय से सम्बन्ध छोड़ने पर यह रुपया उन्हें लौटा दिया जाय।

अधिक सम्मति से यह निश्चय हुआ कि सब सहायकों से, चाहे वे सभा के सदस्यहों वा नहीं, आठ आना मासिक लिया जाय और उनसे एक बार में एक पुस्तक के लिये ३), दो पुस्तकों के लिये ६) और पांच पुस्तकें एक साथ लेने के लिये १२) रु० वार्षिक चन्दा लिया जाय।

(१०) संयुक्त प्रदेश की गवन्मेंट का मिसेलेनियस डिपार्टमेण्ट का ता० १० जूलाई १९२१ का पत्र नं० ८५ सी १२-२१८ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने सूचना दी थी कि सन् १९२२-२३ से अभी तीन वर्ष के लिये हिन्दी पुस्तकों की खोज के निमित्त अपनी वार्षिक सहायता १०००) रु० से बढ़ाकर २०००) रु० देने का उनका विचार है । इसके उपरान्त २०००) की इस सहायता का बना रहना कार्य की सफलता पर निर्भर होगा।

निश्चय हुआ कि इस के लिये गवन्मेंट को धन्यवाद दिया जाय।

(११) प्राचीन पुस्तकों के प्रकाशित करने के सम्बन्ध में बाबू श्यामसुन्दर दास जी का प्रस्ताव उपस्थित किया गया।

( १२ ) ग्वालियर की हस्तलिपि परीक्षा के पर्चों के सम्बन्ध में ठाकुर शिवकुमार सिंह की यह सम्मति उपस्थित की गई कि इस वर्ष इन पर्चों में कोई भी पारितोषिक वा प्रशंसापत्र के योग्य नहीं है।

निश्चय हुआ कि यह स्वीकार किया जाय।

( १३ ) इण्डियन प्रेस का २० जूलाई का पत्र सूचनार्थ उपस्थित किया गया जिसमें उन्होंने लिखा था कि उन्होंने विशेषतः सभा के कार्य के लिये अपने प्रेस की एक शाखा काशी में खोली है।

(१४) बाबू गौरीशंकर प्रसाद जी तथा बाबू शिव प्रसादजी के पत्र उपस्थित किए गए जिनमें इन सज्जनों ने सभा के पुराने बिलों का क्रमात् ४) रु० तथा ।॥) देना इस कारण अस्वीकार किया था कि यह हिसाब बहुत दिनों का हो गया और उनसे पहले तगादा नहीं किया गया।

निश्चय हुआ कि सभा के बिल इन सज्जनों के यहां यथासमय भेज दिए गए थे अतः इन्हें स्वयम् ही यह रुपया भेज देना चाहिए था । तगादा न होने पर भी बिल ठीक समय पर मिल जाने के कारण यह रुपया उन्हें सभा को दे देना उचित है।

(१५) निश्चय हुआ कि बाबू गुलाब राय से प्रार्थना की जाय कि वे कृपा पूर्वक यूरोपीय दर्शन को नवीन संस्करण के लिये ठीक करदें और मनोविज्ञान पर एक उत्तम पुस्तक सभा के लिये लिख दें । यूरोपीय दर्शन के लिये उन्हें ७५) रु० पुरस्कार दिया जाय और मनोविज्ञान के लिये १५०) रु०

(१६) मंत्री ने सूचना दी कि हिन्दी शब्दसागर के अंक १-९ की केवल ६५ प्रतियां सभा के स्टाक में रह गई हैं।

निश्चय हुआ कि ये अंक केवल उन्हीं सज्जनों को दिए जांय जो अब तक के प्रकाशित सब अंक एक साथ खरीदें।

(१७) निश्चय हुआ कि नागरी प्रचारिणी पत्रिका के प्रथम भाग की उत्तम जिल्दें बंधवा ली जांय और सजिल्द प्रति का मूल्य ५) रु० रक्खा जाय।

(१८) निश्चय हुआ कि देवी प्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला में सुलेमान यात्री के यात्रावृतान्त का जो अनुवाद बाबू महेश प्रसाद जी ने किया है वह प्रकाशित किया जाय और उन्हें डबल क्राउन सोलह पेजी आकार के प्रत्येक पृष्ठ पर १) रु० के हिसाब से पुरस्कार दिया जाय।

(१९) निश्चय हुआ कि सभा के लिये १२ नई कुर्सियां और पुस्तकालय के लिये दो नई अलमारियां खरीद ली जांय।

(२०) मंत्री के प्रस्ताव पर निश्चय हुआ कि ११ आषाढ़ १९७८ के अधिवेशन में जिन क्लार्कों आदि का जितना वेतन बढ़ाया गया है, वह वैशाख १९७८ से दिया जाय।

(२१) निश्चय हुआ कि राजा शिवप्रसाद, राजा लक्ष्मण सिंह और बाबू गजाधर सिंह के तैल चित्र सभा भवन में लगवाए जांय और प्रथम दो सज्जनों के वंशधरों से प्रार्थना की जाय कि वे उन्हें सभा के लिये अपनी ओर से बनवा दें।

(२२) निश्चय हुआ कि भारत गवर्न्मेंट के पास पत्रिका के पहिले भाग की एक प्रति भेज कर प्रार्थना की जाय कि सभा को इस पत्रिका के प्रकाशित करने में आर्थिक सहायता तथा पुरातत्व विभाग की सब पुस्तकें तथा रिपोर्टें बिना मूल्य दी जांय।

(२३) सभापति को धन्यवाद दे सभा विसर्जित हुई।

---

शम्भू प्रिंटिंग वर्क्स, नीचीबाग, काशी में छपा।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका
[ नवीन संस्करण ]
तीसरा भाग-संवत् १९७९

# १-परमार राजा भोज का उपनाम 'त्रिभुवन नारायण'।

[ लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर ]

प्राचीन काल के हिंदू राजा कभी कभी एक या अधिक उपनाम ( विरुद ) धारण किया करते थे। जैसे मालवा के परमार राजा वैरिसिंह ( दूसरे ) का 'वज्रट', हर्ष का 'सीयक', मुंज का 'वाक्पतिराज' और 'अमोघवर्ष' और भोज के पिता सिंधुराज का 'नवसाहसांक' उपनाम मिलता है वैसे ही भोज का 'त्रिभुवन नारायण' उपनाम होना पाया जाता है।

उदयपुर ( मेवाड़ ) राज्य के चीरवा नामक गाँव ( एकलिंगजी के मंदिर से ३ मील उत्तर में ) के नये बने हुए विष्णु के मंदिर की दीवार में वहीं के किसी पुराने मंदिर का एक शिलालेख[1] लगाया गया है जो वि० सं० १३३० कार्तिक शुदि १ का और मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय का है। मूल में जिस मंदिर का वह शिलालेख था वह मेवाड़ के राजाओं के नियत किए

---

( १ ) यह शिलालेख मेरी भेजी हुई छाप पर से विएना ओरिएँटल् जर्नल में छप चुका है। ( जि० २१, पृ० १४३ आदि )

हुए नागहद (नागदा—मेवाड़ की पुरानी राजधानी जो एकलिंगजी के निकट है) के तलारक्षों के एक पूर्वज ने बनवाया था। उसमें तलारक्ष[1] उद्धरण के वंश का पूरा परिचय देने के अतिरिक्त उसके जिस

---

[1] तलारक्ष, और तलार दोनों नाम किसी राज-कर्मचारी के सूचक हैं। संस्कृत के कोषों मे ये नाम नहीं मिलते परंतु कभी कभी प्राचीन शिलालेखों या संस्कृत पुस्तकों में मिलते हैं। चीरवा के शिलालेख में तलारक्ष उद्धरण के वंश का विस्तृत वर्णन मिलता है। उद्धरण को दुष्टों को सज़ा देने और शिष्टों का रक्षण करने में समर्थ होने के कारण राजा मथनसिंह ने नागदे का तलारक्ष बनाया था (श्लोक ९-१०)। राजा पद्मसिंह ने उस (उद्धरण) के पुत्र योगराज को उसके पिता का स्थान दिया था (श्लो० ११–१२)। योगराज का ज्येष्ठ पुत्र पमराज जब सुरत्राण (सुलतान शमसुद्दीन अल्तिमश) की सेना ने नागदा का भंग किया उस समय भूताले के पास लड़ाई में लड़ता हुआ मारा गया (श्लो० १५–१६)। योगराज के दूसरे बेटे महेंद्र का ज्येष्ठ पुत्र बाला या बालाक राजा जैत्रसिंह के समय कोटड़ा लेने में राणक (राणा) त्रिभुवन (त्रिभुवनपाल—गुजरात का राजा) के साथ की लड़ाई में मारा गया (श्लो० १७ और १८)। राजा जैत्रसिंह ने योगराज के चौथे पुत्र क्षेम को चित्रकूट (चित्तौड़) की तलारता (तलार का पद) दी (श्लो० १५ और २२)। क्षेम का ज्येष्ठ पुत्र रत्न चित्रकूट की तलहट्टिका (तलहटी = किले या पहाड़ी स्थान के नीचेवाली समान भूमि पर की आबादी) में शत्रु से लड़ने में मारा गया (श्लो० २३ और २६)। रत्न का छोटा भाई मदन श्रीजयसल (जैत्रसिंह) के लिये उत्थूणक (अर्थूणा, बांसवाड़ा राज्य में) की लड़ाई में जैत्रमल्ल से लड़ा (श्लो० २७ और २८)। राजा समरसिंह ने मदन को चित्रकूट की तलारता दी (श्लो० ३०)। इन सब बातों को देखते हुए यही प्रतीत होता है कि उद्धरण के वंशज मेवाड़ के राजाओं की सैनिक सेवा करनेवाले थे। उद्धरण को 'दुष्टों को सज़ा देने और शिष्टों का रक्षण करने में समर्थ होने के कारण मथनसिंह ने नागदे का तलारक्ष बनाया' यह कथन यही सूचित करता है कि 'तलारक्ष' या 'तलार' नाम नगर की रक्षा करनेवाले अधिकारी (कोतवाल) का सूचक होना चाहिए। सोड्ढल-रचित 'उदयसुंदरी कथा' में एक राक्षस का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'उसकी घृणा उत्पन्न करानेवाली आकृति के कारण वह नरक रूपी नगर के तलार के सदृश था (घृणावद्रूपतया तलारमिव नरकनगरस्य—पृ० ७५)। यह कथन भी उक्त नाम के नगर की रक्षा करनेवाले अधिकारी (कोतवाल) का ही सूचक होना बतलाता है। अंचलगच्छ के

जिस वंशज ने जो जो लड़ाइयाँ लड़ीं या जो राजकीय सेवाएँ कीं उनका भी उल्लेख है। उसमें चित्तौड़ के तलारक्ष मदन के विषय में लिखा है कि 'रत्न का छोटा भाई निष्पापी मदन, राजा समरसिंह की कृपा से चित्तौड़ में वंशपरंपरागत तलारता पाकर, श्रीभोजराज ( राजा भोज ) के बनवाए हुए 'त्रिभुवननारायण' नामक देव मंदिर में अपने कल्याण की इच्छा से सदाशिव की पूजा किया करता था।'[1]

चित्तौड़ के किले के रामपोल दरवाजे के बाहर नीम के वृक्षवाले चबूतरे पर पड़ा हुआ मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय का वि० सं० १३५८ माघ शुदि १० का एक शिलालेख गत वर्ष मुझे मिला। उसकी दाहिनी ओर का कुछ अंश नष्ट हो जाने से प्रत्येक पंक्ति के अंत के कहीं एक, कहीं दो अक्षर जाते रहे हैं और बीच के कुछ अक्षर भी कहीं कहीं बिगड़ गए हैं। तिस पर भी उसका संवत् बच गया है और उससे पाया जाता है कि 'महाराजाधिराज श्री समरसिंहदेव के राज्य समय प्रतिहार ( पडिहार ) वंशी महारावत राज श्री'''राज० पाता के बेटे राज० ( राजपुत्र ) धारसिंह ने श्री

---

माणिक्यसुंदर सूरि ने वि० सं० १४७८ में 'पृथ्वीचंद चरित्र' रचा जिसमें एक जगह बहुत से राजकीय अधिकारियों की नामावली दी है जिसमें 'तलवर' और 'तलवर्ग' नाम भी हैं ( प्राचीन गुर्जर काव्य संग्रह-बड़ौदा सीरीज़, पृ० ९७ )। कहीं शिलालेखों में 'तलवर्गिक' भी आता है। संभव है कि ये नाम भी तलारक्ष के ही सूचक हों। गुजराती भाषा में अब तक 'तलाटी' शब्द प्रचलित है जो 'तलारक्ष' या 'तलार' का ही अपभ्रंश होना चाहिए। अब 'तलाटी' शब्द 'पटवारी' का सूचक है परंतु प्राचीन काल में तलारक्ष या तलार सैनिक अधिकारी का सूचक था। उस समय पुलिस भी सेना का ही अंग समझी जाती थी।

( १ ) रत्नानुजोऽस्ति रुचिराचारप्रख्यातधीरसुविचारः।
मदनः प्रसन्नवदनः सततं कृतदुष्टजनकदनः ॥२७'''॥
श्रीचित्रकूटदुर्गे तलारतां यः पितृक्रमायतां।
श्रीसमरसिंहराजप्रसादतः प्राप निःपापः ॥३०॥
श्रीभोजराजरचितत्रिभुवननारायणाख्यदेवगृहे।
यो विरचयति स्म सदाशिवपरिचर्यां स्वशिवलिप्सुः ॥३१॥
( चीरवा का शिलालेख )

भोजस्वामिदेवजगती[1] ('भोजस्वामी' नामक या राजा भोज के बनवाए हुए देव मंदिर) में प्रशस्ति पट्टिका सहित···बनवाया ।'[2]

ऊपर के दोनों शिलालेखों से पाया जाता है कि चित्तौड़ के किले पर भोज नाम के किसी राजा ने एक देवमंदिर बनवाया था जिसको पहले शिलालेख में 'त्रिभुवननारायण' का श्रौर दूसरे में 'भोजस्वामी' का मंदिर कहा है श्रौर वह मंदिर मेवाड़ के राजा समरसिंह के समय विद्यमान था ।

अब यह निश्चय करने की आवश्यकता है कि चित्तौड़ के किले पर उक्त मंदिर को बनवानेवाला श्री भोजदेव (राजा भोज) कौन था । मेवाड़ के गुहिलवंशी राजा बापा (काल भोज) ने चित्तौड़ का किला मोरियों (मौर्यवंशियों) से लिया । उसके पीछे उस वंश में तो भोज नाम का कोई राजा ही नहीं हुआ । पिछले समय में मेवाड़वालों के पड़ोसी राजा सांभर, अजमेर श्रौर नाड़ोल के चौहान आबू श्रौर मालवा के परमार तथा गुजरात के चौलुक्य (सोलंकी) थे, जिनके पूर्व गुर्जर देश[3] तथा कन्नौज के प्रतिहार (पड़िहार) थे । इन पड़ोसी राजवंशों में से मालवा के परमार श्रौर प्रतिहारों में ही भोज या भोजदेव नामक राजा का होना पाया जाता है । प्रतिहार वंशी किसी राजा के चित्तौड़ पर रहने या मेवाड़ पर चढ़ाई करने का अब तक कोई उल्लेख नहीं मिला, परंतु बीजापुर (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए हस्तिकुंडी (हथूँडी) के राष्ट्रकूट (राठौड़) राजा धवल श्रौर उसके पुत्र बालप्रसाद के समय के वि० सं० १०५३ माघ शुदि १३ के शिलालेख से पाया जाता है कि 'मुंजराज (मालवे के परमार राजा मुंज) ने मेदपाट (मेवाड़) के मद रूपी आघाट (आहाड़,

---

(१) जगती = मंदिर, देवालय; या देवालय का हाता (विख्यातो विदधे देवं पितुर्नाम्ना महेश्वरं । श्रीसोमनाथदेवस्य जगत्यां पुण्यवृद्धये ॥—मांगरोल का वि० सं० १२०२ का शिलालेख, भावनगर इंस्क्रिपूशँस, पृ० १५८) ।

(२) नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भा० १, पृ० ४१३ श्रौर टिप्पण ५७ ।

(३) नाग० पत्रि० भाग २, पृ० ३४१ प्रभृति ।

मेवाड़ की पुरानी राजधानी) को तोड़ा उस समय धवल ने मेवाड़ की सेना की रक्षा की थी।'[1] इससे संभव है कि मुंज ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर आहाड़ को तोड़ने पर चित्तौड़ का किला और उसके आसपास का मालवे से मिला हुआ प्रदेश अपने राज्य में मिला लिया हो।

पोरवाड़ महाजन विमलशाह के बनवाए हुए आबू पर के देलवाड़ा गाँव के प्रसिद्ध जैन मंदिर (आदिनाथ) विमलवसही के जीर्णोद्धार के वि० सं० १३७८ ज्येष्ठ शुदि ९ के शिलालेख में उक्त मंदिर के बनने के विषय में लिखा है कि 'चंद्रावती पुरी का राजा धंधु (धंधुक) वीरों का अग्रणी था। जब उसने राजा भीमदेव की सेवा स्वीकार न की तब राजा (भीमदेव) उसपर क्रुद्ध हुआ जिससे वह मनस्वी (धंधुक) धारा के राजा भोज के पास चला गया। फिर राजा भीम ने प्राग्वाट (पोरवाड़) वंशी मंत्री विमल को अर्बुद (आबू) का दंडपति (सेनापति, हाकिम) बनाया। उसने वि० सं० १०८८ में आबू के शिखर पर आदिनाथ का मंदिर बनवाया'।[2]

---

(१) भंक्त्वाघाटं घटाभिः प्रकटमिव मदं मेदपाटे भटानां
जन्ये राजन्यजन्ये जनयति जनताजं (?) रणं मुंजराजे ॥
श्री···माणे प्रणष्टे हरिण इव भिया गूर्ज्जरेशे विनष्टे
तत्सैन्यानां स(श)रण्यो हरिरिव शरणे यः सुराणां व(ब)भूव॥१०॥

(एपि० इंडि० जि० १०, पृ० १२–२१) मुंज की मेवाड़ पर चढ़ाई का वहाँ के राजा शक्तिकुमार के समय में होना अनुमान किया जा सकता है। यदि मूल श्लोक में त्रुटित अक्षर 'खुं' हो तो खुंमाण पद से 'खुंमाणा' अर्थात् खुंमाण के वंशज से अभिप्राय है। यह प्रचलित रीति है, चारण लोग मेवाड़ के महाराणाओं को 'खुंमाणा' अर्थात् 'खुंमाण के गोत्रज' कह कर संबोधन करते हैं।

(२) तत्कुलकमलमरालः कालः प्रत्यर्थिमंडलीकानां।
चंद्रावतीपुरीशः समजनि वीराग्रणीर्धंधुः ॥ ५ ॥
श्रीभीमदेवस्य नृपस्य सेवामलभ्य( ! )मानः किल धंधुराजः।
नरेशरोषाच्च ततो मनस्वी धाराधिपं भोजनृपं प्रपेदे ॥ ६ ॥
प्राग्वाटवंशाभरणं बभूव
रत्नप्रधानं विमलाभिधानः।...॥ ७ ॥

उसी मंदिर के बनाए जाने के संबंध में जिनप्रभसूरि, जो मेवाड़ के राजा समरसिंह का समकालीन था, अपने 'तीर्थकल्प' में लिखता है कि 'जब गूर्जरेश्वर ( भीमदेव ) राजानक धांधुक ( राजा धंधुक ) पर क्रुद्ध हुआ तब उस ( विमलशाह ) ने भक्ति से उस ( भीमदेव ) को प्रसन्न करके उस (धंधुक) को चित्रकूट (चित्तौड़) से लाकर वि० सं० १०८८ में उसकी (धंधुक) की आज्ञा लेकर बड़े खर्च से विमलवसती नामक उत्तम मंदिर बनवाया ।'[1]

इन दोनों कथनों को साथ लेने से यही पाया जाता है कि गुजरात के सोलंकी ( चौलुक्य ) राजा भीमदेव से बिगाड़ हो जाने पर आबू का परमार राजा धंधुक मालवा के परमार राजा भोज के पास चला गया जो चित्तौड़ में रहता था। विमलशाह ने धंधुक को समझा और चित्तौड़ से लाकर उसे भीमदेव की सेवा स्वीकार कराई। उसके बाद उसने आबू पर आदिनाथ का मंदिर बनवाया। इससे स्पष्ट है कि चित्तौड़ में रहने और वहाँ पर मंदिर बनवानेवाला भोज मालवे का राजा ही था।[2]

---

ततश्च भीमेन नराधिपेन
प्रतापवह्निर्विमलो महामतिः ।
कृतोर्बुदे दंडपतिः सतां प्रियो
प्रियंवदो नंदतु जैनशासने ॥ ८ ॥
श्रीविक्रमादित्यनृपाद्यतीते
ऽष्टाशीतियाते शरदाँ सहस्रे ।
श्री आदिदेवं शिखरेर्बुदस्य
निवेसि(शि)तं श्रीविमलेन वंदे ॥ ११ ॥

( आबू का शिलालेख—अप्रकाशित ) ।

( १ ) राजानकश्रीधांधुके क्रुद्धं श्रीगुर्जरेश्वरं ।
प्रसाद्य भक्त्या तं चित्रकूटादानीय तद्गिरा ॥३९॥
वैक्रमे वसुवस्वाशा १०८८ मितेऽब्दे भूरिरैव्ययात् ।
सत्प्रासादं सविमलवसत्याह्वं व्याधापयत् ॥ ४० ॥

( तीर्थकल्प का अर्बुदकल्प ) ।

( २ ) भोज के पीछे चित्तौड़ पर मालवा के परमारों का अधिकार कब तक

यह कहा जा चुका है कि भोजस्वामिजगती का अर्थ भोज स्वामी नामक देवमंदिर वा उसके हाते की भूमि है। यह भी आ गया है कि 'भोजदेवकारितदेवगृह' का नाम 'त्रिभुवननारायणाख्य' था। स्थापित देवता का नाम 'भोजस्वामी' क्यों पड़ा ? आराधक जिस देवता की प्रतिष्ठा करता है उसका नाम अपने नाम पर रखने की चाल है। महाराणा कुंभा के बनवाए हुए चित्तौड़, कुंभलगढ़ और आबू पर के देवालयों के नाम 'कुंभस्वामी' हैं। आमेर के कुंवर जगत्सिंह का बनाया मंदिर 'जगत्शिरोमणि' का, महाराज प्रतापसिंह का स्थापित शिवलिंग 'प्रतापेश्वर', गुलेर की रानी कल्याण देई की प्रतिष्ठापित विष्णुमूर्ति 'कल्याणराय' कहलाते हैं। ऐसे

---

रहा और कैसे उठा इस विषय में कुछ भी लिखा हुआ नहीं मिलता। परंतु गुजरात के सोलंकी राजा कुमारपाल के दो शिलालेख चित्तौड़ से मिले हैं जिनमें एक वि० सं० १२०७ का ( एपि० इंडि० जि० २, पृष्ठ ४२२-२४) और दूसरा, जो बड़ा है, बिना संवत् का ( अप्रकाशित ) है। गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह के किसी पूर्वज ने या उसने अथवा कुमारपाल ने मेवाड़ पर चढ़ाई की हो या लड़कर चित्तौड़ लिया हो ऐसा भी कहीं उल्लेख नहीं मिलता। अतएव अनुमान होता है कि सिद्धराज जयसिंह ने १२ वर्ष तक मालवे के राजा नरवर्मा और उसके पुत्र यशोवर्मा से लड़कर मालवा अपने राज्य में मिलाया। उस समय मालवे के अधीन का चित्तौड़ का किला भी गुजरात के राजाओं के अधीन हुआ होगा। यही कारण कुमारपाल के शिलालेखों के चित्तौड़ में मिलने का भी होना चाहिए। वि० सं० १२३० में कुमारपाल के मरने पर उसके बड़े भाई महीपाल का पुत्र अजयपाल गुजरात का स्वामी हुआ। उस अत्याचारी और निर्बुद्धि राजा के समय में या उसके मारे जाने पर मालवा के परमारों ने मालवे पर फिर अधिकार कर लिया। मेवाड़ के राजा सामंतसिंह ने अजयपाल को लड़ाई में घायल कर भगाया और वि० सं० १२३३ में अजयपाल अपने एक द्वारपाल के हाथ से मारा गया। इन घटनाओं से पाया जाता है कि चित्तौड़ का किला मुंज के समय से लगाकर यशोवर्मा के सिद्धराज जयसिंह के हाथ कैद होने तक अर्थात् लगभग १५० वर्ष मालवा के परमारों के अधिकार में रहा। इसके पीछे वह गुजरात के सोलंकी सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के अधिकार में आया। संभव है कि मेवाड़ के राजा सामंतसिंह के अजयपाल को हराने पर यह किला फिर गुहिलवंशियों के अधीन हुआ हो।

उदाहरण कई मिलते हैं। इस लिये भोजस्वामी = भोज की प्रतिष्ठापित देवमूर्ति। उसी भोजस्वामी का नाम त्रिभुवननारायणाख्य देवगृह क्यों हुआ? आगे बतलाया जायगा कि भोज परममाहेश्वर था और वह मंदिर नारायण का नहीं, शिव का है। तलारक्ष मदन के विषय में यह कहना कि त्रिभुवननारायणाख्य देवगृह में वह शिवपूजा करता था इसी बात को स्पष्ट करता है। 'भोजस्वामी' के मंदिर की 'आख्या' 'त्रिभुवननारायण' तभी हो सकती है जब कि भोज का बिरुद त्रिभुवननारायण किसी और स्वतंत्र प्रमाण से सिद्ध हो।

वैसा स्वतंत्र प्रमाण है। गोविंदसूरि के शिष्य वर्द्धमान ने गणरत्नमहोदधि नामक ग्रंथ बनाया है। इस ग्रंथ की रचना वि० सं० ११९७ (= ई० स० ११४०) में हुई।[1] वर्द्धमान सिद्धराज जयसिंह के आश्रित रहा हो।[2]

---

(१) सप्तनवत्यधिकेष्वेकादशसु शतेष्वतीतेषु।
वर्षाणां विक्रमतो गणरत्नमहोदधिर्विहितः॥ (एगलिंग का संस्करण, पृ० ४८०)

(२) ग्रंथ के आरंभ में कहा है कि अपने शिष्यों की प्रार्थना से हम गणरत्नमहोदधि की रचना करते हैं (स्वशिष्यप्रार्थिताः कुर्मो गणरत्नमहोदधिम्) और इसकी व्याख्या में 'स्वशिष्य' को यों खोला है कि 'कुमारपाल-हरिपाल-मुनिचंद्र-प्रभृति'। संभव है कि यह कुमारपाल ही आगे चलकर 'परमार्हत कुमारपाल' सिद्धराज जयसिंह का उत्तराधिकारी हो।

गणरत्नमहोदधि में कई श्लोक या श्लोकखंड सिद्धराज की प्रशंसा के हैं, जिनसे जान पड़ता है कि वर्धमान ने 'सिद्धराजवर्णन' भी लिखा था। इनमें कई जगह 'मम' कई जगह 'मम सिद्धराजवर्णने', कहीं 'सिद्धराजवर्णने' तथा कहीं कुछ भी उल्लेख नहीं हैं। वे यहाँ उद्धृत किए जाते हैं—

(१) मेघो नकिर्वर्षति सिद्धराजः। (पृ० १६)

(२) निःसीमाश्चर्यधाम त्रिभुवननिदितं पत्तनं यत् त्वदीयं
तन्मध्ये वृद्धिमीयुः फलभरनमिताः शाखिनश्चूतमुख्याः।
नैतच्चित्रं विचित्राद्विहितकृतयुग त्वत्प्रभावात् क्षितीश
प्रादुःषन्ति प्रभूता यदि सुरतरवश्चित्रमेतद्बुधानाम्॥ (ममैव, पृ० १३९)

आश्चर्य है कि न हेमचंद्र उसका उल्लेख करता है, न वह हेमचंद्र का[1]।

---

(३) मतिमतां मधुरं कवितामृतं ददति मन्त्रिललामबलाहके ।
विदधती निखिलार्थविवेचनं जयति कल्पलता चिरदीधितिः ॥ ( ममैव, पृ० १८२ )

(४) दूरादपि रिपुलक्ष्म्यो मनीषितं यन्त्रयन्ति सावेगाः ।
अब्धिमिवेतरभूभृद्विरुद्धगतयोऽपि कूलिन्यः ॥ ( ममैव, पृ० १८३ )

(५) उद्यत्तीव्रानङ्गनाराचविद्धा स्वप्राणेभ्यो वल्लभं त्वामदृष्ट्वा ।
वेगादेषा चक्रवाकी बराकी तीरात्तीरे प्रातरेव प्रयाति ॥
( ममैव क्रियागुप्तके पृ० १९० )

(६) प्रत्युप्तमुक्ताफलपद्मरागप्रस्पर्धिभिस्तोषितविश्वलोकैः ।
यशोनुरागैस्तव सिद्धनाथ चक्रे जगत्काकिंकलौहितीकम् ॥
( ममैव सिद्धराजवर्णने पृ० २३५ )

(७) जाते यस्य प्रयाणे तुरगखुरपुटोत्खातरेणुप्रपञ्चे
तीव्रं ध्वान्तायमाने प्रसरति बहले सर्वतोदिक्कमस्मिन् ।
भास्वच्चन्द्रार्कबिम्बग्रहगणरहितं व्योम वीक्ष्य प्रमुग्धाः
सान्ध्यं कर्मारभन्ते शिशुमुनिवटवो जातसन्ध्याभिशङ्काः ॥
( ममैव सिद्धराजवर्णने, पृ० ३७२ )

(८) नवे यौवनिकोद्भेदे यस्य न स्खलितं मनः ।
बृहितं नापि सिद्धेशप्रसादेन मनीषिणः ॥ ( ममैव, पृ० ४३५ )

वर्धमान ने अपने समसामयिक पंडित **सागरचंद्र** के भी कुछ श्लोक नाम से उद्धृत किए हैं। उसने भी सिद्धराजजयसिंह के वर्णन में कोई काव्य लिखा था ऐसा पाया जाता है—

(१) मुष्णातु कल्मषमलानि मनोऽपकूल-
खेलन्मरालमिथुनात्तपनात्मजेव ॥ ( सागरचन्द्रस्य पृ० १०६ )

(२) कटकः कंटकान्यस्य दलयामास निर्दयम् ।
स हि न क्षमते किंचिद्विन्दुनाप्यात्मनोऽधिकम् ॥
( सागरचन्द्रस्य, पृ० ११५ )

(३) द्रव्याश्रयाः श्रीजयसिंहदेव गुणाः कणादेन महर्षिणोक्ताः ।
त्वया पुनः पण्डितदानशौण्ड गुणाश्रयं द्रव्यमपि व्यधायि ॥
( पण्डितश्रीसागरचन्द्रस्य, पृ० १४४ )

(४) अकल्पितप्राणसमासमागमा मलीमसाङ्गा धृतभैक्षवृत्तयः ।
निर्ग्रन्थतां त्वत्परिपन्थिनो गता जगत्पते किं त्वजिनावलम्बिनः ॥
( श्रीसागरचन्द्रस्य, पृ. ३०४ )

(१) यों परस्पर उल्लेख न करने का कारण सांप्रदायिक मतभेद के कारण उपेक्षा हो सकती है, या अपने समय के ग्रंथकारों को प्राचीनों की तरह प्रामाणिक न मानना हो सकता है।

गणरत्नमहोदधि में व्याकरण के गण श्लोकबद्ध किए गए हैं और फिर गण के प्रत्येक पद की व्याख्या और उदाहरण हैं। वर्द्धमान ने कई वैयाकरणों के मतों का उल्लेख किया है, उदाहरणों में कई कवियों की रचना नाम से और कितनों की बिना नाम के उद्धृत की है, इससे यह ग्रंथ बड़े ही महत्व का है।

तद्धित प्रकरण के गणों का विवेचन वर्द्धमान ने बहुत अच्छी तरह किया है। उसकी यह प्रौढ़ोक्ति कि जिन तद्धितसिंहों से वैयाकरण रूपी हाथी भागते फिरते थे उनके गणों के सिर पर मैंने पैर रख दिया, यद्यपि मैं गव्य (= गोवंशी) हूँ, चमत्कारयुक्त भी है, सच्ची भी[१]। अपत्यवाचक तद्धित रूपों के उदाहरण में गणरत्नमहोदधि में कई कई श्लोकों के लंबे अवतरण स्थान स्थान पर दिए गए हैं। उनकी रचना से जान पड़ता है कि वे किसी भट्टिकाव्य के सदृश व्याकरण के उदाहरणमय काव्य के एक ही सर्ग में से हैं क्योंकि छंद एक ही है। यह भी जान पड़ता है कि वह काव्य व्याकरण के उदाहरणों के अतिरिक्त द्व्याश्रय काव्य की तरह मालवा के परमार राजा भोज के यश का वर्णन करता है। संभव है कि भोजराज रचित प्रसिद्ध व्याकरण के उदाहरण दिखाने के साथ साथ परमारवंश और भोज के गौरव का वर्णन करने के लिये भोज के किसी सभापंडित ने उसकी रचना की हो। यों तो कई फुटकर श्लोक गणरत्नमहोदधि में और भी जगह जगह मिलते हैं जिन्हें इस काव्य का मान ले सकते हैं, किंतु यह विचार उन एक छंद के अवतरणों का ही करते हैं जो एक ही सर्ग के माने जाने चाहिएँ। इस सर्ग का कथाप्रसंग ऐसा

---

(१) येभ्यस्तद्धितसिंहेभ्यः शाब्दिकेभैः पलायितम् ।
गव्येनापि मया दत्तं पदं तद्गणमूर्धसु ॥ ( पृ० ४६१ )

यहाँ अपने को 'गव्य' कहकर अपने गुरु गोविन्द सूरि की ओर संकेत किया है।

जान पड़ता है कि भोज सिप्रा नदी के तट पर[1] महाकाल वन में[2] किसी ऋषि के आश्रम में गया[3]। वहाँ अनेक ऋषियों ने उसका स्वागत किया[4] और भोज ने ऋषियों का आदर और उनसे संभाषण। किसी[5] [ ऋषि ] ने यह भी कहा कि [ आपके पूर्वज ] वैरिसिंह आदि में शिवभक्ति थी किंतु आपकी तरह शिव का प्रत्यक्ष दर्शन किसी ने नहीं पाया[6]। जहाँ पर राजा की सवारी आश्रम की ओर जा रही है वहाँ कई ऋषिपत्नियों के उत्सुकता के साथ दौड़ कर आने, दर्शन करने आदि का वर्णन भी है। कवि ने ऋषि और क्षत्रियों के स्त्रीलिंग और पुल्लिंग अपत्यवाचक तद्धित प्रयोगों की माला गूँथने के लिये यह सब प्रसंग बहुत अच्छा कल्पित किया

---

(१) स कौकिलश्यामवनेन कूजत्क्रौञ्चेन **सिप्रो**पतटेन गच्छन्। (पृ० २१७)
अथैष वातण्ड्यवतण्ड्यभीकवातण्डवातण्ड्यभिकप्रियाणि।
आश्वायनाश्मायनसेवितानि शुचीनि **सिप्रा**पुलिनान्यगच्छत्॥(पृ०२८५

(२) राजन्**महाकाल**वनेऽत्र गार्ग्यो वात्स्यात्मजावत्सलबालवत्सम्।
वाज्याज्यसौ वाजिबटुप्रियेण विलोक्यतामाश्रममण्डनं वः॥ (पृ० २९६)

(३) तथेति गौरीपतये प्रणम्य सांकृत्यपत्रीकृतपादपं सः।
आसंकृतीनर्तितमत्तबर्हिं मुनेः पदं राजमुनिर्जगाम॥ (पृ० २९७)

(४) वैयाघ्रपद्योपहितार्घपाद्यः प्राचीनयोग्योदितमङ्गलाशीः।
स तत्र रैभ्यायणपृष्टवार्तः पौलस्त्यहाऽत्रेरिव धाम्न्यभासीत॥ (पृ०२९७)

(५) स काण्ठ्यगौकक्ष्यसमक्षमस्मिन्नागस्त्यकौण्डिन्यकृतातिथेयः।
सुभाषितान्यादित पार्णवल्क्यो यजूंषि सूर्यादिव याज्ञवल्क्यः॥
सबार्हदग्न्यायनजामदग्न्यः स्थौर्यौकृथ्यतैतिक्ष्यजिघृक्षिताभिः।
कौटिल्यशास्त्रार्णवपारदृश्वा ननन्द गौलन्ध्यमुनीन्द्रवाग्भिः॥
काप्यैंकलव्यायनपैप्पलव्यदाल्भ्यैन्द्रहव्यायनदैवहव्यान्।
राराक्यचाणक्यवदारक्यमौलूक्यचौलुक्यजुषं सिषेवे॥ (पृ० २९८)

(६) दृष्टोडुलोमेषु मयौडुलोमे **श्रीवैरसिंहा**दिषु रुद्रभक्तिः।
अपार्थिवा सा त्वयि पार्थिवी यां नौत्स्यौदपान्योऽपि न वर्णयन्ति॥
कस्तारुणस्तालुनबाष्कयौ वा सौबष्कयिर्वा हृदये करोति।
विलासिनोर्वीपतिना कलौ यद्व्यलोकि लोकेऽत्र मृगाङ्कमौलिः॥
न भारतेनैक्षि न कौरवेण नैन्द्रावसेन न सात्वतेन।
पांचालमाहानदवैनदैर्नो नौशीनरेणाद्य यथा त्वयेशः॥ ( पृ० ३०३ )

है । अस्तु । ऋषिपत्नियों के प्रसंग में जिस **राजा को वे उत्सुकता से देखने आई और देखती हैं उसको मालवराज, त्रिलोक नारायण भूमिपाल और भोज इन तीनों नामों से बतलाया**[1] **है** अर्थात् भोज और त्रिलोकनारायण दोनों एक ही राजा के नाम हैं जो मालवे का राजा था । 'लोक' और 'भुवन' पर्याय शब्द हैं इसलिये 'त्रिभुवननारायण' और 'त्रिलोकनारायण' दोनों एकही राजा के सूचक हैं, अतएव ऊपर कहे हुए 'भोजस्वामी' और 'त्रिभुवननारायण' नाम एक ही मंदिर के सूचक हैं ।

जैसे पद्मगुप्त (परिमल) कवि ने भोज के पिता सिंधुराज के चरित्र ग्रंथ का नाम उक्त राजा के मुख्य नाम पर 'सिंधुराजचरित' न रक्खा किंतु उसके उपनाम (बिरुद, खिताब) 'नवसाहसांक' पद से उक्त पुस्तक का नाम 'नवसाहसांकचरित' दिया वैसे ही भोज उपनाम 'त्रिभुवननारायण' पर से उक्त मंदिर का नाम रक्खा गया होगा । ऊपर चीरवा के शिलालेख से यह बतलाया जा चुका है कि चित्तौड़ का तलारक्ष ( तलार ) मदन त्रिभुवननारायण नामक देवालय में शिव का पूजन किया करता था । अतएव निश्चित है कि भोज का बनाया हुआ वह मंदिर शिव का मंदिर था । भोज परम शैव था इसका उल्लेख ऊपर गणरत्नमहोदधि के अवतरणों में किया जा चुका है । नारायण नाम विष्णु का सूचक होने से यह भ्रम होना संभव है कि वह मंदिर विष्णु का हो परंतु उक्त नाम में नारायण शब्द विष्णु का सूचक नहीं किंतु भोज के उपनाम का

---

(१) नाडायनि व्रीडजडेह मा भूश्चारायणि स्फारय चारुचक्षुः ।
विलोक(?) वाकायनि मुञ्जकुञ्जान्मौञ्जायनी (?) **मालवराज** एति ॥
वीक्षस्व तैकायनि शंसकोऽयं शाणायनि कायुधबाणशाणः ।
प्राणायनि प्राणसमस्त्रिलोक्यास्**त्रिलोकनारायणभूमिपालः**॥ (पृ० २७७)
द्वैगायनीतो भव सायकायन्युपेहि दौर्गायणि देहि मार्गम् ।
त्वरस्व चैत्रायणि चाटकायन्यौदुम्बरायण्ययमेति **भोजः** ॥ (पृ० २७८)
मा हांसकायन्यनुधाव हंसान् मा शांशपायन्युपशिंशपे स्थाः ।
मा पैङ्गरायण्यनु पैङ्गलायन्युपेहि दृष्टो नृपतिर्जनाय ॥ (पृ० २७९)

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

अंश होने से उसको चीरवा के शिलालेख के अनुसार शिव का मंदिर मानने में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती।

मेरे इस लेख को पढ़ने के बाद कोई इतिहासप्रेमी अथवा प्राचीन शोधक चित्तौड़ के किले की सैर करने को जावे तो उसको यह जिज्ञासा अवश्य होगी कि प्रसिद्ध विद्यानुरागी राजा भोज का बनवाया हुआ 'त्रिभुवननारायण' या 'भोजस्वामी' नामक शिवालय अब विद्यमान है वा नहीं; यदि है तो कौनसा और कहाँ है। इसी लिये उक्त मंदिर का पता लगाने का यत्न किया जाता है।

अब तो चित्तौड़ के किले या तलैटी के रहनेवालों में से कोई भी यह नहीं जानता कि राजा भोज वहाँ रहा था और उसने वहाँ एक शिवालय भी बनवाया था। ऐसे ही न वे 'त्रिभुवननारायण' या 'भोजस्वामी' का नाम जानते हैं। इन बातों का पता अब प्राचीन शोध से ही लगा है। राजपूताने में सब से प्राचीन और प्रसिद्ध किला चित्तौड़ ही है जिस पर हिंदुओं तथा मुसलमानों की अनेक चढ़ाइयाँ हुई। वि० सं० १३६० में देहली के सुलतान अलाउद्दीन ख़िलजी ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर छः मास से कुछ अधिक समय तक लड़ने के बाद वह किला लिया। उसने वहीं अपने सब से बड़े बेटे ख़िज़रखाँ को वलीअहद (युवराज) बनाया और चित्तौड़ के राज्य का शासक भी उसीको नियत किया। वह सात आठ बरस तक वहाँ रहा जिसके पीछे सुलतान ने वह किला जालोर के सोनगरों (चोहानों) के वंशज मालदेव को सौंपा। अलाउद्दीन के विजय तथा ख़िज़रखां के अधिकार के समय वहाँ के बौद्ध जैन तथा हिंदू मंदिरों को मुसलमानों ने नष्ट कर दिया। भोज ने वह मंदिर वि० सं० १०८८ से कुछ पहले बनाया होगा क्योंकि उसी समय उसका चित्तौड़ में रहना ऊपर बतलाया गया है। भोज के समय अथवा उससे पहले के प्राचीन चिह्नों में चितौड़ पर अब ठोस पत्थर के बने हुए बौद्धों के ८ स्तूप[1], तथा हिंदुओं के दो मंदिर, जिनका जीर्णो-

---

(१) इन सब स्तूपों के ऊपर के शंकु की आकृति का अंश नष्ट कर दिया

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

द्धार हुआ है, हैं। इन दो प्राचीन सुंदर, विशाल और दृढ़ मंदिरों में से एक तो सूर्य का है[1], जो पीछे से उसमें देवी की मूर्ति स्थापित किए जाने के कारण अब कालिकाजी का मंदिर कहलाता है, और दूसरा शिवालय है जिसको अदबदजी ( अद्भुतजी ) का मंदिर और मोकलजी का मंदिर भी कहते हैं। वह शिवालय गोमुख नामक प्रसिद्ध तीर्थ (जलाशय) के ऊपर के ऊँचे हिस्से में है और महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) के बनवाए हुए कीर्तिस्तंभ के दक्षिण में उससे थोड़ी ही दूरी पर है। यही चित्तौड़ पर के शिवालयों में सब से पुराना और सब से अधिक प्रसिद्ध है। उसमें नीचे ( ६ सीढ़ी नीचे ) तो शिवलिंग और अनुमान छः सात फुट की ऊँचाई पर पीछे की

---

गया है। उसके नीचे का मोटा गोलाकृतिवाला अंश तथा उसके नीचे का चौरस भाग जिसपर वज्र के चिह्नसहित बुद्ध की मूर्तियां बनी हुई हैं विद्यमान हैं। ये स्तूप पहले राठौड़ जयमल की हवेली से पद्मिनी के महलों की ओर जानेवाली सड़क की दाहिनी ओर के तालाब में एक चट्टान पर थे जहाँ से उठा कर अनुमान १२ वर्ष पहले रियासत ने उनको तोपखाने के मकान की एक ओवरी में रखवा दिया है। ऐसा करने में दो के तो टुकड़े भी हो गए हैं।

(१) उस मंदिर को प्रारंभ में सूर्य का मंदिर मानने का कारण यह है कि उसके सुंदर और विशाल द्वार पर सूर्य्य की मूर्ति बनी हुई है और भीतरी परिक्रमा में तीनों ओर के ताकों में भी सात घोड़ों सहित सूर्य (सप्ताश्व) की प्राचीन मूर्तियाँ विद्यमान हैं। मुसलमानों के समय में यहाँ की मूर्ति तोड़ दी गई और मंदिर अरसे तक बिना मूर्ति के पड़ा रहा। पीछे से उसमें कालिका की मूर्ति स्थापित की गई जिसको अनुमान १५० वर्ष हुए हैं। जब से वह नवीन मूर्ति स्थापित की गई तब से उसके पुजारी 'गिरि' नामांतवाले बाबा (साधु) हैं। वर्तमान पुजारी भैरुगिरि मूल पुजारी का नवां वंशधर है। उक्त मंदिर का जीर्णोद्धार ( मरम्मत ) वि० सं० १८६३ में नागेंद्र गिरि के चेले दौलत गिरि तथा कुशालगिरि ने करवाया ऐसा उस मंदिर के छज्जे के नीचे खुदे हुए लेख से पाया जाता है। उस मंदिर के बड़े चौक में उन पुजारियों की समाधियाँ बनती रहने से उसका कितना एक अंश तो उन्हीं से भर गया है। यदि ऐसा ही चलता रहा तो समय पाकर वहाँ पर एक खासा कबरस्तान बन जायगा और उस अपूर्व प्राचीन मंदिर और चौक की शोभा बिलकुल नष्ट हो जायगी।

दीवार से सटी हुई शिव की विशाल त्रिमूर्ति[1] प्राचीन बनी है, जिसकी अद्भुत आकृति के कारण ही लोग उसको अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर कहते हैं। वि० सं० १४८५ में महाराणा मोकल ने उसका जीर्णोद्धार करा कर अपने नाम की एक बड़ी प्रशस्ति उसमें लगाई[2] जिससे लोग उसको मोकलजी का मंदिर भी कहते हैं। वह इस समय ही चित्तौड़ के शिवालयों में सब से अधिक प्रसिद्ध है ऐसा ही नहीं किंतु देहली पर मुसलमानों का अधिकार होने से पहले भी वैसाही प्रसिद्ध था क्योंकि गुजरात के राजा कुमारपाल ने वि० सं० १२०७ में अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज, आनल्ल देव, आनाक) पर चढ़ाई कर उसको हराया। वहाँ से वह चित्तौड़ की शोभा देखने को चला और शालिपुर (सालेरा गाँव, चित्तौड़ से थोड़े ही मील पर) में अपना शिविर (सेना का पड़ाव) रख कर चित्तौड़ गया। वहां पर उसने उक्त (त्रिमूर्तिवाले) मंदिर में शिव की आराधना कर एक गाँव भेट किया और उसके स्मरणार्थ उक्त मंदिर में एक शिलालेख लगाया जो अब तक विद्यमान है[3]। इन सब बातों का विचार करते हुए यही अनुमान होता है कि जिस शिवालय में तलारक्ष मदन शिव की पूजा किया करता था वह उपर्युक्त त्रिमूर्तिवाला मंदिर ही होना चाहिए। उक्त मंदिर का सभामंडप तथा मुख्य अंश जहाँ शिवलिंग तथा त्रिमूर्ति बनी हुई है, पहले के ही हैं, जिनके शिल्प की ओर दृष्टि देते हुए उनका भोज के समय का होना मानना पड़ता है[4]। उसके

---

(१) शिव की त्रिमूर्ति के वर्णन के लिये देखो मेरा लिखा हुआ 'सिरोही राज्य का इतिहास', पृ० ३६–३७ टिप्पण। कर्नल टाड ने त्रिमूर्ति के तीन मुख पर से उस मंदिर को ब्रह्मा का और महाराणा कुंभा का बनाया हुआ माना है जो भ्रम ही है। (टाड राजस्थान, जि० ३, पृ० १८०२-१७ आक्सफर्ड का संस्करण।)

(२) एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ४१०–२१।

(३) एपि० इंडि०; जि० २, पृ० ४२२–२४।

(४) कर्नल टाड के राजस्थान' के आक्सफर्ड संस्करण, जि० ३, पृ० १८. पर उसके संपादक विलिअम् क्रुक का टिप्पण २।

बनने के बाद उसके निकट ही शिव और विष्णु आदि के भी मंदिर बने जो ऐसे दृढ़ और विशाल न होने से अब टूटी हुई दशा में हैं। कुमारपाल की मृत्यु के पीछे जब चित्तौड़ पर गुहिल-वंशियों का अधिकार फिर हुआ और वहीं मेवाड़ की राजधानी स्थिर हुई तब से चित्तौड़ के राजाओं की महासती[1] (दाहस्थान) का स्थान भी उसी मंदिर के निकट नियत हुआ। वि० सं० १३३१ में रावल समरसिंह ने उन सब मंदिरों तथा महासतियों के इर्द गिर्द एक विशाल द्वार सहित हाता[2] बनवाया और उसके संबंध की प्रशस्ति[3] दो बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदवाकर द्वार के भीतर दोनों ओर की दीवारों में लगाई जिनमें से पहली शिला संवत् (१३३१) सहित अबतक विद्यमान है। उक्त प्रशस्ति की रचना वेदशर्मा कवि ने की थी। वि० सं० १३४२ में उसी कवि ने उसी राजा की आबू पर के अचलेश्वर के मठ की प्रशस्ति बनाई जिसमें वह अपनी बनाई हुई पहली प्रशस्ति (चित्तौड़ वाली) का भी उल्लेख करता हुआ उसके स्थान का परिचय इस तरह देता है कि 'चित्रकूट के रहनेवाले नागर जाति के ब्राह्मण उसी वेदशर्मा ने इस (अचलेश्वर के मठ की) प्रशस्ति की रचना की जिसने कि एकलिंग, त्रिभुवन इस नाम से प्रसिद्ध समाधीश (= शिव) और चक्रस्वामी (= विष्णु) के मंदिरों के समूह की प्रशस्ति बनाई थी।'[4] वेदशर्मा आबू की प्रशस्ति की

---

(१) ना० प्र० पत्रिका, भाग १ पृ० १०४।

(२) बड़ी बड़ी दो शिलाओं पर खुदी हुई उस प्रशस्ति पर से यह संभव नहीं प्रतीत होता कि मंदिरों का हाता, जो अब नष्ट सा हो गया है, बनवाने की यादगार में ऐसी बड़ी प्रशस्ति लगाई गई हो। संभव है कि उक्त हाते के बनवाने के साथ वहां कोई मंदिर भी समरसिंह ने बनवाया हो, परंतु दूसरी शिला के न मिलने से इसका कुछ भी निश्चय नहीं हो सकता।

(३) भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ७४–७७।

(४) योऽकार्षीदेकलिङ्गत्रिभुवनविदितश्रीसमाधीशचक्र-
स्वामिप्रासादवृंदे प्रियपटुतनयो वेदशर्म्मा प्रशस्तिम्।
तेनैषापि व्यधायि स्फुटगुणविशदा नागरज्ञातिभाजा
विप्रेणाशेषविद्वज्जनहृदयहरा चित्रकूटस्थितेन ॥ ६० ॥
(आबू पर के अचलेश्वर के मठ की प्रशस्ति-इंडि० एंटि० जि० १६ पृ० ३५

रचना के पूर्व अपनी बनाई हुई एक ही और प्रशस्ति का उल्लेख करता है। वह चित्तौड़ की वि० सं० १३३१ की प्रशस्ति ही है। चित्तौड़ के उक्त हाते के भीतर दो शिवालय टूटी हुई दशा में मौजूद हैं परंतु उनमें शिलालेख न होने से यह जाना नहीं जा सकता कि उनमें से कौन सा मंदिर एकलिंग का था। मेवाड़ के राजाओं के इष्टदेव एकलिंगजी होने के कारण उनके नाम का मंदिर चित्तौड़ में भी बनाया गया हो यह संभव है। त्रिभुवन नाम से प्रख्यात समाधीश (त्रिभुवनविदित श्रीसमाधीश) का मंदिर ऊपर बतलाया हुआ त्रिमूर्तिवाला[1] शिव मंदिर ही है, क्योंकि उसी मंदिर में लगी हुई उसीके जीर्णोद्धार की महाराणा मोकल की वि० सं० १४८५ की प्रशस्ति में उक्त मंदिर के नाम का परिचय 'समाधीश'[2] और 'समिद्धेश'[3] दोनों नामों से दिया है और उसी मंदिर में लगे हुए कुमारपाल के वि० सं० १२०७ के शिलालेख में उसका नाम समिद्धेश्वर[4] मिलता है। आबू की प्रशस्ति का 'त्रिभुवनविदितश्रीसमाधीश' समासवाला पद यद्यपि दो अर्थों (त्रिभुवन नाम से प्रसिद्ध समाधीश ( शिव ) और त्रिभुवन में प्रसिद्ध समाधीश[5] ) का सूचक हो सकता है तो भी उसका 'त्रिभुवनविदित' ( त्रिभुवन नामक ) अंश 'त्रिभुवननारायण' नामक भोज के शिवालय की स्मृति दिलाता है इसलिये उसे "त्रिभुवन इति विदितः" इसी व्यास ( विग्रह ) का मध्यमपद

---

(१) चित्तौड़ के किले पर त्रिमूर्ति तथा शिवलिंग वाला एक और भी मंदिर है जिसको भी लोग अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर कहते हैं। वह सूरजपोल दरवाजे के निकट है और वि० सं० १५४० में बना था ऐसा वहाँ के शिलालेख से पाया जाता है।

(२) श्रीमत्समाधीशमहेश्वरस्य प्रसादतो०(पंक्ति ५३)।

(३) समिद्धेशः श्रीमानिह वसति गौरीसहचरः।

(४) श्रीसमिद्धेश्वरं देवं प्रसिद्धं जगती-। (पंक्ति २२-२३)।

(५) समाधीश, समिद्धेश और समिद्धेश्वर ये तीनों नाम उपर्युक्त शिलालेखों में शिव के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

लोपी समास मानना अधिक उचित जान पड़ता है। चक्रस्वामी (विष्णु) का मंदिर वहाँ पर कौन सा था इस विषय का निर्णय नहीं हो सका क्योंकि वहाँ कई पुराने मंदिर टूटे हुए पड़े हैं, परंतु यह निश्चित है कि वहाँ चक्रस्वामी (विष्णु) का कोई मंदिर अवश्य था, क्योंकि उपर्युक्त महाराणा मोकल की वि० सं० १४८५ की प्रशस्ति के प्रारंभ में शिव को नमस्कार करने के बाद गजास्य (गणपति), एकलिंग (शिव या उक्त नाम के शिव), गिरिजा (पार्वती) और अच्युत (विष्णु) की आशीर्वादात्मक प्रार्थना की है[1]। महाराणा कुंभा (कुंभकर्ण) की वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति में उसके पिता मोकल के वर्णन में लिखा है कि 'उसने चित्तौड़ में समाधीश्वर के मंदिर का जीर्णोद्धार कराया, दुर्गा के मंदिर के आँगन में सर्वधातु का सिंह स्थापित किया और चक्रपाणि (चक्रस्वामी, विष्णु) के मंदिर में सोने का गरुड़ बनाया[2]।

ऊपर के सारे कथन का सार यही है कि जिस त्रिमूर्तिवाले शिवालय का जीर्णोद्धार महाराणा मोकल ने कराया वही राजा भोज का बनवाया हुआ 'त्रिभुवननारायण' नाम का शिवालय होना चाहिए जो पीछे से 'भोजस्वामी', समिद्धेश्वर, समाधीश, समाधीश्वर अदबदजी और मोकलजी का मंदिर कहलाया।

---

(१) श्लोक १—४ (एपि० इंडि०, जि० २, पृ० ४१०—११।)

(२) नृपः समाधीश्वरसिद्धतेजाः
समाधिभाजां परमं रहस्यं।
आराध्य तस्यालयमुद्दधार
श्रीचित्रकूटे मणितोरणांकं॥ २२२॥
यः सुधांशुमुकुटप्रियांगणे
वाहनं मृगपतिं मनोरमं।
निर्मितं सकलधातुभक्तिभिः
पीठरक्षणविधाविव व्यधात्॥ २२४॥
पक्षिराजमपि चक्रपाणये
हेमनिर्मितमसौ दधौ नृपः।
येन नीलजलदच्छविर्विभु-
रचंचलायुत इवाधिकं बभौ॥ २२५॥
(कुंभलगढ़ की प्रशस्ति—अप्रकाशित)।

# २–मेवाड़ के शिलालेख और अमीशाह।

[लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर]

देहली के सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पहले से लगाकर औरंगज़ेब के समय तक मेवाड़ के राजा अपने वंश के गौरव या देश की रक्षा के लिये अथवा अपना राज्य बढ़ाने के लिये मुसलमान सुलतानों तथा बादशाहों के साथ बहुधा लड़ते ही रहे। सुलतान अलाउद्दीन ने वि० सं० १३६० में चित्तौड़ का क़िला रावल रत्नसिंह से लड़कर लिया और वहाँ का राज्य अपने सब से बड़े बेटे ख़िजरखाँ को दिया।[1] चित्तौड का राज्य कम से कम आठ बरस तक उसके अधिकार में रहा[2]। फिर सुलतान ने वह राज्य जालौर के सोनगरों (चौहानों)

---

(१) इलियट; हिस्टरी आफ इंडिआ, जि० ३, पृ० ७७६-७७; वही, जि० ३, पृ० १८९। ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ३५३-५४।

(२) फिरिश्ता लिखता है कि हिजरी सन् ७०३ (वि० सं० १३६०) में अलाउद्दीन ने चित्तौड़ का किला फतह कर खिजरखाँ को दिया और हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१) में उसको हुक्म दिया किला राजा (रत्नसिंह) के भानजे (सोनगरा मालदेव) के सुपुर्द कर देवे (ब्रिग; फिरिश्ता, जि० १, पृ० ३५४), परंतु फिरिश्ता का दिया हुआ मालदेव को किला सौंपने का हि० स० ७०४ (वि० सं० १३६१) विश्वासयोग्य नहीं है क्योंकि ऐसा होता तो खिज़रखाँ चित्तौड़ की हुकूमत एक वर्ष से अधिक करने न पाता और किला एक वर्ष में ही फिर हिंदुओं के हाथ में जाना चाहिए था। नीचे लिखे हुए प्रमाणों से पाया जाता है कि ख़िज़रखाँ हि० स० ७१२ (वि० स० १३७०) के आस पास तक चित्तौड़ की हुकूमत पर रहा था–

(क) ख़िज़रखां ने चित्तौड़ में रहते समय किले के नीचे बहनेवाली गंभीरी नदी पर सुंदर और सुदृढ़ पुल बनवाया जिसके बनने में कम से कम दो वर्ष लगे होंगे।

(ख) चित्तौड़ की तलेटी के बाहर के एक मकबरे में हि० स० ७०९

के वंशज मालदेव को दिया। मालदेव ने सात बरस तक वहाँ

---

ता० १० ज़िल्हिज्ज (वि० सं० १३६७) का फ़ारसी का एक शिलालेख लगा हुआ है जिसमें 'बुलमुज़फ़्फ़र मुहम्मदशाह सिकंदर सानी' अर्थात् अलाउद्दीन खिलजी को दुनिया का बादशाह कहकर आशीर्वाद दिया है। इससे अनुमान होता है कि उस समय तक चित्तौड़ मुसलमानों के ही हाथ में था और मालदेव को नहीं मिला था।

(ग) फ़िरिश्ता हि० स० ७११ (वि० सं० १३६८–६९) के हाल में स्वयं लिखता है कि 'इस समय सुलतान का प्रताप अवनति को पहुँच गया था। उसने राज्य की लगाम मलिक काफ़ूर के हाथ में दे रक्खी थी जिससे दूसरे उमरा उससे अप्रसन्न हो रहे थे। खिज़रखाँ को छोटी उम्र से ही चित्तौड़ का शासक बना दिया था परंतु उसको सलाह देने या उसका चाल चलन दुरुस्त रखने के लिये किसी बुद्धिमान पुरुष को उसके पास नहीं रक्खा था। इसी समय तिलंगाने के राजा ने कुछ भेट और २० हाथी भेज कर लिखा कि मलिक काफ़ूर के द्वारा जो खिराज़ नियत हुआ है वह तैयार है। इस पर मलिक काफ़ूर ने देवगढ़ (दौलताबाद) आदि के दक्षिण के राजाओं को अधीन करने तथा तिलंगाने का खिराज़ लाने की बात कह कर उधर जाना चाहा। **खिज़रखाँ के अधीन के इलाके (चित्तौड़) से दक्षिण की इस चढ़ाई के लिये सुभीता होने पर भी मलिक काफ़ूर ने वहाँ खुद जाना चाहा जिसका कारण खिज़रखाँ से उसका द्वेष ही था।** सुलतान से आज्ञा पाकर मलिक हि० स० ७१२ (वि० सं० १३६९–७०) में दक्षिण को गया, परंतु सुलतान के बीमार हो जाने से वह बुला लिया गया। बीमारी की दशा में सुलतान ने ख़िज़र खाँ को बुला लिया और मलिक काफ़ूर के उस (खिज़रखाँ) की शिकायत करने पर उसको कुछ समय तक अल्मोड़ा में रहने की आज्ञा दी' (ब्रिग; फ़िरिश्ता, जि० १, पृ० ३७८–८१)।

(घ) मुंहणोत नैणसी के कथनानुसार वि० सं० १३६८ वैशाख सुदि ५ (नैणसी की ख्यात, पत्र ४९, पृ० २) को और फ़िरिश्ता के अनुसार हि० स० ७०९ (वि० सं० १३६६) में (जि० १, पृ० ३७२) सुलतान अलाउद्दीन की सेना ने जालौर का किला चौहानों से छीन कर वहाँ के हिंदू राज्य की समाप्ति की। इस लड़ाई में वहाँ का राजा कान्हडदेव और उसका कुँवर वीरमदेव दोनों मारे गए। कान्हडदेव का भाई मालदेव बचा जो सुलतान के मुल्क में बिगाड़ किया करता और सुलतान की फौज उसका पीछा किया करती थी। अंत में सुलतान ने चित्तौड़ का इलाका देकर उसको अपना मातहत बनाया

राज्य किया और उसका देहांत चित्तौड़ में ही हुआ[1], जिसके पीछे मेवाड़ के गुहिलवंश की सीसोदे की छोटी शाखा के वंशधर राणा हंमीर ने छल या बल से चित्तौड़ का किला लेकर राणा शाखावाले गुहिलवंशियों अर्थात् सीसोदियों का राज्य फिर से वहाँ स्थापित किया। हंमीर, देहली के सुलतान (मुहम्मद तुग़लक़) से लड़ा[2]। हंमीर का पुत्र और उत्तराधिकारी क्षेत्रसिंह हुआ जो लोगों में खेता, खेतसी या खेतल नाम से प्रसिद्ध है। उसकी गद्दीनशीनी वि० सं० १४२१ में और देहांत १४३९ में हुआ।[3] उसके पौत्र, प्रपौत्र आदि के समय के मेवाड़ के कई शिलालेखों या प्रशस्तियों में क्षेत्रसिंह का अमीशाह को परास्त करना लिखा है परंतु यह नहीं लिखा कि अमीशाह कौन और कहाँ का था। मेवाड़ का इतिहास लिखनेवाले भिन्न भिन्न पुरुषों ने अमीशाह का पता लगाने का यत्न किया परंतु उसमें कोई सफल न हुआ। अतएव उसका निश्चय करना आवश्यक है।

भिन्न भिन्न शिलालेखों में अमीशाह के संबंध में जो कुछ लिखा मिलता है वह यह है—

(१) महाराणा क्षेत्रसिंह के पौत्र महाराणा मोकल के समय के

---

(मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ४४, पृ० २)। इस लिये मालदेव को चित्तौड़ का इलाका वि० सं० १३६८ से कुछ वर्ष बाद ही मिला होगा।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यही संभव प्रतीत होता है कि ख़िजरखाँ का अधिकार चित्तौड़ पर कम से कम आठ वर्ष रहने के बाद वह किला मालदेव को मिला होगा, न कि वि० सं० १३६१ में जैसा कि फ़िरिश्ता ने हि० सन् ७०४ के हाल में लिखा है।

[1] मुंहणोत नैणसी की ख्यात, पत्र ४४, पृ० २।

[2] वंशे तत्र पवित्रचित्रचरितस्तेजस्विनामग्रणीः
श्रीहंमीरमहीपतिः स्म तपति क्ष्मापालवास्तोष्पतिः।
तौरुष्कामितमुण्डमण्डलमिथःसंघट्टवाचालिता
यस्याद्यापि वदन्ति कीर्तिमभितः संग्रामसीमाभुवः॥ ६॥

चित्तौड़ पर के जैन कीर्तिस्तंभ के पास के महावीर स्वामी के मंदिर की प्रशस्ति (बंब० एशि० सोसा० का जर्नल, जि० २३ पृ० ५०)

[3] वीरविनोद, पृ० ३०२, ३०५।

श्रृंगी ऋषि नामक स्थान ( एकलिंग जी के मंदिर से ५ मील पर ) में लगे हुए वि० सं० १४८५ के शिलालेख में लिखा है कि उस (चेत्रसिंह) ने अपनी तलवार के बल से युद्ध में अमीसाह (अमीशाह) को जीता, उसके अशेष यवनों को नष्ट किया और वह उसके सारे ख़ज़ाने तथा असंख्य घोड़ों को अपनी राजधानी में लाया ।[1]

(२) महाराणा मोकल के पुत्र महाराणा कुंभा ( कुंभकर्ण ) के समय की वि० सं० १५१७ की कुंभलगढ़ की प्रशस्ति से पाया जाता है कि जैसे फदकते हुए मेंढक को साँप पकड़ ले वैसे वीरव्रतवाले राणा खेत ने अमीसाहि ( अमीशाह ) को धर दबाया । जगत की रक्षा करनेवाली अपने हाथ में धरी हुई तलवार से वह खेत राणा (राणा खेता) प्रसिद्ध हुआ [2]।

(३) एकलिंगजी के मंदिर के दक्षिणी द्वार के सामने के ताक में लगी हुई महाराणा कुँभा (कुँभकर्ण) के पुत्र महाराणा रायमल के समय की वि० सं० १५४५ की प्रशस्ति में लिखा है कि अमीसाहि (अमीशाह) रूपी बड़े सर्प के गर्व रूपी विष को जड़ से मिटानेवाला बड़ी संपत्ति का स्वामी पृथ्वीपति (राजा) चेत्र चित्रकूट ( चित्तौड़ ) में हुआ[3] ।

---

(१) आजावमीसाहमसिप्रभावा-
ज्जित्वा च हत्वा यवनानशेषान् ।
यः कोशजातं तुरगानसंख्या-
न्समानयत्स्वां किल राजधानीं ॥ [ ६ ]
(श्रृङ्गी ऋषि का शिलालेख—अप्रकाशित ।)

(२) अमीसाहिरग्राहि येनाहिनेव
स्फुरद्भेक एकांगवीरव्रतेन ।
जगत्रा (त्रा)णकृद्यस्य पाणौ कृपाणः
प्रसिद्धोभवद्भूपतिः षे(खे)तराणः ॥ २०२ [ ॥ ]
( कुंभलगढ़ की प्रशस्ति—अप्रकाशित । )

(३) योमीसाहिमहाहिगर्वगरलं मूलादवादीदहत्
स क्षेत्रक्षितिभृत् प्रभूतविभवः श्रीचित्रकूटेभवत् ॥ २९ ॥
दक्षिणद्वार की प्रशस्ति ( भावनगर इंस्क्रिपशंस, पृ० ११६ )

(४) महाराणा चेत्रसिंह के सामंत[1] बंबावदे ( मेवाड़ के पूर्वी हिस्से में ) के हाड़ा (चौहानों की एक शाखा) महादेव[2] के वि० सं० १४४६ के मेनाल (बंबावदे के हाडों के अधीन का प्राचीन नगर, बंबावदे से थोड़े ही मील पर) के शिलालेख में उक्त हाड़ा के विषय में लिखा है कि उसकी तलवार शत्रुओं की आँखों में चकाचौंध उत्पन्न कर देती थी। उसने अमीशाह पर अपनी तलवार खींच कर मेदपाट ( मेवाड़ ) के स्वामी खेता ( चेत्रसिंह ) की रक्षा की और सुलतान की सेना को अपने पैरों के तले कुचलकर नरेंद्र खेता को विजयी किया[3]।

---

(१) अमीशाह के साथ की लड़ाई में हाड़ा महादेव लड़ा जिसका कारण उसका महाराणा चेत्रसिंह का सामंत होना ही है। उक्त महाराणा ने हाडावटी ( हाडौती ) के स्वामियों को जीतकर उनका देश अपने अधीन किया था ऐसा उपर्युक्त कुंभलगढ़ तथा दक्षिणी द्वार की प्रशस्तियों से पाया जाता है।

हाडावटीदेशपतीन् स जित्वा
तन्मंडलं चात्मवशीचकार ॥ १६८ ॥
( कुंभलगढ़ की प्रशस्ति। )

हाडामंडलमुंडखंडनधृतस्फूर्ज्जत्कदंबोद्धुरं
कृत्वा संगरमात्मसाद्वसुमतीं श्रीखेतसिंहो व्यधात् ॥ ३१ ॥
दक्षिणद्वार की प्रशस्ति ( भावनगर इंस्क्रिप्शंस, पृ. ११६ )

(२) महादेव बंबावदे के हाडा कुंतल का पुत्र, केल्हण का पौत्र और रतपाल ( रतिपाल ) का प्रपौत्र था ( मेनाल का वि० सं० १४४६ का शिलालेख—टॉड, राजस्थान, जि० ३, पृ० १८०३, आक्सफोर्ड का संस्करण )। बूंदी के इतिहास वंशभास्कर तथा उसके गद्यरूप सारांश वंशप्रकाश में महाराणा हंमीर के साथ हाडों की लड़ाई होने तथा कुँवर चेत्रसिंह के घायल होने आदि का जो हाल लिखा है वह सारा ही कल्पित है। इसी तरह उसके प्रसंग में बंबावदे के हाडों की जो नामावली तथा संवत् दिए हैं वे सब के सब गढंत हैं। वे सब भाटों की ख्यातों से लिए गए हैं क्योंकि उनमें मेनाल के शिलालेख में दिए हुए बंबावदे के हाडों के नामों में से एक भी नहीं है।

(३) टॉड; राजस्थान, जि० ३, पृ० १८०२। इस लेख की खोज के लिये मैं दो बार मेनाल गया किंतु बहुत यत्न करने पर भी कहीं इसका पता न चला। अनुमान होता है कि कर्नल टॉड बहुत से शिलालेखों के साथ इसे भी विलायत ले गये हों। अतएव टॉड के दिए हुए अनुवाद पर ही संतोष करना पड़ा।

इन चारों अवतरणों से केवल यही पाया जाता है कि महाराणा क्षेत्रसिंह ने अमीशाह नामक किसी व्यक्ति को युद्ध में हराया और उसका ख़ज़ाना तथा घोड़े छीन लिए परंतु यह पाया नहीं जाता कि अमीशाह कौन और कहां का था ।

मेवाड़ के भिन्न भिन्न इतिहास लेखकों में से कर्नल टॉड ने तो अमीशाह का नाम तक नहीं दिया किंतु यह लिखा है कि 'खेतसी ( क्षेत्रसिंह ) ने बाकरोल के पास देहली के बादशाह हुमायूँ को परास्त किया[1], परंतु महाराणा क्षेत्रसिंह का देहली के बादशाह हुमायूँ से लड़ना सर्वथा असंभव है क्योंकि हुमायूँ की गद्दीनशीनी हि० सन् ९३७ ( वि० सं० १५८७ ) में और उक्त महाराणा की वि० सं० १४२१ में हुई थी । टॉड की इस भूल का कारण यही अनुमान होता है कि बादशाह हुमायूँ का नाम प्रसिद्ध होने के कारण भाटों ने अमीशाह को हुमायूँशाह लिख दिया हो और उसीपर भरोसा कर टॉड ने उसे देहली का बादशाह मान लिया हो । कर्नल टॉड को क्षेत्रसिंह और हुमायूँ की गद्दीनशीनी के संवत् भली भाँति ज्ञात थे परंतु लिखते समय मिलान न करने से ही यह अशुद्धि हुई । महाराणा क्षेत्रसिंह और अमीशाह के बीच की लड़ाई बाकरोल के पास नहीं किंतु चित्तौड़ के निकट हुई थी[2]।

महामहोपाध्याय कविराजा श्यामलदास जी ने अपने वीरविनोद में लिखा है कि—

> 'इन महाराणा ( क्षेत्रसिंह ) के पोते महाराणा मोकल और परपोते महाराणा कुम्भा, और कुम्भा के पुत्र रायमल्ल के समय की प्रशस्तियों में...

---

(१) टॉड; राजस्थान, जि० १, पृ० ३२१ ।

(२) महाराणा क्षेत्रसिंह की अमीशाह के साथ की लड़ाई चित्तौड़ के निकट हुई यह मानने का कारण यह है कि मेवाड़ के शिलालेखों में उक्त महाराणा की मुसलमानों के साथ एक ही लड़ाई ( जो अमीशाह के साथ हुई ) का होना लिखा मिलता है । महाराणा कुंभा के बनवाए हुए चित्तौड़ के कीर्ति-

इनका अशाहती को फ़तह करके गिरफ्तार करना लिखा है-हमने बहुतसी फ़ार्सी तवारीख़ों में ढूँढा, लेकिन इस नाम का कोई बादशाह उस ज़मानह में नहीं पाया गया; और प्रशस्तियों का लेख भी झूठा नहीं हो सक्ता, क्योंकि वे उसी ज़माने के करीब की लिखी हुई हैं। यदि यह ख़याल किया जावे, कि लिखने वाले ने अहमदशाद गुजराती को बिगाड़कर अमीशाह बना लिया, तो यह असम्भव है क्योंकि अव्वल तो गुजरात और मालवे की बादशाहत की बुनयाद भी उस वक़्त तक नहीं पड़ी थी, और अहमदशाह क्षेत्रसिंह के पोते मोकल के समय में गुजरात का बादशाह बना था; शायद फ़ीरोज़शाह तुग़लक़ के ख़िताब में अहमद का लफ़्ज़ हो, और उसको बिगाड़कर पंडितों ने अमीशाह बना दिया हो तो आश्चर्य नहीं; अथवा अफ़ग़ानिस्तान तुर्किस्तान, व ईरान की तरफ़ कोई अहमदशाह हुआ हो और वह गुजरातियों की मदद के लिये आया हो क्योंकि उन लोगों की आमदरफ़्त सिन्ध देश और गुजरात की तरफ़ होती रही है; अथवा दिल्ली के बादशाह के शाहज़ादे या भाई का नाम अहमदशाह हो जिसको बादशाह ने सेनापति बनाकर राजपूतानह की तरफ़ भेजा होगा; वर्नह मेवाड़ से दक्षिणी हिन्दुस्तान की तरफ़ तो उस समय में मुसलमानों की कोई मज़बूत बादशाहत काइम नहीं हुई थी, सिर्फ़ एक बीजापुर की बादशाहत का बानी अलाउद्दीन गांगू हसन बहमनी इन महाराणा के राज्य के बाद दक्षिण का हाकिम बना था। इससे मालूम होता है, कि अमीशाह या अहमदशाह नाम का कोई बादशाह उस ज़मानह में नहीं था, शायद कोई दूसरा नाम बिगड़कर अमीशाह हुआ हो, तो तअ़ज्जुब नहीं; लेकिन महाराणा क्षेत्रसिंह ने अमीशाह को फ़तह करके गिरिफ़्तार किया, इस बात में संदेह नहीं है’[१]।

इस कथन से भी अमीशाह का निश्चय न हुआ।

---

स्तंभ की वि० सं० १५१७ की प्रशस्ति में लिखा है कि क्षेत्रसिंह ने चित्रकूट के निकट यवनों की सेना का संहार कर उसे पाताल में भेज दिया—

येनानर्गलभल्लदीर्णहृदया श्रीचित्रकूटांतिके
तत्तत्सैनिकघोरवीरनिनदप्रध्वस्तधैर्योदया।
मन्ये यावनवाहिनी निजपरित्राणस्य हेतोरलं
भूनिक्षेपमिषेण भीपरवशा पातालमूलं ययौ ॥ २२ ॥

कीर्तिस्तंभ की प्रशस्ति—अप्रकाशित।

(१) वीरविनोद, भाग १ पृ० ३०१–२।

बाबू रामनारायण दूगड ने अपने 'राजस्थान रत्नाकर' में लिखा है कि—

'महाराणा रायमल्ल की सं० १५४५ वि० ( स० १४८८ ई० ) की एकलिंगजी के मंदिर की प्रशस्ति में चेत्रसिंह के वर्णन में लिखा है कि "योमीसाहिमहाहिगर्वगरलं मूलादवादीदहत्" आदि अर्थात् अमीसाहिरूपी सर्प के गर्वगरल का गंजन किया, उसके गढ़ उजाड़े ( ? ) योद्धों को पराजित किये और खज़ाना लूटा। हम नहीं कह सक्ते कि अमीसाह कौन था, वह मालवे व गुजरात के सुल्तानों में से तो हो नहीं सक्ता क्योंकि गुजरात का पहला सुल्तान मुज़फ़्फ़रशाह स० १३९१ ई० में और मालवे का दिलावरशाह स० १३८७ ई० में महाराणा चेत्र की मृत्यु के पीछे स्वतन्त्र बादशाह हुए थे। शायद मालवे के सुलतान महमूद ख़िल्जी का पिता आज़म हुमायूँ हो'[1]।

यह कथन भी ठीक नहीं है क्योंकि आज़म हुमायूँ, जिसको मलिक मूघीस या ख़ाँजहां ख़िलजी कहते थे और जो मालवे के ख़िलजी सुलतान हुशंग का भतीजा ( या भानजा ) था हि० स० ८१२ ( वि० सं० १४६६ ) के आसपास हुशंग का वज़ीर बना था[2] किंतु महाराणा चेत्रसिंह का देहांत वि० सं० १४३९ में हुआ इस लिए वह उक्त महाराणा का समकालीन नहीं हो सकता और न उसका नाम अमीशाह होना कहीं लिखा मिलता है।

महाराणा कुंभा ( कुंभकर्ण ) के समय के बने हुए 'एकलिंग माहात्म्य' में कुंभा के मालवा के सुलतान महमूद ख़िलजी को जीतने के प्रसंग में लिखा है कि 'जैसे पहले राजा चेत्र ( चेत्रसिंह ) ने रणखेत में मालवा के स्वामी अमीसाह को पीट (हरा) कर विजय प्राप्त की थी वैसे ही श्री कुंभ ( कुंभकर्ण ) ने हस्तिसैन्यवाले मालवा के स्वामी महमद ( महमूद ) ख़िलिची ( ख़िलजी ) को युद्ध में जीता'[3] इससे इतना तो निश्चय हो गया कि अमीशाह मालवे का स्वामी था।

---

(१) राजस्थान रत्नाकर, प्रथम भाग, तरंग २, पृ० ७०।

(२) ब्रिग; फ़िरिश्ता; जि० ४, पृ० १७४, १८६।

(३) अमीसाहं हत्वा रणभुवि पुरा मालवपतिं
जयोत्कर्षं हर्षादलभत किल चेत्रनृपतिः।

फ़िरिश्ता ने अपनी लिखी हुई तवारीख में मालवा के सुलतानों का विस्तृत इतिहास लिखा है जिसमें वहाँ के सुलतानों की नामावली में अमीशाह का नाम कहीं नहीं है परंतु शेख़ रिज़कुल्ला मुश्ताक़ी की बनाई हुई 'वाक़ेआत-ई-मुश्ताक़ी'[1] से पाया जाता है कि **मांडू (मालवा) के पहले सुलतान दिलावरखाँ ग़ोरी का मूल नाम अमीशाह था,** क्योंकि वह लिखता है कि 'एक दिन एक व्यापारी बड़े साथ (कारवाँ) सहित आया। अमींशाह ने अपने दस्तूर के मुवाफ़िक़ जब उससे महसूल माँगा तब उसने कहा कि मैं सुलतान फ़ीरोज़ का, जिसने कर्नाल के क़िले को दृढ़ किया है, सौदागर हूँ और वहीं अन्न ले जा रहा हूँ। इस पर अमींशाह ने उत्तर दिया कि तुम कोई भी हो तुमको नियम के अनुसार महसूल

---

तथैव श्रीकुंभः खिलिचिमहमंदं गजघटा-
वृतं संख्येजैषीन्नहि...लजः कोप्य सदृशः ॥

'एकलिंगमाहात्म्य', राजवर्णन अध्याय, श्लो० १५६। ऊपर पृ०—२२ टिप्पण २ में कुंभलगढ़ की प्रशस्ति से महाराणा क्षेत्रसिंह के अमीशाह को जीतने का उल्लेख किया गया है। उसी प्रशस्ति के श्लोक २०० में यह भी लिखा है कि मालवे का स्वामी शकपति (मुसलमानों का स्वामी, सुलतान) उस (क्षेत्रसिंह) से ऐसा पिटा कि मानों भयभीत होकर स्वप्न में भी उसी को देखता है—

शस्त्राशस्त्रिहताजिलंपटभटव्राताेच्छलच्छोणित-
च्छन्नप्रोद्गतपांशुपुंजविसरप्रादुर्भवत्कर्दमं ।
त्रस्तः सामि हतो रणे शकपतिर्यस्मात्तथा मालव-
क्ष्मापोद्यापि यथा भयेन चकितः स्वप्नेपि तं पश्यति ॥ २०० ॥

कुंभलगढ़ की प्रशस्ति ।

उक्त प्रशस्ति में अमीशाह का नाम इस श्लोक के दो श्लोकों के बाद आने से यह संदेह रह जाता है कि मालवे का स्वामी और अमीशाह दो भिन्न व्यक्ति थे या एक ही, परंतु 'एकलिंगमाहात्म्य' से स्पष्ट हो गया कि वे दोनों एक ही व्यक्ति के सूचक हैं।

(1) रिज़कुल्ला मुश्ताकी का जन्म हि० स० ८९७ (वि० सं० १५४८) में और देहांत हि० स० ९८९ (वि० सं० १६३८) में हुआ, इसलिये उसकी तवारीख उक्त दोनों सनों (संवतों) के बीच किसी समय बनी होगी।

देकर ही जाना होगा । व्यापारी ने फिर उससे कहा कि मैं सुलतान के पास जा रहा हूँ, यदि तुम महसूल छोड़ दो तो मैं सुलतान से तुमको मांडू का इलाका तथा घोड़ा और ख़िलअ़त दिलाऊँगा। तुम इसको अच्छा समझते हो वा महसूल को? अमींशाह ने उत्तर दिया कि यदि ऐसा हो तो मैं सुलतान का सेवक होकर उसकी अच्छी सेवा बजाऊँगा । फिर उसने उस व्यापारी को जाने दिया । उसने सुलतान के पास पहुँचने पर अर्ज़ किया कि अमींशाह मांडू का एक ज़मींदार है और सब रास्ते उसके अधिकार में हैं। यदि आप उसको मांडू ( मालवे ) का इलाका, जो बिलकुल ऊजड़ है, बख़्श कर फ़रमान भेजें तो वह वहाँ पर शांति स्थापित करेगा। सुलतान ने उसीके साथ घोड़ा और ख़िलअ़त भेजा जिनको ले वह अमींशाह के पास पहुँचा और उन्हें नज़र कर अपनी तरफ़ की भक्ति प्रकाशित की। उसी दिन से अमींशाह पैदल चलना छोड़ कर घोड़े पर सवार होने लगा । उसने अपने मित्रों को भी घोड़े दिए, रिसाला भरती किया और मुल्क को आबाद किया । उसकी मृत्यु के पीछे उसका पुत्र होशंग उसका उत्तराधिकारी और वहाँ का सुलतान हुआ[१] ।' फिरिश्ता आदि तवारीखों में हुशंग ( अल्पखाँ ) को दिलावरखाँ गोरी का पुत्र कहा है इसलिये दिलावरखाँ का ही दूसरा, या सुलतान होने के पहले का, नाम अमींशाह होना पाया जाता है जिसकी पुष्टि बादशाह जहाँगीर भी करता है ।

बादशाह जहाँगीर अपनी दिनचर्या की पुस्तक 'तुज़क-इ-जहाँगीरी, में धार ( धारा नगरी ) के प्रसंग में लिखता है कि '**अमीदशाह गोरी ने जिसको दिलावरखां कहते थे** और जिसका देहली के सुलतान फीरोज़ ( तुग़लक़ ) के बेटे सुलतान मुहम्मद के समय मालवे पर पूरा अधिकार था, किले के बाहर जामे मसजिद बनाई थी[२] ।' तुज़क-इ-जहाँगीरी में दिलावरखाँ का दूसरा नाम अमी-

---

(१) इलियट; हिस्टरी ऑफ इंडिया, जि० ४, पृ०५५२ ।

(२) अलेकज़ैंडर रॉजर्स का 'तुज़क-इ-जहाँगीरी' का अंग्रेज़ी अनुवाद, जि० १ पृ० ४०७ ( हेन्री बेजरिज संपादित )।

शाह नहीं किंतु अमीदशाह मिलता है यह फारसी की वर्णमाला का दोष ही है। अनुमान होता है कि 'नू' की जगह लेखकदोष से 'दाल' लिखे जाने के कारण अमींशाह का अमीदशाह हो गया हो परंतु शुद्ध नाम अमींशाह होना चाहिए क्योंकि ऊपर लिखे हुए मेवाड़ के चार शिलालेखों में अमीसाह या अमीसाहि पाठ मिलता है जो अमींशाह नाम का ही संस्कृत रूप है।

फीरोज़शाह तुग़लक हि० स० ७५२ से ७९० ( वि० सं० १४०८ से १४४५) तक देहली का सुलतान था और महाराणा क्षेत्रसिंह का देहांत वि० सं० १४३९ में हुआ। इसलिये फीरोज़शाह ने जिस अमींशाह को मालवे का अधिकारी नियत किया था उस अमींशाह ( दिलावरखाँ गोरी ) का उक्त महाराणा का समकालीन होना निश्चित है।

# ३—मध्यदेश का विकास ।

[लेखक—श्रीयुत धीरेंद्र वर्मा, एम० ए०, इलाहाबाद]

मध्यदेश शब्द वेद की संहिताओं में कहीं नहीं आता । ऋग्वेद संहिता में मध्यदेश नाम का न आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। बाद को जो भूमिभाग मध्यदेश कहलाया, कुछ विद्वानों के मत में, वहाँ पर ऋग्वेदकाल में समुद्र बह रहा था[1]। ऐतिहासिक मत के अनुसार ऋग्वेद काल में आर्य लोगों का कर्मक्षेत्र पंजाब की भूमि था[2] । वे सरस्वती नदी से पूर्व में अधिक नहीं बढ़े थे । ऋग्वेद में गंगा[3] का नाम केवल एक स्थान पर आता है । यजुर्वेद संहिता में 'काम्पील-वासिनी' अर्थात् कांपील की रहनेवाली, यह शब्द एक मंत्र में सुभद्रा नामक किसी स्त्री के विशेषण की तरह आया है[4]। कुछ यूरोपियन विद्वान् समझते हैं कि यहाँ कांपिल्य नगर से अभिप्राय है जो बाद को दक्षिण पंचालों की राजधानी हुआ[5] । कांपील नगर फ़रुख़ाबाद के निकट गंगा के किनारे बसा था । इसका तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद-काल में आर्य लोग कुछ और आगे बढ़ आए थे । अथर्ववेद संहिता में अंग और मगध के लोगों का नाम आया है[6] अर्थात् आर्यलोग उस समय तक प्रायः समस्त उत्तर भारत में फैल चुके थे । आश्चर्य है कि मध्यदेश शब्द अथर्ववेद संहिता में भी कहीं नहीं आता । ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद संहिता कुछ मूल्य नहीं रखती । इसका अधिकांश सोमयाग में गाने के लिये ऋग्वेद का संग्रह मात्र है ।

---

(१) ऋग्वेदिक इंडिया, भाग १, अध्याय १-४—अविनाशचंद्र दास ।

(२) हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १४५—ए० ए० मेकडानेल ।

(३) ऋग्वेद संहिता १०, ७५, ५ ।

(४) शुक्ल यजुर्वेद संहिता, २३, १८ ।

(५) वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृष्ठ १४९—मेकडानेल और कीथ

(६)-अथर्ववेद संहिता, ५,२२, १४ ।

मध्यदेश का द्योतक सब से प्रथम वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है[1] । वर्णन से यह स्पष्ट है कि तात्पर्य मध्यदेश से ही है यद्यपि 'मध्यदेश' इन शब्दों का प्रयोग वहाँ भी नहीं हुआ है । यह वर्णन मध्यदेश नाम के शब्दार्थ और देश विशेष के लिये प्रयोग करने के कारण को भी स्पष्ट करता है ।

ऐतरेय ब्राह्मण के अंतिम भाग में कई राजाओं की अभिषेक-विधि दी है। इसी संबंध में ऐंद्र महाभिषेक का महत्व बताते हुए एक कथा दी है कि एक बार प्रजापति ने इंद्र का अभिषेक किया और उसके बाद प्रत्येक दिशा के स्वामी ने भी अपनी अपनी ओर से पृथक् पृथक् अभिषेक किया । लिखा है कि अब भी इन दिशाओं के राजाओं के अभिषेक इस पूर्व पद्धति के अनुसार भिन्न भिन्न रूप से होते हैं । पूर्व दिशा में प्राच्य लोगों के राजा अभिषिक्त होने पर अब भी सम्राट् कहलाते हैं । दक्षिण दिशा के सत्वन् लोगों के राजा भोज कहलाते हैं । पश्चिम दिशा के नीच्य व अपाच्य लोगों के राजा स्वराट् कहलाते हैं । उत्तर दिशा में हिमालय के परे उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र के जनपद विराट् कहलाते हैं । और **इस ध्रुव और प्रतिष्ठित मध्यम दिशा में जो ये कुरु-पंचालों और वश उशीनरों के राजा हैं इनका अभिषेक राज्य के लिये होता है और अभिषिक्त होने पर ये राजा कहलाते हैं ।"**

इस वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं । प्रथम मध्यदेश नाम अपने शब्दार्थ 'बीच का देश' में सब से पहले प्रयुक्त हुआ होगा । बीच से तात्पर्य आर्यों से बसे भूमिभाग अर्थात् आर्यावर्त्त के बीच के देश से है । यह आर्यावर्त्त मनुस्मृति के आर्य्यावर्त्त से छोटा रहा होगा । इसका प्रमाण भी सूत्र ग्रंथों में मिलता है । दूसरे,

---

(१) ऐतरेय ब्राह्मण ३८, ३। मेकडानेल के मतानुसार ब्राह्मण ग्रंथों का समय लगभग वि० पू० ८४७ से वि० पू० ५४७ तक माना जा सकता है।

मध्यदेश संबंधवाची शब्द है, अतः ज्यों ज्यों आर्यों के वासस्थान का विकास हुआ होगा त्यों त्योंही मध्यदेश से द्योतित भूमिभाग की सीमाएँ भी बढ़ती गई होंगी। यह बात भी आगे के प्रमाणों से प्रमाणित होती है[1]।

---

(१) मनुस्मृति, २, २२ "पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक और उन्हीं (अर्थात् हिमालय और विंध्य) पर्वतों के बीच के देश को विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं।" तथा बौधायन धर्मसूत्र, १, १, २,९; वसिष्ठ धर्मसूत्र १, ८—"अदर्शन से पूर्व में, कालक वन से पश्चिम में, हिमालय से दक्षिण में और पारियात्र से उत्तर में आर्यावर्त्त है।"

इन्हीं सूत्रग्रन्थों में कुछ और भी मत दिए हैं जिनसे मालूम होता है कि मध्यदेश के समान आर्यावर्त्त का भी विकाश हुआ। ऊपर दी हुई सीमाएँ तो मनुस्मृति के मध्यदेश से मिलती हैं। आगे कहा है कि कुछ के मत में गंगा और यमुना के बीच का देश आर्यावर्त्त है, कुछ के मत में विंध्य के उत्तर का सारा देश—यह मनुस्मृति के आर्यावर्त्त से मिलता है। कुछ लोगों का मत है कि जहाँ कृष्ण मृग घूमता है वह भूमिभाग आर्यावर्त्त है। जो हो आर्यावर्त्त के तीन रूप तो स्पष्ट ही हैं।

वसिष्ठ धर्मसूत्र में 'अदर्शन' के स्थान पर एक दूसरा पाठ 'आदर्शन' भी मिलता है। महाभाष्य में (सूत्र २. ४, १० के भाष्य पर) आर्यावर्त्त की पश्चिमी सीमा को 'आदर्श' लिखा है। बूलर का मत है (सेक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट, भाग १४, पृष्ठ २) कि आदर्श सब से पुराना और शुद्ध पाठ है। आदर्श के अशुद्ध पाठ क्रम से आदर्शन और अदर्शन हुए। बाद को अदर्शन अर्थ के वाचक विनशन शब्द का प्रयोग होगया जो मध्यदेश की पश्चिमी सीमा मानी गई।

अदर्शन या विनशन से तात्पर्य सरस्वती नदी के रेगिस्तान में नष्ट होने के स्थान से है। यह पटियाला रियासत के दक्षिण में पड़ता है। आदर्श के संबंध में कई मत हैं। कुछ उसे मारवाड़ की संगमरमर की पहाड़ी बताते हैं और उसका बिगड़ा हुआ रूप अरावली (आदर्शावलि) मानते हैं। कुछ पंजाब के सेंधे नमक के पर्वत को आदर्श पर्वत बताते हैं जो सिंधु और झेलम नदियों के बीच में है। कुछ आदर्श पर्वत को कांगड़े के निकट अनुमान करते हैं।

कालकवन के संबंध में भी कई मत हैं। कुछ कनखल के निकट कालकवन बताते हैं (इं० एं०, भाग ३४, पृष्ठ १७९)। कुछ प्रयाग के निकट के प्राचीन बन को, जिसका उल्लेख रामायण में हुआ है (इं० एं० १९२१, पृष्ठ १२०, नोट २०)। कुछ राजगृह के निकट के वन को (कुंटे—विसिसिट्यूड्स आव आरियन सिविलिजेशन इन इंडिया, पृष्ठ ३८०)।

पारियात्र को प्रायः सब लोग विंध्य पर्वत का मालवा के निकट का भाग बताते हैं यद्यपि कुछ सिवालिक पर्वत को भी पारियात्र मानते हैं।

तीसरे, उस समय मध्यदेश में निम्नलिखित लोग गिने जाते थे—कुरु-पंचाल, वश और उशीनर। कुरु-पंचाल तो प्रसिद्ध ही हैं। वश और उशीनर मैकडानेल के मतानुसार कुरु लोगों से उत्तर की ओर हिमालय की तराई में बसते थे[1]। अत: पश्चिम में प्राय: कुरुक्षेत्र से लेकर पूरब में फ़र्रुख़ाबाद के निकट तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में प्राय: चंबल नदी तक का[2] आर्यावर्त्त देश ऐतरेय ब्राह्मण के समय में मध्य में गिना जाता था अर्थात् मध्य-देश कहलाता था।

मध्यदेश के चारों ओर के शेष आर्यावर्त्त का भी स्पष्ट वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के इस उद्धृत अंश में दिया ही है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पूर्व के सम्राटों से तात्पर्य अयोध्या और प्रतिष्ठानपुर के प्राचीन सूर्य और चंद्रवंशी महाराजाओं से है या ऐतिहासिक काल के मगध के सम्राटों से। दक्षिण दिशा में मालवा के भोज राजा तो निकट ऐतिहासिक समय में भी प्रसिद्ध रहे हैं। पश्चिम के नीच्य और अपाच्य लोगों के नाम वैदिक काल के बाद नहीं पाए जाते। हिमालय के परे उत्तर कुरु और उत्तर मद्र के जनपदों के नाम ऐतिहासिक काव्यों में[3] केवल कथारूप में मिलते हैं। यहाँ यह

---

(१) वैदिक इंडेक्स, भाग १ के आरंभ में दिया मानचित्र देखिए। इंडियन ऐंटिक्वेरी १९०५, पृष्ठ १७९ में कथासरित्सागर के आधार पर उशीरगिरि पर्वत को कनखल के उत्तर में गंगोत्री के निकट माना है। लेखक ने अनुमान किया है कि शब्द-सादृश्य के आधार पर उशीनर लोगों का संबंध इस भूमि भाग से हो सकता है।

(२) पंचाल की दक्षिण सीमा महाभारत में चंबल नदी मानी गई है।

(३) महाभारत और पुराणों में हिमालय के उत्तर के देशों से आने जाने की कथाएं प्राय: आई हैं, किंतु ये कहाँ तक ऐतिहासिक गिनी जा सकती हैं इसमें संदेह है। हिमालय के उत्तर में देवताओं की भूमि है इस विचार से तो प्रकट होता है कि इन देशों से निकट संबंध छूट गया था। बौद्धकाल में एक बार फिर हिमालय के उत्तर के देशों से आना जाना होने लगा लेकिन वे भारत के भाग नहीं गिने गए।

बात ध्यान देने योग्य है कि जनपद शब्द केवल इन उत्तर के लोगों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इनकी शासन प्रणाली को विराट् अर्थात् बिना राजा की कहा गया है। हिमालय के उत्तर के देशों से निकट संबंध कदाचित् वैदिक काल के बाद बिलकुल बंद हो गया, अतः बाद को आर्यावर्त्त और मध्यदेश दोनों की उत्तरी सीमा हिमालय हो गई। यौगिक मध्यदेश शब्द धीरे धीरे रूढि शब्द हो गया। लौकिक व्यवहार में भी शब्दों के अर्थों में ऐसा हेरफेर अक्सर पाया जाता है। एक बार मंझला लड़का कहलाने पर वह सदा मंझला ही कहलाता है, चाहे कुछ समय के अनंतर उसका छोटा या बड़ा भाई न भी रहे।

मध्यदेश का प्रथम स्पष्ट और प्रसिद्ध वर्णन मनुस्मृति में आया है। धर्मानुष्ठान के योग्य देशों का वर्णन करते हुए[1] सब से प्रथम गणना ब्रह्मावर्त्त देश की की है। यह सरस्वती और

---

(१) मनुस्मृति, २, १७–२४। बूलर के मत के अनुसार मनुस्मृति का संकलन संवत् २५७ के लगभग हुआ। परंतु मनुस्मृति मानवधर्म सूत्रों के आधार पर लिखी मानी गई है अतः उसके मुख्य अंशों को सूत्रकाल का (जिसका आरंभ मैकडानेल मतानुसार वि० पू० ५५७ में हुआ था) मानना अनुचित न होगा। वसिष्ठ धर्मसूत्र १, ९, में आर्यावर्त्त के संबंध में एक मत दिया है कि वह विंध्य के उत्तर में है। यह कदाचित् मानवधर्मसूत्र का मत होगा क्योंकि मनुस्मृति में भी यह मिलता है। मनुस्मृति के देशों के वर्णन की प्राचीनता इससे स्पष्ट होती है। अतः मैंने मनुस्मृति के मध्यदेश के वर्णन को विनयपिटक के वर्णन से पहले रक्खा है। राइज़ डेविडज़ (ज० रा० ए० सो० १९०४, पृष्ठ ८३) का मत है कि बौद्धधर्म के केंद्र मगध इत्यादि देशों को पृथक् कर देने के लिये मनुस्मृति के लेखक ने मध्यदेश की सीमा प्रयाग तक रक्खी है। मैं ऊपर दिए हुए कारणों से मनुस्मृति के वर्णन को बौद्धधर्म के प्रचार से प्राचीन मानता हूँ अतः मनुस्मृति के संबंध में राइज़ डेविडज़ के इस मत को मानने को उद्यत नहीं हूँ।

दृषद्वती * नदी के बीच का भूमिभाग है। दूसरे स्थान पर ब्रह्मर्षि देश बतलाया गया है। इसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन गिनाए गए हैं। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो ब्रह्मर्षि देश में ब्रह्मावर्त्त आजाता है अर्थात् ब्रह्मावर्त्त ब्रह्मर्षिदेश का सबसे अधिक पवित्र भाग है, अतः पश्चिम में इन दोनों की सीमा सरस्वती ही होगी बाक़ी तीन ओर ब्रह्मर्षिदेश अधिक फैला हुआ था। दूसरे, ऐतरेय ब्राह्मण के मध्यदेश और मनुस्मृति के ब्रह्मर्षिदेश दोनों में कुरु-पंचाल गिनाए गए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर के वश और उशीनर भी हैं। मनुस्मृति में उनका समावेश नहीं है किंतु उनके स्थान पर दक्षिण के मत्स्य और शूरसेन देश हैं। ब्रह्मर्षिदेश के बाद मध्यदेश गिनाया गया है। इसकी सीमाएँ यों दी हैं—"हिमालय और विंध्य के मध्य में और विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम में जो है वह मध्यदेश कहलाता है।"[1]

---

* व्याकरण में पूर्वी और उत्तरी महाविरों का भेद है। पाणिनि ने उदीचां और प्राचां के कई भेद गिनाए हैं। इन दोनों का देश भेद बतलाने के लिये काशिका में एक पुरानी गाथा उद्धृत की हुई मिलती है कि जैसे हंस दूध पानी को बिलगाता है वैसे ही जो शब्दों की साधुता के लिये पूर्व और उत्तर को विभाग करती है वह शरावती नदी हमारी रक्षा करे। वैयाकरणों के यहाँ पाठ बिगड़ने से तथा पूर्व उत्तर की सीमा सदा के लिये निर्दिष्ट न होने से शरावती, दृषद्वती और सरस्वती तीनों नदियां पाठांतरों में यहाँ पढ़ी जाती हैं। भाषाभेद पर लक्ष्य रक्खें तो ये नदियाँ सीमा प्रांत पर होनी चाहिएं, और पंजाब पर वाहीकों के आक्रमणों से वहां की भाषा का बिगड़ना मानें तो कुरुक्षेत्र की सीमा ही उत्तर तथा पूर्व की सीमा माननी होगी। [ सं० ]

(१) मनुस्मृति, २, २१। संभव है कि मनुजी के इसी वाक्य "विनशन से प्रयाग तक" के आधार पर ही प्रयाग में सरस्वती के अंतर्धान रूप में मिलने की कल्पना उठी हो। तीन वेणियां तो बिना सरस्वती का संगम माने ही पूरी हो जाती हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण और मनुस्मृति के मध्यदेश में बहुत अंतर हो गया है। उत्तर की सीमा में अधिक अंतर नहीं आया है। दोनों जगह हिमालय ही सीमा है यद्यपि वश और उशीनर का नाम मनुस्मृति में नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन में दक्षिण के भोज लोग मध्यदेश के बाहर गिने गए हैं। यदि भोज लोगों का देश अवंती अर्थात् मालवा मान लिया जाय तो यह मनुस्मृति के मध्यदेश में आ गया क्योंकि अवंती विंध्य पर्वत के उत्तर में है। पश्चिम और दक्षिण के कोने में शूरसेन और मत्स्य बढ़ गए। ब्रह्मर्षि देश में गिने जाने के कारण ये मध्यदेश में स्वभावतः आ ही गए। पूरब में मध्यदेश की सीमा फ़र्रुख़ाबाद के निकट से हटकर प्रयाग पर आगई। यदि प्रयाग से उत्तर और दक्षिण में सीधी लकीर खींची जाय तो प्रायः संपूर्ण कोशलदेश और वत्स व चेदि के भूमिभाग भी मध्यदेश की सीमा के अंदर आ जाते हैं। अतः मनुस्मृति के वर्णन से स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के काल से इस समय मध्यदेश का बहुत अधिक विकास हो गया था। ब्राह्मण और सूत्रकाल में जो आर्यावर्त्त था वह अब मध्यदेश होगया था और आर्यावर्त्त तो अब समस्त उत्तर भारत—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक और हिमालय तथा विंध्य के बीच का भूमिभाग—कहलाता था। मनुस्मृति काल में आर्यावर्त्त और मध्यदेश दोनों की उत्तर और दक्षिण की सीमाएँ हिमालय और विंध्य की पर्वतश्रेणियाँ थीं। इसका तात्पर्य्य यह है कि मध्यदेश का शब्दार्थ भुलाया जा चुका था। हिमालय के उत्तर के देश तो बहुत दिनों से आर्यावर्त्त में नहीं गिने जाते थे। विंध्य के दक्षिण में आर्य लोग उस समय तक भली प्रकार नहीं बस पाये होंगे। पंजाब का देश आर्यावर्त्त में फिर गिना जाने लगा था। पूर्व में तो समुद्र तक आर्यों का पूर्ण प्रभुत्व हो गया था। भारतवर्ष का वर्णन मनुस्मृति में नहीं है। बाद की स्मृतियों तथा अन्य संस्कृत ग्रन्थों में भारतवर्ष का स्थान प्रधान हो गया है।

मध्यदेश की तीसरी अवस्था का वर्णन विनय पिटक[1] में मिलता है। मनुस्मृति के समान यहाँ भी मध्यदेश की सीमाएँ ठीक ठीक दी गई हैं। यह प्रसंग इस प्रकार उठा है। बौद्धधर्म की दीक्षा लेने के लिये नियम था कि दस भिक्षु उपस्थित होने चाहिएँ। किंतु दूर देशों में, जहाँ अभी बौद्धधर्मानुयायी अधिक नहीं थे, दस भिक्षुओं का सदा मिलना सुलभ न था अतएव बौद्धधर्म के प्रचार में बाधा पड़ती थी। ऐसी ही कठिनता प्रसिद्ध बौद्धधर्मोपदेशक महाकात्त्यायन को दक्षिण-अवन्ति में पड़ी। महाकात्त्यायन ने इस संबध में बुद्ध भगवान् से कहला भिजवाया। तब बुद्ध भगवान् ने नियम में इतना नियंत्रण कर दिया कि दस भिक्षुओं का नियम केवल मध्यदेश के लिये हो, बाहर के देशों में केवल चार भिक्षुओं की उपस्थिति पर्याप्त समझी जावे। इसी स्थान पर बुद्ध भगवान् ने मध्यदेश की सीमाएँ भी गिनाई हैं जो पिटक में यों दी हैं। पश्चिम में ब्राह्मणों का थून प्रदेश, पूरब मेँ कजंगल नगर के आगे महासाला, दक्षिणपूर्व मेँ सलिलवती नदी, दक्षिण में सेतकन्निक नगर और उत्तर में उसीरधज पर्वत। उत्तर और दक्षिण के ये स्थान आजकल कहाँ पड़ते हैं इसका ठीक निर्णय अभी नहीं होसका है। उत्तर में हिमालय के बाहर सीमा का जाना दुस्तर है[2] दक्षिण मेँ विंध्य ही सीमा मालूम होती है क्योंकि दक्षिण

---

(१) महावग्ग, ५, १३, १२। अनुवाद के लिये देखिए सेक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट—मैक्स मूलर, जिल्द १७, पृष्ठ ३८। प्रोफ़ेसर ओल्डेनबर्ग के मतानुसार ( ज० रा० ए० सो० १९०४, पृष्ठ ८३ ) मध्यदेश का यह वर्णन विक्रम से ४५७ वर्ष पूर्व का है।

(२) जातक, ३, ११५, में दिया है कि भिक्षु लोग हिमालय से मध्यदेश में उतरने से डरते थे क्योंकि यहाँ के लोग बहुत विद्वान् थे।

इं० एं० १९०५, पृष्ठ १७९, में उसीरधज को कनखल के उत्तर में उशीरगिरि पर्वत अनुमान किया है। कथासरित्सागर के आधार पर उशीरगिरि गंगोत्री के निकट था।

अवंति और उड़ीसा मध्यदेश के बाहर थे[1]। ब्राह्मणों का ज़िला थून आज कल का स्थानेश्वर अनुमान किया गया है[2]। यह अनुमान ठीक ही मालूम पड़ता है क्योंकि यहाँ का निकटवर्त्ती देश अति प्राचीनकाल से मध्यदेश की पश्चिम की सीमा रहा है। पूर्व में कजंगल[3] भागलपुर से ७० मील पूर्व में माना गया है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति के मध्यदेश को ध्यान में रखते हुए बौद्धकाल का मध्यदेश पूरब में बहुत आगे तक बढ़ गया था। एक तरह से वह प्रायः दुगना हो गया था। भारतीय सभ्यता का केंद्र उस समय विहार की भूमि हो रही थी और उसका भी मध्यदेश में गिना जाना कुछ आश्चर्यजनक नहीं। प्राचीन आर्य सभ्यता के साथ ही आर्यावर्त्त शब्द का लोप हो चुका था अतः बौद्धकाल का मध्यदेश आर्यावर्त्त का मध्यदेश नहीं होगा किन्तु भारत का मध्यदेश होगा। एक प्रकार से वह आर्यावर्त्त का मध्यदेश भी कहा जा सकता है क्योंकि यथार्थ में आर्य सभ्यता विंध्य पर्वत के दक्षिण में प्रायः कृष्णा नदी तक फैल चुकी थी अतः उन भागों की आर्यावर्त्त में गिनती होनी चाहिए थी, यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता है। गुजरात और महाराष्ट्र को या कृष्णा के दक्षिण भाग को भी अनार्य देश कौन कह सकता है? सच पूछिये तो प्राचीन आर्य जीवन और सभ्यता का सब से अधिक निकटवर्त्ती चित्र यदि कहीं देखने को मिल सकता है तो वह सुदूर दक्षिण में मिलेगा। सदाचार के केंद्र, आदर्श चरित्र के मूलस्थान, ब्रह्मावर्त्त और ब्रह्मर्षिदेश में तो अब साधारणतया आर्य जीवन के कुछ भी चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होते। उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की भी गिनती आर्यावर्त्त में होनी

---

(१) जातक १, ८० में दो व्यापारियों का वर्णन है जो उक्कल (उत्कल व उड़ीसा) से मज्झिम देस (मध्यदेश) की ओर यात्रा कर रहे थे।

(२) इं० एं०, १९२१, पृष्ठ १२१, नोट २६।

(३) ज० रा० ए० सो०, १९०४, पृष्ठ ८३।

चाहिए। आंध्र और कर्नाटक तथा द्रविड़ देशों पर भी आर्य सभ्यता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। वैसे तो दक्षिण में रामेश्वर और लङ्का तथा भारत के बाहर[1] भी चारों ओर के देशों में भी आर्य लोग पहुँच गए थे और उन्होंने वहाँ पर अपनी सभ्यता की छाप लगा दी थी।

हिन्दू काल में मध्यदेश के अर्थ करने में मनुस्मृति के वर्णन का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। कुछ लेखकों ने तो मनुस्मृति के शब्द प्राय: ज्योंके त्यों उद्धृत कर दिए हैं[2]। कुछ ने उनका सारांश दे दिया है। एक प्रकार से मध्यदेश के विकास की अंतिम अवस्था बौद्ध काल में बीत चुकी थी और अब उसके संकुचित होने के दिन आ रहे थे। देशों के पुराने नाम अब भुलाए जा रहे थे और उनका स्थान धीरे धीरे नये नाम ले रहे थे। पूरब से हट कर अब प्रभुता का केंद्र पश्चिम की ओर आ रहा था। पाटलिपुत्र का स्थान कन्नौज ने ले लिया था*। मध्यदेश की सीमा का पूरब में कम हो जाने का एक यह भी कारण हो सकता है। मार्कंडेय पुराण में विदेह व मगध को मध्यदेश में नहीं गिना है। इसके अनुसार कोशल और काशी के लोगों तक ही मध्यदेश माना गया है। यह घटने की पहली सीढ़ी

---

(१) इं० एं० १९२१, पृष्ठ ११७ में भारत के बाहर के देशों में भारतीय लोगों के जाने का कुछ वर्णन है।

हिंदुइज़्म एंड बुधिज़्म—सर चार्ल्स इलियट, भाग ३। इस-पुस्तक में भारत के बाहर के देशों में बौद्धधर्म के प्रचार का अच्छा वर्णन है। निम्न देशों के संबंध में इस भाग में लिखा गया है—लंका, बर्मा, स्याम, कंबोज, चंपा, जावा व अन्य टापू, मध्य एशिया, चीन, कोरिया, अनाम, तिब्बत, और जापान।

(२) त्रिकांड शेष, २. १८६.
अभिधान चिंतामणि, ९९१ वां श्लोक।
अमरकोश, २. १. ७.

* राजशेखर का वर्णन, देखो पत्रिका भाग २ पृ. १०—११ [सं०]

(३) मार्कंडेय पुराण, ५७. ३३.

है। बृहत्संहिता में काशी और कोशल को भी मध्यदेश के बाहर कर दिया है।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता[1] (संवत् ६४४) का वर्णन अधिक प्रसिद्ध और पूर्ण है। ज्योतिष के संबंध में देशों पर ग्रहों के प्रभाव का वर्णन करने के लिये भारत के देशों का विस्तृत वृत्तांत बृहत्संहिता के चौदहवें अध्याय में दिया है। इसके अनुसार भारतवर्ष में (आर्यावर्त्त में नहीं) देश मध्य, प्राक् इत्यादि भागों में विभक्त हैं। मध्यदेश की सूची में ये नाम प्रसिद्ध हैं, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन और वत्स। कुछ और नाम भी दिए हैं किंतु वे स्पष्ट नहीं हैं। वत्स देश की राजधानी प्रसिद्ध नगरी कौशाम्बी थी जो प्रयाग से ३० मील पश्चिम में बसी थी। अतः बृहत्संहिता के मध्यदेश की सीमा पूर्व में मनुस्मृति के समान प्रयाग तक ही पहुँचती है। यद्यपि बृहत्संहिता में साकेत नगरी को मध्यदेश में गिना है किंतु काशी और कोशल के लोगों को स्पष्ट रूप से पूर्व के लोगों में लिखा है। संस्कृत के अन्य ग्रंथों[2] में भी मध्यदेश का नाम बहुत स्थानों पर आया है किंतु उनमें कुछ विशेष वर्णन न होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया।

कुछ विदेशियों ने भी मध्यदेश की चर्चा अपने ग्रंथों में की है। फ़ाहियान (संवत् ४५७) का वर्णन[3] उल्लेखनीय है। "यहाँ से

---

(१) बृहत्संहिता में आए भूगोलसंबंधी शब्दों की सूची के लिये देखिए इं० एं०, १८९३, पृष्ठ १६९.

(२) महाभारत में बहुत स्थानों पर मध्यदेश का नाम आया है। कोई प्रसिद्ध संस्करण न होने के कारण ठीक पते नहीं दिए हैं। महाभारत युद्ध में आए हुए मध्यदेश के राजाओं के संबंध में देखिए ज० रा० ए० सो० १९०८, पृष्ठ ३२६.

कथासरित्सागर, ३२. १०६ में मध्यदेश के एक राजा का वर्णन आया है। राजतरंगिणी, ६. ३०० में मध्यदेश के लोगों के लिये मंदिर बनवाए जाने का कथन है।

(३) फ़ाहियान (देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला, सोलहवां पर्व, पृष्ठ ३०).

( अर्थात् मताऊल या मथुरा से ) दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम है। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखापढ़ी और पंच पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहे जायँ, जहाँ चाहें रहें। राजा न प्राणदंड देता है न शारीरिक दंड देता है। अपराधी की अवस्थानुसार उत्तम-साहस व मध्यम-साहस का अर्थ-दंड दिया जाता है। बार बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन प्याज़ खाता है, सिवाय चांडाल के। दस्यु को चांडाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब पैठते हैं तब सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जायँ और बचा कर चलें, कहीं उनसे छू न जायँ। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकाने हैं, क्रय विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।" इसके आगे मध्यदेश में बौद्धधर्म्म की अवस्था का वर्णन है। फाहियान ने यह नहीं दिया है कि पूरब में कहां तक मध्यदेश माना जाता है।

मध्यदेश का अंतिम उल्लेख अलबेरूनी[1] (संवत् १०८७) के भारत वर्णन में मिलता है। इसका भी यहाँ दे देना अनुचित न होगा। "भारत का मध्य कन्नौज के चारों ओर का देश है जो मध्यदेश कहलाता है*। भूगोल के विचार से यह मध्य या बीच है क्योंकि यह समुद्र और पर्वतों से बराबर दूरी पर है। गर्म और शीत प्रधान प्रांतों के भी यह मध्य में है और भारत की पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं के भी बीच में पड़ता है। इसके सिवाय यह देश

---

(१) अलबेरूनी का भारत, पर्व १८ (साचौ का अनुवाद, भाग १, पृष्ठ १९८)

* देखो ऊपर पृ० ४० टि० * [सं०]

राजनैतिक दृष्टि से भी केंद्र है क्योंकि प्राचीन काल में यह देश भारत के सब से प्रसिद्ध वीर पुरुषों और राजाओं की वास भूमि थी ।" मध्यदेश की सीमाओं के संबंध में इस वर्णन से विशेष सहायता नहीं मिलती ।

इसके बाद प्राय: एक सहस्र वर्ष से आर्यावर्त्त या भारत के हृदय मध्यदेश पर विदेशियों का आधिपत्य रहा है । मुसल्मान काल में मध्यदेश हिंदुस्तान कहलाने लगा । मध्यदेश का यह नया अवतार भी अपने पुराने कलेवर के समान, नहीं नहीं उससे भी अधिक, विकास को प्राप्त हुआ । देहली के चारों ओर के देश से आरंभ करके हिंदुस्तान नाम का प्रयोग धीरे धीरे बढ़ता गया । मुसल्मान काल के अंतिम दिनों में समस्त उत्तर भारत अर्थात् प्राचीन काल का आर्यावर्त्त हिंदुस्तान होगया । अब तो हिंदुस्तान के माने भारतवर्ष हो गए हैं । ब्रृटिश शासन में मध्यदेश ने तीसरी बार मध्यप्रांत के रूप में जन्म ग्रहण किया है । नयी स्थिति के अनुसार यह ठीक ही है । देखें, इसका विकास कहाँ तक होता है ।

विदेशियों के आधिपत्य के कारण मध्यदेश शब्द को यद्यपि मध्यदेश वालों ने बिलकुल भुला दिया किंतु उसका पुराना रूप पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया । पिता हिमालय ने उसको भी शरण दी है । काठमांडू के बाज़ार में यदि कोई हिंदुस्तानी निकलता हो तो नेपाली लोग अब भी कहते हैं कि 'मदेशिया' जा रहा है अर्थात् मध्यदेशीय या मध्यदेश का आदमी जा रहा है* ।

---

* ऊपर, पृ० ३१ में, 'काम्पीलवासिनी' पद का अर्थ कांपील की रहनेवाली किया गया है वहाँ सूक्ष्म-कंबल-धारिणी अर्थ भी हो सकता है । [ सं० ]

## ४—अशोक की धर्मलिपियाँ ।

[लेखक—रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, और पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०]

### [ क १०—दसवाँ प्रज्ञापन ]

[ पत्रिका भाग २, पृष्ठ ४६१ के आगे ]

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १ | देवानं | पिये | पियदषा | लाजा | यषो | वा | किति |
| गिरनार | २ | देवानं | प्रियो | प्रियदसि | राजा | यसो | व | कीति |
| धौली | ३ | . वानं | पिये | पियदसी | लाजा | यसो | वा | किटी |
| जौगड़ | ४ | . . . | . . | . . . . | . . | . . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५ | देवन | प्रिये | प्रियद्रशि | रय | यशो | व | किट्रि |
| मानसेरा | ६ | . . . | प्रिये | प्रियद्रशि | रज | यशो | व | किटि |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रिय: | प्रियदर्शी | राजा | यश: | वा | कीर्ति |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं का | प्रिय | प्रियदर्शी | राजा | यश को | वा | कीर्ति को |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७ | वा | नो | महथावा | मनति | अनता | यं |
| गिरनार | ८ | व | न | महाथावहा | मंञते | अञत | |
| धौली | ९ | वा | न | .. ठाहं | मंनते | . .. | . |
| जौगड़ | १० | . | . | .. ... | ... | . .. | . |
| शहबाज़गढ़ी | ११ | व | नो | महठवह | मञति | अञत्र | यो |
| मानसेरा | १२ | व | न | महथ्रवहं | मञति | अणत्र | यं |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | न | महार्थावहं | मन्यते | अन्यत्र । | यत |
| हिंदी-अनुवाद | | वा | नहीं | बहुत लाभ उपजाने वाला | मानता है | परलोक में । | जो |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३ | पि | यसो | वा | किति | वा | इछति | तदत्वाये |
| गिरनार | १४ | | | | | | | तदात्पनो |
| धौली | १५ | पि | यसो | वा | किटी | वा | इछति | तदत्वाये |
| जौगड़ | १६ | . | यसो | वा | किटी | वा | इछति | तदत्वाये |
| शहबाज़गढ़ी | १७ | पि | यशो | | किट्रि | व | इछति | तदत्तये |
| मानसेरा | १८ | पि | यशो | व | किटि | व | इछति | तदत्तये |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपि | यशः | वा | कीर्ति | वा | इच्छति | तदात्वे<br>तदात्वाय |
| हिंदी-अनुवाद | | भी | यश को | वा | कीर्ति को | वा | चाहता है | वर्तमान में<br>वर्तमान के लिये |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १९ | अयतिये | चा | | जने | धंमसुसुषा | सुसुषतु |
| गिरनार | २० | दिघाय | च | मे | जनो(८०) | धंमसुस्रुसा | सुस्रुसतां |
| धौली | २१ | अ . . | . | | जने(४७) | . . . . . सं | सु . सतु |
| जौगड़ | २२ | आयतिये | च | | जने | धंमसुसूष | सुसूसतु |
| शहबाज़गढ़ी | २३ | अयतिय | च | | जने | ध्रमसुश्रष | सुश्रुषतु |
| मानसेरा | २४ | अयतिय | च | | जने | ध्रमसुश्रुष | सु . षतु |
| संस्कृत-अनुवाद | | आयतौ<br>आयत्यै<br>दीर्घाय | च | {मे} | जन: | धर्मशुश्रूषां | शुश्रूषतां |
| हिंदी-अनुवाद | | भविष्यत् में<br>भविष्यत् के लिये<br>दीर्घ(काल)के लिये | और | {मेरी} | प्रजा | धर्मशुश्रूषा को (= की) | शुश्रूषा करै |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २५ | मे | ति | धंमवतं | वा | अनुविधियतु | | ति | एतकाये |
| गिरनार | २६ | | | धंमवुतं | च | अनुविधियतं | | | एतकाय |
| धौली | २७ | मे | | धंम. . | | . . . . . . | मे | | एतकाये |
| जौगड़ | २८ | अे(४०) | | . . . . | | . . . . . . | | | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | २९ | मे | ति | ध्रं मवुतं | च | अनुविधियतु | | | एतकये |
| मानसेरा | ३० | मे | ति | . . . तं(४६) | | अनुविधियतु | | | एतकये |
| संस्कृत-अनुवाद | | मे | इति | धर्मव्रतं | च | अनुविदधातु | {मे} | इति । | एतत्कृते |
| हिंदी-अनुवाद | | मेरी | ऐसा | धर्मव्रत को(=का) | और | अनुविधान (=आचरण) करें | {मेरा} | ऐसा । | इसलिये |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३१ | देवानं | पिये | पियदसि(२७) | लाजा | यषो | वा | किति |
| गिरनार | ३२ | देवानं | पियो | पियदसि | राजा | यसो | व | किति |
| धौली | ३३ | | | | | य . | . | . टी |
| जौगड़ | ३४ | | | | | . . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ३५ | देवनं | प्रिये | प्रियद्रशि | रय | यशो | व | किद्रि |
| मानसेरा | ३६ | देवन | प्रिये | प्रियद्रशि | रज | यशो | व | किटि |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियः | प्रियदर्शी | राजा | यशः | वा | कीर्ति |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं का | प्रिय | प्रियदर्शी | राजा | यश को(=की) | वा | कीर्ति को(=की) |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३७ | वा | इछ | अं | चा | किछि | लकमति |
| गिरनार | ३८ | व | इछति(८१) | यं | तु | किंचि | पराकमते |
| धौली | ३९ | वा | . . . | . | . | . चि | पलकमति |
| जौगड़ | ४० | . | . . . | . | . | . . | . . . . ति |
| शहबाज़गढ़ी | ४१ | व(२१) | इछति | यं | तु | किचि | परक्रमति |
| मानसेरा | ४२ | व | इछति | ए | तु | किचि | परक्रमति |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | इच्छति । | यत् | च<br>तु | किंचित् | पराक्रमते |
| हिंदी-अनुवाद | | वा | इच्छा करता है । | जा | और<br>तो | कुछ | पराक्रम करता है |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४३ | देवानं | पिये | पियदषि | लजा | त | षवं | पालतिक्याये |
| गिरनार | ४४ | देवानं | | प्रियदसि | राजा | त | सर्वं | पारत्रिकाय |
| धौली | ४५ | देवानं | पिये | | | | | पालतिकाये(४८) |
| जौगड़ | ४६ | देवानं | पिये | | | | | पालतिकाये |
| शहबाज़गढ़ी | ४७ | देवनं | प्रियो | प्रियद्रशि | रय | तं | सव्रं | परत्रिकये |
| मानसेरा | ४८ | देवन | प्रिये | प्रियद्रशि | रज | तं | सव्रं | परत्रिकये |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियः | प्रियदर्शी | राजा | तत् | सर्व | पारत्रिकाय |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं का | प्रिय | प्रियदर्शी | राजा | वह | सब | परलोक के लिये |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४९ | वा | किति | सकले | अपपलाषवे | षियाति | ति | एषे |
| गिरनार | ५० | | किंति | सकले | अपपरिस्रवे | अस | | एस |
| धौली | ५१ | | किंति | सकले | अपपलिसवे | हुवेयाति | | |
| जौगड़ | ५२ | वा | किंति | सकले | अपपलिसवे | हुवेयाति(२१) | | |
| शहबाज़गढ़ी | ५३ | व | किति | सकले | अपरिस्रवे | सिय | ति | एषे |
| मानसेरा | ५४ | व | किति | . . .(४७) | अपपरिस्रवे | सियति | ति | एषे |
| संस्कृत-अनुवाद | | एव । | किमिति ? | सकलः | अपपरिस्रवः | स्यात् {इति}<br>स्यात् | इति । | एष |
| हिंदी-अनुवाद | | ही । | क्यों ? | सब | निर्दोष | होवे{ऐसा}<br>होवे | ऐसा । | यह |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५५ | चु | पलिसवे | ए | अपुंने | दुकले | चु | खो | एषे |
| गिरनार | ५६ | तु | परिस्रवे | य | अपुंञं(८२) | दुकरं | तु | खो | एतं |
| धौली | ५७ | | पलिस | . | . . . | दुकले | . | . | . . |
| जौगड़ | ५८ | | . . . | . | . . . | . . . | . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५९ | तु | परिस्रवे | यं | अपुञं | दुकरं | तु | खो | एष |
| मानसेरा | ६० | तु | परिस्रवे | ए | अपुञं | दुकरं | चु | खो | एषे |
| संस्कृत-अनुवाद | | तु | परिस्रवः | यत् | अपुण्यं। | दुष्करं | तु | खलु | एतत् |
| हिंदी-अनुवाद | | ही | दोष (है) | जो | अपुण्य है। | कठिन है | तो | निश्चय | यह |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६१ | खुदकेन | वा | वगेन | उषुटेन | वा | अनत |
| गिरनार | ६२ | छुदकेन | व | जनेन | उस्टेन | व | अञत्र |
| धौली | ६३ | . . . . | | | | | . . त |
| जौगड़ | ६४ | . . . . | | | | | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ६५ | खुद्रकेन | | वग्रेन | उसटेन | व | अञत्र |
| मानसेरा | ६६ | खुद्रकेन | व | वग्रेन | उस्टेन | व | अञत्र |
| संस्कृत-अनुवाद | | क्षुद्रकेण | वा | वर्गेण<br>जनेन | उशता | वा | अन्यत्र |
| हिंदी-अनुवाद | | क्षुद्र [से] | या | समूह से<br>लोगों से | बढ़े (= बड़े) से | या | बिना |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६७ | **अगेना** | **पलकमेना** | **षवं** | | **पलितिदितु** |
| गिरनार | ६८ | **अगेन** | **पराकमेन** | **सवं** | | **परिचजित्पा** |
| धौली | ६९ | **अगे .** | **. . . . न** | **सवं** | **च** | **पलितिजितु**(४६) |
| जौगड़ | ७० | . . . | . . . . . | . . | . | **. लितिजितु** |
| शहबाज़गढ़ी | ७१ | **अग्रेन** | **परक्रमेन** | **सवं** | | **परितिजितु** |
| मानसेरा | ७२ | **अग्रेन** | **परक्रमेन** | **सव्रं** | | **परिति . तु** |
| संस्कृत-अनुवाद | | अग्र्येण | पराक्रमेण । | सर्वं | च | परित्यजतु<br>परित्यज्य |
| हिंदी-अनुवाद | | अगले (= सर्वोत्कृष्ट) (से) | पराक्रम से (= के) । | सब (को) | और | छोड़ें<br>छोड़ कर |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७३ | हेत | चु | खो(२८) | | | | |
| गिरनार | ७४ | एत | तु | खो | | | | |
| धौली | ७५ | | | | खुदकेन | वा | उसटेन | वा |
| जौगड़ | ७६ | | | | खुदकेन | वा | उसटेन | वा |
| शहबाज़गढ़ी | ७७ | एतं | चु | | | | | |
| मानसेरा | ७८ | ए . | तु | खो | | | | |
| संस्कृत-अनुवाद | | एतत् | तु | खलु | { क्षुद्रकेण | वा | उशता | वा } |
| हिंदी-अनुवाद | | यह | शे | निश्चय | { छोटे से | या | बड़े से | या } |

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७९ | उषटेन | वा | दुकले |
| गिरनार | ८० | उसटेन | | दुकर (८३) |
| धौली | ८१ | उसटेन | चु | दुकलतले (५०) |
| जौगड़ | ८२ | उसटेन | चु | दुकलतले (५३) |
| शहबाज़गढ़ी | ८३ | उसटॅ | | (२२) |
| मानसेरा | ८४ | उसटेन | व | दुकर |

| | | | |
|---|---|---|---|
| संस्कृत-अनुवाद | उशता | वा | दुष्करम् । |
| | | तु | दुष्करतरम् । |
| हिंदी-अनुवाद | बड़े से | या | दुष्कर [है] । |
| | | तो | अधिक दुष्कर [है] । |

## [ हिंदी अनुवाद । ]

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश या कीर्ति को परलोक के लिये बहुत काम की वस्तु नहीं मानता। जो वह यश या कीर्ति को चाहता है तो इसी लिये कि मेरी प्रजा वर्तमान और भविष्यत् में ( के लिये )[1] (=सदा) धर्म की शुश्रूषा[2] करे और धर्मव्रत का पालन करे। इसलिये देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा यश वा कीर्ति की इच्छा करता है। देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा जो कुछ पराक्रम करता है वह सब परलोक के लिये करता है। क्यों? इसलिये कि जिसमें सब ( लोग ) दोष-रहित हों[3]। यही दोष है कि अपुण्य ( पुण्य न करना )। यह ( अपुण्य से रहित होना ) बिना बड़े भारी पराक्रम के[4] छोटे या बड़े जनवर्ग के लिये अवश्य दुष्कर है। चाहे [ मनुष्य ] सब कुछ छोड़ दे पर ( या, सब कुछ छोड़ कर भी ) यह तो छोटे बड़े सब के लिये दुष्कर है। बड़े के लिये तो और भी दुष्कर है।

---

[1] गिरनार—सुदीर्घ काल के लिये।

[2] (१) सुनने की इच्छा (२) सेवा।

[3] अप-परिस्रव, अल्प-परिस्रव नहीं।

[4] अग्र्येण पराक्रमेण-अग्र्यात् पराक्रमात्। मिलाओ प्रज्ञापन ६ का अंत।

[ क ११–ग्यारहवां प्रज्ञापन ]

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १ | देवानं | पिये | पियदषि | लाजा | हेवं | हा |
| गिरनार | २ | देवानं | प्रियो | पियदसि | राजा | एवं | आह |
| शहबाज़गढ़ी | ३ | देवनं | प्रियो | प्रियद्रशि | रय | एव | अहति |
| मानसेरा | ४ | . . . | प्रिये | प्रियद्रशि | रज | एव | अह |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियः | प्रियदर्शी | राजा | एवं | आह । |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं का | प्रिय | प्रियदर्शी | राजा | ऐसे | कहता है। |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५ | नथि | हेडिषे | दाने | आदिषं | धंमदाने | | |
| गिरनार | ६ | नास्ति | एतारिसं | दानं | यारिसं | धंमदानं | धंमसंस्तवो | वा |
| शहबाज़गढ़ी | ७ | नस्ति | एदिशं | दन | यदिशं | ध्रमदन | ध्रमसंस्तवे | |
| मानसेरा | ८ | नस्ति | . दिशे | दने | अदिशे | ध्रमदने | ध्रमस . वे | |
| संस्कृत-अनुवाद | | नास्ति | एतादृशं<br>ईदृशं | दानं | यादृशं | धर्मदानं | धर्मसंस्तवः | वा |
| हिंदी-अनुवाद | | नहीं है | ऐसा | दान | जैसा | धर्मदान | धर्मसंस्तव | या |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९ | **धंमषंविभागे** | | **धंमषंबधे** | | **तत** | **एषे** | |
| गिरनार | १० | **धंमसंविभागो** | **व** | **धंमसंबधो** | **व**(८४) | **तत** | **इदं** | **भवति** |
| शहबाज़गढ़ी | ११ | **ध्रमसंविभगो** | | **ध्रमसंबंधो** | | **तत्र** | **एतं** | |
| मानसेरा | १२ | **ध्रमसंविभगे** | | **ध्रम . . धे**(४८) | | **तत्र** | **एसे** | |
| संस्कृत-अनुवाद | | धर्मसंविभागः | वा | धर्मसम्बन्धः | वा । | तत्र | एतत्<br>इदं | भवति । |
| हिंदी-अनुवाद | | धर्मसंविभाग | या | धर्मसंबंध | या । | उसमें | यह | होता है । |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३ | दाषभटकषि | षम्यापटिपति | मातापितिषु | |
| गिरनार | १४ | दासभतकम्हि | सम्यप्रतिपती | मातरिपितरि | साधु |
| शहबाज़गढ़ी | १५ | दसभटकनं | संमप्रटिपति | मतपितुषु | |
| मानसेरा | १६ | दसभट . स | सम्यसंपटिपति | मतपितुषु | |
| संस्कृत-अनुवाद | | दासभृतके<br>दासभृतकानां<br>दासभृतकस्य | सम्यक्प्रतिपत्तिः | मातापित्रोः<br>मातरि पितरि | {साधु} |
| हिंदी-अनुवाद | | दास और भाड़ेके नौकरों का (०में) (=के प्रति) | सम्यक्व्यवहार | माता पिता में(=की) | {उत्तम} |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १७ | षुषुषा | मितसंथुतनातिक्यानं | समनबंभनानं | |
| गिरनार | १८ | सुस्रुसा | मितसस्तुतञातिकानं | बाम्हणसमणानं | साधु |
| शहबाज़गढ़ी | १९ | सुश्रूष | मित्रसंस्तुतञतिकनं | श्रमणब्रमणनं (२३) | |
| मानसेरा | २० | . . . | . . (५०) संस्तुतञतिकन | श्रमणब्रमणन | |
| संस्कृत-अनुवाद | | शुश्रूषा | मित्रसंस्तुतज्ञातिकानां | श्रमणब्राह्मणानां<br>ब्राह्मणश्रमणानां | {साधु} |
| हिंदी-अनुवाद | | शुश्रूषा | मित्र, संस्तुत (और) कुटुंबियों का (=को) | श्रमणों [और] ब्राह्मणों का (=को) | {उत्तम} |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| ८ कालसी | २१ | दाने (२६) | पानानं | अनालंभे | | एषे | वतविये |
| गिरनार | २२ | दानं (८२) | प्राणानं | अनारंभो | साधु | एत | वतव्यं |
| शहबाज़गढ़ी | २३ | दनं | प्रणनं | अनरंभो | | एतं | वतवो |
| मानसेरा | २४ | दने | प्रणन | अनरंभे | | एषे | वतविये |
| संस्कृत-अनुवाद | | दानं | प्राणानां | अनालंभः | {साधु} । | एतत् | वक्तव्यं |
| हिंदी-अनुवाद | | दान | प्राणों का | न मारना | {उत्तम} । | यह | कहा जाय |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २५ | पितिना | पि | पुते | पि | भातिना | पि | षवामिक्येन |
| गिरनार | २६ | पिता | व | पुत्रेन | व | भाता | व | |
| शहबाज़गढ़ी | २७ | पितुन | पि | पुत्रेन | पि | भ्रतुन | पि | स्पमिकेन |
| मानसेरा | २८ | पितुन | पि | पुत्रेन | पि | भतुन | पि | स्पमि . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | पित्रा | अपि<br>वा | पुत्रेण | अपि<br>वा | भ्रात्रा | अपि<br>वा | स्वामिकेन |
| हिंदी-अनुवाद | | पिता से | भी<br>या | पुत्र से | भी<br>या | भाई से | भी<br>या | स्वामी से |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २९ | पि | मितसंथुताना | | अवा | पटिवेसियेना |
| गिरनार | ३० | | मितसस्तुतञातिकेन | व | आव | पटिवेसियेहि |
| शहबाज़गढ़ी | ३१ | पि | मित्रसंस्तुतेन | | अव | पटिवेशियेन |
| मानसेरा | ३२ | पि | मित्रसंस्तुतेन | | अव | पटिवेशियेन(४६) |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपि | मित्रसंस्तुतेन<br>मित्रसंस्तुतज्ञातिकेन | वा | यावत् | प्रतिवेशिकेन ।<br>प्रतिवेशिकैः । |
| हिंदी-अनुवाद | | भी | मित्र, संस्तुत (और) कुटुंबियों से<br>मित्र(और)संस्तुतों से | या | यहाँ तक कि | पड़ोसी से ।<br>पड़ोसियों से। |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३३ | इयं | साधु | इयं | कटविये | शे | तथा | कलंत |
| गिरनार | ३४ | इदं | साधु | इदं | कतव्यं (८६) | सो | तथा | करु |
| शहबाज़गढ़ी | ३५ | इमं | सधु | इमं | कटवो | शो | तय | करंतं |
| मानसेरा | ३६ | इयं | सधु | इयं | क्रटविये | से | तय | करंतं |
| संस्कृत-अनुवाद | | इदं | साधु | इदं | कर्तव्यं। | सः | तथा | कुर्वन् |
| हिंदी-अनुवाद | | यह | उत्तम [है] | यह | कर्तव्य [है]। | वह | वैसा | करता हुआ |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३७ | हिदलोकिक्ये | च | | कं | आलधे | होति |
| गिरनार | ३८ | इलोक | च | स | | आरधो | होति |
| शहबाज़गढ़ी | ३९ | इअलोकं | च | | | अरधेति | |
| मानसेरा | ४० | हिद . क | च | | | अरधेति | |
| संस्कृत-अनुवाद | | ऐहलौकिकं<br>इहलोकं | च | {सः} | {कं} | आराद्धः<br>आराधयति | भवति |
| हिंदी-अनुवाद | | इस लोक संबंधी को<br>इस लोक को | और | {वह} | {सुख को} | सिद्ध किया हुआ<br>सिद्ध करता है | होता है |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४१ | पलत | च | अनंत | पुंना | पसवति | तेना | धंमदानेना |
| गिरनार | ४२ | परत | च | अनंतं | पुंञं | भवति | तेन | धंमदानेन(८७) |
| शहबाज़गढ़ी | ४३ | परत्र | च | अनतं | पुंञं | प्रसवति(२४) | तेन | ध्रमदनेन(२५) |
| मानसेरा | ४४ | . रत्र | च | अ . तं | पुणं | प्रसवति | . . | ध्रमदनेन(५) |
| संस्कृत-अनुवाद | | परत्र | च | अनन्तं | पुण्यं | प्रसूते<br>भवति | तेन | धर्मदानेन । |
| हिंदी-अनुवाद | | परलोक में | और | अनंत(को)<br>अनंत | पुण्यको<br>पुण्य | उत्पन्न करता है<br>होता है | उस(से) | धर्मदान से । |

## [ हिंदी अनुवाद ]

देवताओं का प्रिय प्रियदर्शी राजा ऐसा कहता है । जैसा धर्म का दान[1], धर्म का व्यवहार, धर्म का लेनदेन, और धर्म का संबंध है वैसा और कोई दान नहीं है । इसमें ये ये बातें होती हैं[2]—दास और वेतनभोगी सेवकों से अच्छा बरताव, माता पिता की सेवा, मित्र परिचित (संगी साथी), संबंधी, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान, [तथा] प्राणों की अहिंसा । पिता, पुत्र, भाई, स्वामी, मित्र परिचित (संगी साथी), संबंधी, यहां तक कि पडौसी, [सब] को यह कहना चाहिए[3] कि यही [दान] उत्तम है, यही कर्तव्य है। ऐसा करता हुआ यह [मनुष्य] इसलोक की [सब बातों] को सिद्ध करता है और उसी धर्मदान से परलोक में अनंत पुण्य को उत्पन्न करता है ।[4]

---

(१) धर्मोपदेश ।

(२) मिलाओ नवम प्रज्ञापन के गिरनार, धौली और जौगढ़ के पाठ का अंतिम भाग ।

(३) गिरनार के पाठ में व्यर्थ ही 'साधु' साधु' बढ़ा दिया है प्रज्ञापन ९ में भी ।

(४) गिरनार के पाठ में वाक्यरचना भिन्न है, अर्थ एक ही है ।

# ५—विविध विषय ।

[ पंडित चंद्रधर शर्म्मा गुलेरी, बी० ए०, काशी ]

## (१) पुरानी पगड़ी।

संस्कृत वैयाकरण लोग पगड़ी के अर्थ में 'उष्णीष' शब्द लाते हैं जिसका अर्थ 'गर्मी का मारने वाला' होता है। शब्दार्थ से अवश्य ही यह सिर में लपेटने की चीज़ होनी चाहिए। यह कई रंग की होती होगी, क्योंकि जो अभिचार ( शत्रुमारण आदि ) के यज्ञ हैं उनकी विधि में आता है कि 'ऋत्विज् लोग लाल उष्णीष पहन कर काम करते हैं' ( लोहितोष्णीषा ऋत्विजः प्रचरन्ति )। यजुर्वेद ( शुक्ल ) की संहिता में ( ३८।३ ) गौ के बाँधने की रस्सी की प्रशंसा में कहा है कि 'तू अदिति का रस्सा है, इन्द्राणी का उष्णीष है'। इससे सिद्ध हुआ कि स्त्रियों का उष्णीष भी कोई लंबी, बाँधने की, लपेटने की चीज़ होती होगी, ओढ़ने की नहीं। संभव है कि स्त्री पुरुष दोनों का उष्णीष एकसा होता हो जैसा पुराने ईरानियों के यहाँ होता था। इस मंत्र की व्याख्या में शतपथ ब्राह्मण में कहा है 'इन्द्राणी इन्द्र की प्रिय पत्नी है उसका उष्णीष 'विश्वरूपतम' है ( १४. २. १. ८ )। राजसूय प्रकरण में जहाँ अभिषेक और शस्त्रधारण के पहले राजा को वस्त्र पहनाए जाते हैं वहाँ शरीर से सटा हुआ एक तार्प्य नामक कपड़ा पहनाया जाता है। श्रौत सूत्र और उसके भाष्यों में तार्प्य का अर्थ तृपा नाम के घास का बना हुआ, बुनते समय तीन बार घी या जल पिलाया हुआ वस्त्र, या वल्कल, या तीन बार घी में भिगोया हुआ वस्त्र दिया है। जो हो, उसकी प्रशंसा में लिखा है कि 'तस्मिन् सर्वाणि यज्ञरूपाणि निष्यूतानि भवन्ति ( शतपथ, ५-३-५-२० ) जिसका अर्थ इसके सिवा

कुछ नहीं हो सकता कि उस पर सब यज्ञ की तसवीरें, वा यज्ञपात्र, वेदि आदि की तसवीरें सुई से काढ़ी हुई होती हैं। इसके स्वारस्य से इन्द्राणी के उष्णीष के विशेषण 'विश्वरूपतम' का यही अर्थ करना पड़ेगा कि सबसे अच्छे चित्रों वाला, सबसे अच्छे क़सीदे वाला, सब से बड़ी सुंदरता वाला। यह नहीं कह सकते कि वह पंजाबिनों के सालू की तरह पूरा कसीदे का बना हुआ होता था, या राजपूताने की लूगड़ी की तरह रंग विरंगा।

जो हो, राजसूय में **तार्प्य** पहनाए पीछे एक **पांड्व** पहनाया जाता था जिसका अर्थ बिना रंगी ऊन का कंबल होता है। तीसरा कपड़ा **अधीवास** या सब कुछ ढकने वाला लंबा चोगा है। चौथा वस्त्र हमारा पहचाना हुआ मित्र उष्णीष है। इसे सिर पर लपेट कर दोनों छोर आगे की ओर लटका कर धोती की मोरी में दोनों ओर खोंस लिए जाते थे, या नाभि के पास ही खोंसे जाते थे। ( कात्यायन श्रौतसूत्र १५-५-१३, १४ ) इस प्रकरण के ब्राह्मण का अनुवाद यह है—"फिर उष्णीष को समेट कर आगे इकट्ठा करता है, इस मंत्र से कि 'तू क्षत्र की नाभि है'; इससे जो क्षत्र की नाभि है उसे ही यों इस में (यजमान में) धरता है। कुछ लोग सब ओर लपेटते हैं, यह कहते हुए कि यह इसकी नाभि है, सब तरफ़ ही यह नाभि जाती है; सो ऐसा नहीं करना चाहिए आगे ही इकट्ठा करे, आगे ही तो नाभि होती है ( शतपथ ५, ३, ५, २३–२४ )। इससे जान पड़ता है कि उस समय भी पगड़ी लपेटने की दो चालें थीं, परन्तु दोनों सिरे कमर तक अवश्य लाए जाते थे।

किरीट शब्द भी सिर के ढकने की चीज़ के अर्थ में आता है। यह वैयाकरण पाणिनि से पुराना है, क्योंकि उसने उसे अर्धर्चादि गण (२।४३१) में पढ़ा है। यदि यह संदेह किया जाय कि गणपाठ में शब्द समय समय पर बढ़ाए गए हैं तो उणादि सूत्र ४।१८४ ( कॄतॄकृपिभ्यः कीटन् ) से यह शब्द बनता है जिसमें न्यासकार के मत से 'तिरीट' वाला 'तॄ' धातु भले पीछे जोड़ा गया हो तो भी

'किरीट' का कृ तो पुराना मानना पड़ेगा । उणादि सूत्र पाणिनि से पहले के हैं । मुकुट शब्द इतना पुराना नहीं है ।

हिंदुस्थान में सबसे पुरानी मूर्त्तियाँ जो कहीं भी मिली हैं वे भरहुत के स्तूप की भित्तियों पर हैं । उनका समय ईसा से पहले तीसरी शताब्दी माना गया है । वहाँ के चित्रों में पुरुष बहुत सुंदर साफा बाँधे हुए बनाए गए हैं । विशेष करके कनिंघाम के ग्रंथ स्तूप आफ भरहुत के प्लेट २१ के चित्र ३ में नागराज चक्रवाक और प्लेट २४ के चित्र २ और ३ देखिए । इनमें साफ़ा या फैंटा बहुत सुंदर लपेटों से बांधा गया है और सामने एक मुरेठा या गेंद सी बनाई गई है । यदि श्रौतसूत्र में साफ़ न कहा गया होता तो इन चित्रों को देख कर शतपथ ब्राह्मण के 'आगे समेट कर इकट्ठा' करने का अर्थ ऐसा मुरेठा बनाना ही समझ में आता । उस समय स्त्रियों का वेश कैसा था यह उसीके प्लेट २३ में सिरीमा देवता के चित्र से जान पड़ेगा । इसमें एक छोटा रुमाल सिर पर लपेटा हुआ है । बौद्ध जातक ग्रंथों में लिखा है कि धनवानों की सुंदर सुंदर पगड़ियाँ सजाना और बनाना नाइयों का काम था ।

चीनी यात्री हुएन्सांग, जो हिंदुस्थान में ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के पिछले भाग में आया था, यहाँ के लोगों के बारे में लिखता है कि लोग सिर पर टापी या मुकुट पहनते हैं और उनके साथ फूलों की माला या जड़ाऊ सिरपेच । व्रात्यों की टेढ़ी पगड़ी के लिये देखिए पत्रिका, भाग १, पृ० ७६, ७७ में मेरी टिप्पणी ।

## (२) छट्ट ।

पंजाबी में भारवाहक पशुओं पर माल लादने की गोन को छट्ट कहते हैं । हिंदी में गोन, गोंन, गूंण ही प्रचलित है, छट्ट केवल पंजाबी में आता है । गणरत्नमहोदधि में गोणी शब्द के अर्थ में वर्धमान ने इस शब्द का प्रयोग किया है ( एगलिंग् का संस्करण, पृष्ठ ९१ ) । वहाँ संपादक ने मूल पाठ यह रक्खा है 'धान्याधारे

गोणी । यस्याश्छाटीति प्रसिद्धिः' और उसे 'मराठी छाटी (संस्कृत शाटी )=कपड़े का टुकड़ा' से मिलाया है किंतु 'छाटी' पाठ संपादक ने एक ही प्रति के पाठ पर कल्पित किया है । टिप्पणियों में जो पाठांतर दिए हैं उससे यह शब्द छट्ट ही जान पड़ता है ( धान्याधारे गोणो यस्याश्छहेति A, यस्याः छट्टोति C. यस्यास्त्वट्टेति D. यस्याः छाटीति E. )। गणरत्नमहोदधि की रचना वि० सं० ११९७ में हुई । उस समय गुजरात में यह शब्द प्रचलित था । यह उस समय की 'हिंदी' का शब्द है क्योंकि उन दिनों तक प्रादेशिक भाषाएँ इतनी पृथक् और रूढ़ नहीं हुई थीं ।

## (३) बिरामण की, सरवण की ।

राजपूताने में माताएँ बच्चों को बुरी दीठ या नज़र से बचाने के लिये दिए पर तकुला (तर्कु) गरम करके एक मंत्र सा कहा करती हैं 'दादा की, दादी की,...नाई की, पड़ौसी की,...बिरामण की, सरवण की,...जिसकी नज़र बच्चे को लगी हो उसकी आँखों में जलता जलता ताका ( तकुला ) !!' बौद्ध श्रमण ( भिक्षु ) इस देश में अब नहीं रह गए किंतु ब्राह्मणश्रमण का जोड़ा जो अशोक के लेखों और पतंजलि के महाभाष्य में अत्यंतसंयोग या शाश्वतविरोध के अर्थ में आता है अब तक जादू टोने में चला आता है[२] । (श्रमण=सरवण) ।

## (४) पूर्णपात्र ।

किसी को कोई आनंद का समाचार सुनाने पर मुँहमाँगा इनाम मिलता है । बधाई देने पर यह पूछने की चाल भी है कि बधाई देनेवाले को जो पसंद आवे वह ले ले । अधिक अंतरंगता पर यह भी हो सकता है कि भाई, अच्छी ख़बर लाए हो, जो वस्त्र, भूषण आदि

---

(१) वर्धमान के बारे में इसी अंक का प्रथम लेख देखिए ।

(२) देखो पत्रिका भाग १ पृ. ४०४ टि. १ ।

हमारे शरीर पर से उतारना चाहो वह उतार लो। समाचार लाने वाला अधिक प्रौढ़ हो तो स्वयं छीन लेता है। इस चाल का नाम 'पूर्णपात्र का हरण करना' या 'पूर्णपात्र का लेना' है। बाण की कादंबरी में इसका उल्लेख है, हर्षचरित में भी जहाँ हर्ष का जन्म हुआ है वहाँ बाण लिखते हैं कि समाचार लानेवाला **'उत्तरीयं पूर्णपात्रं जहार'**, उसने ऊपर का वस्त्र ( दुशाला आदि ) पूर्णपात्र छीन लिया। हर्षचरित का संकेत टीकाकार पूर्णपात्र का अर्थ यों समझाता है—पूर्णपात्रं यथापरिहितवस्त्रादि। उक्तं च—आनंददो हि सौहार्दादेत्य वस्त्रादिकं बलात्[1]। अजानतो हरत्येव पूर्णपात्रं तु तत्स्मृतम्। अर्थात् 'पूर्णपात्र का अर्थ है, जैसा पहना हो वैसा वस्त्र आदि। कहा भी है कि 'आनंद (का समाचार) देनेवाला प्रेम से आकर ज़बरदस्ती वस्त्र आदि ( समाचार सुननेवाले के ) बिना जाने हर लेता है वह पूर्णपात्र कहलाता है''।

यह तो सब ठीक है, किंतु पूर्णपात्र का अर्थ वस्त्र कैसे हुआ? दीनारों या रत्नों से भरा पात्र होता, या गृह्यपद्धतियों में जो ब्रह्मा को दिए जानेवाले पूर्णपात्र का लक्षण लिखा[2] है वह होता तो ठीक होता। हेमचंद्र की देशीनाममाला में इसी अभिप्राय के दो शब्द दिए हैं। एक तो **'पुण्णवत्त'** जिसका अर्थ 'प्रमोदहृतवस्त्र' अर्थात् खुशी में छीना हुआ कपड़ा दिया है ( ६।५३ )। दूसरा **'वड्ढवण'** जिसके दो अर्थ हैं—वस्त्राहरण और अभ्युदयावेदन, अर्थात् कपड़ा छीनना और बढ़ती की सूचना देना (७।८५)। अब सब स्पष्ट हो गया। 'वड्ढवण' तो हिंदी का बधाई देना, "बधाई है" कहना, बढ़ाना, संवर्धना करना है; बधावे गाना, बधाई बजना,

---

( १ ) डाक्टर फुहरर के संस्करण में छपा है—'वस्त्रादि कम्बलात्'(!)

( २ ) अष्टमुष्टि भवेत्किंचित् किंचिच्चत्वारि पुष्कलम्।
पुष्कलानि तु चत्वारि पूर्णपात्रं प्रचक्षते ॥ ( पारस्करपरिशिष्ट )। कई जगह इस नाप के बारे में मतभेद भी है।

में वही शब्द है । प्रबंधचिंतामणि में 'महाराज, बधाई है' इस अर्थ में 'स्वामिन् वर्धाप्यसे' आया है । इस वड्ढवण के दो अर्थ ठीक ही हैं, एक अभ्युदयावेदन कारण और दूसरा वस्त्राहरण कार्य । 'पुण्णवत्त' का ठीक संस्कृत पूर्ण ( पुण्य ) वस्त्र होना चाहिए अर्थात् ( हर्ष, या इच्छा–) पूर्ण वस्त्र या पुण्य वस्त्र । किंतु देशी को संस्कृतीकृत करने में 'पूर्णपात्र' हो गया ।

## (५) सवाई ।

आमेर की गद्दी पर महाराज जयसिंह पहले को मुग़ल बादशाह से मिर्ज़ाराजा की उपाधि मिली थी और यह प्रसिद्ध है कि जयसिंह दूसरे को, जिन्होंने जयपुर बसाया, एक प्रसिद्ध वाक्पटुता पर औरंगजेब ने 'सवाई' उपाधि दी । तब से जयपुर के महाराजा सवाई कहलाते हैं । कुछ लोग कहते हैं कि फ़ारसी लेखक प्रथम और द्वितीय जयसिंह में भेद करने के लिये द्वितीय के नाम को महाराजाधिराज जयसिंह (या धिराज (!) जयसिंह, जैसा कई तवारीख़ों में है) 'सानी' लिखते थे, 'सानी' का लेखदोष से 'सवाई' हो गया जो बिना पूछे पाछे उपाधि बना लिया गया । इस कल्पना में द्वेष को छोड़कर कुछ सार नहीं । सवाई पद जयपुर के वंश से निकलनेवाले अलवर वंश ने तो लिया, किंतु और भी कई वंशों ने, यों ही था तो, क्यों धारण कर लिया ? 'सवाई' पद इतना प्रिय हुआ कि संभा जी भी अपने को सवाई कहता था और पेशवा नारायणराव के पुत्र सवाई माधवराव पेशवा ने उसे नाम का अंग ही बना लिया ।

शत्रुंजय पर्वत पर के जैन शिलालेखों में जहाँगीर बादशाह के नाम के साथ 'सवाई' उपाधि लगी मिलती है । यथा[1]–

(लेख नं० १५) सं० १६७५ वैशाख सुदि १३ तिथौ शुक्रवासरं सुरताण नूरद्दीन जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ॥···

(लेख नं० १७) सं० १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई

---

[1] एपिग्राफिका इंडिका, जिल्द २ पृष्ठ ३४ प्रभृति ।

विजयिराज्ये साहिजादा सुरताणखोसड़ू (=खुशरो) प्रवरे श्रीराजी नगरे (=अहमदाबाद) सोबइ (=सूबा) साहियान सुरतान पुरमे (=खुर्रम) वैशाखसित १३ शुक्रे···

(लेख नं० १८) संवत् १६७५ प्रमिते सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरताण षोसरूप्रवरे राजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे ।। वैशाखसित १३ शुक्रे ।···

(लेख नं० १९) संवत् १६७५ मिते सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरताण षोसड़ू प्रवरे राजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे वैशाखसित १३ शुक्रे··

(लेख नं० २०) संवत् १६७५ प्रमिते ।। सुरताणनूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये साहिजादा सुरतान षोसरूप्रवरे श्रीराजनगरे सोबइ साहियान सुरतान षुरमे वैशाख सित १३ शुक्रे ।···

(लेख नं० २३) सं० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताण नूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर...

(लेख नं० २४) सं० १६७५ वैशाख सित १३ शुक्रे सुरताणनूरदी जहांगीर सवाई विजयिराज्ये ।। श्रीराजनगर··

(लेख नं० २७) भी जहांगीर के समय का है किंतु उसमें सवाई उपाधि नहीं है—

सं० १६८३ वर्षे । पातिसाह जिहांगीर श्रीसलेमसाह भूमंडलाखंडल विजय राज्ये ।।

अस्तु, ये लेख एक ही संवत् और एकही वंश के होने पर भी भिन्न भिन्न स्थलों पर हैं । सवाई एक हिंदुस्तानी उपाधि थी जिसका अर्थ पूर्ण से अधिक ( सवा, सपाद, १¼ ) होता है । यह बहुत पहले से बादशाह जहांगीर के नाम के साथ प्रामाणिक रूप से मिलती है, या फिर महाराज जयसिंह दूसरे के नाम के साथ ।

जैनोंके यहां प्रसिद्ध है कि हीरविजयसूरि के शिष्य विजयसेनसूरि को बादशाह अकबर ने 'सूरिसवाई' की उपाधि दी थी ( सूरीश्वर अने सम्राट् पृ० १६२ )

जोधपुर के राजा अजीतसिंह, जिनकी कन्या मुगल बादशाह फर्रुख़सियर को व्याही थी, उस समय के राज-कर्ता सैयद बंधुओं में से सैयद अबदुल्ला से मिलकर अपने जामाता के विरुद्ध लड़े । सैयद अबदुल्ला से ही उन्होंने महाराजा उपाधि पाई । अंत को वे रुष्ट होकर अपनी कन्या को नौकर चाकर और वहुत सी धनदौलत के साथ हिंदू वेश में दिल्ली से अपने घर ले आए । तारीख़ इबराहीम खाँ में लिखा है कि किसी हिंदू राजा ने ऐसी गुस्ताख़ी नहीं की थी । बाबू राखालदास बनर्जी ने किसी फ़ारसी इतिहास में देखा है कि अजीतसिंह की सवाई उपाधि पाने की इच्छा और उसके लिये परम उद्योग का फलीभूत न होना ही इस विद्रोह का कारण था । यह अंतिम वाक्य बनर्जी महाशय के कथन के प्रमाण पर ही लिखा गया है ।

## (६) संस्कृत में अकबर का जीवनचरित ।

महाराजा दर्भंगा के पूर्वज मिथिला के प्रसिद्ध विद्वान् महेश ठक्कुर ने अकबर बादशाह का जीवनचरित संस्कृत में लिखा था । जैसे अबुलफ़ज़ल ने फ़ारसी में अकबर का चरित लिखा, वैसे ही महेश ठक्कुर से यह लिखवाया गया था । इसकी एक अपूर्ण प्रति इंडिया आफ़िस में है और महाराजा दर्भंगा ने वहाँ से फोटोग्राफ द्वारा उसकी प्रतिकृति उतरवा कर मंगाई है । सुना गया है कि डाक्टर गंगानाथ झा उसका संपादन कर रहे हैं ।

## (७) पश्चिमी क्षत्रपों के नामों में घ्स, य्स्=ज़ ( Z )।

पश्चिमी क्षत्रप राजाओं के घ्समोटिक, दमघ्सद आदि नामों में 'घ्स' युक्ताक्षर पढ़ा जाता था । सन् १९१३ में जर्मन विद्वान् डाक्टर लूडर्स ने स्थिर किया कि यह 'घ्स' नहीं 'य्स' है और दमघ्सद का नाम दमजद भी लिखा मिलता है इसलिये यह य्स ( घ्स नहीं ) ग्रीक के ज़ेड् (ज़) के लियें भारतवासियों का संकेतित चिह्न था । माडर्न रिव्यू ( जून १९२१ ) का कथन है कि सन् १९१३ के

एक जर्मन पत्र में डाक्टर लूडर्स ने यह छपवाया और ता० २१ फरवरी सन् १९१३ को इस खोज की सूचना का पत्र शार्लाटनबर्ग से मि० देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर को लिखा, किंतु सन् १९१५ की पश्चिमी मंडल की पुरातत्वविभाग की खोज की रिपोर्ट में मि० भंडारकर ने इसे अपनी मौलिक खोज की तरह छापा और लूडर्स का उल्लेख भी न किया। माडर्न रिव्यू में लूडर्स और भंडारकर के उन लेखों के फोटो भी छपे हैं। पीछे इस विषय पर बहुत वितंडा हुई; यह सिद्ध करने का यत्न किया गया कि यह लूडर्स की मौलिक खोज नहीं है कई वर्ष पहले डाक्टर भाऊ दाजी ही ऐसा लिख गए थे, किंतु भंडारकर के उसे अपनाने का अपलाप न हो सका।

## (८) वैदिक भाषा में प्राकृतपन।

यास्क के निरुक्त में जो वैदिक शब्दों के निर्वचन किए हैं उनमें कुछ प्राकृतपन का प्रमाण है। पहला तो डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप ने अपने निघंटु निरुक्त के संस्करण की भूमिका में बताया है और बाकी पं० विधुशेखर भट्टाचार्य ने उसकी समालोचना करते समय माडर्न रिव्यू ( जून १९२१ ) में लिखे हैं—

कुटस्य = कृतस्य
कीकटा: = किंकृता:
कण्टक: = कर्तक: ( कृन्तते: )
कूहू: = गुहू: ( गूहते: )

तर्कु का अर्थ डाक्टर लक्ष्मण ने चाकू किया है, किंतु समालोचक ने ठीक बताया है कि कृत् धातु ( काटना ) से व्यत्यय से बनने पर भी इसका अर्थ ताकू (तकुला) है। पर कृत् (कृन्त) धातु का अर्थ काटना ही नहीं है, जैसे वृध् के अर्थ बढ़ना और बड्ढना ( काटना ) दोनों हैं वैसे कृत् के अर्थ कातना और काटना दोनों हैं ( या अकृन्तन्नवयन् इत्यादि मंत्र )।

## (९) 'खूब तमाशा'।

मध्यप्रदेश ( छत्तीसगढ़ ) के राजा राजसिंह के यहाँ एक कवि

गोपालचंद्र मिश्र था। उसने '़खूब तमाशा' नामक कविता का ग्रंथ लिखा है जिसमें कलियुग की अद्भुत बातों का वर्णन देकर प्रति छंद के अंत में ़खूब तमाशा समस्या की पूर्ति की है। उसका समय इस छंद में लिखा है जो उसीके अंत में है—

संवत् सत्रह से षट चालीस पावस ऋतु हितकारी।
महाराज श्रीराजसिंह नृप जिन यह सुमति विचारी॥

( पांडेय लोचनप्रसाद का लेख, शारदा, सं० १९७७ आश्विन ) इस 'खूब तमाशे' का वर्णन कई अवतरणों सहित काशी के इंदु में कई वर्ष पहले छप चुका है।

काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों की खोज, जिल्द १, को देखने से प्रतीत होता है कि संवत् १७४४ में आमेर (जयपुर) में कवि नंदराम ने इसी विषय पर "पचीसी" नाम का एक काव्य रचा था। उसका परिचय और आदि अंत के अंश उसी रिपोर्ट से यहाँ दिए जाते हैं। राजपूताने का कवि पहले का है, मध्यप्रदेश का पिछला। संभव है कि पहले कवि की छाया दूसरे ने ली हो, यह भी संभव है कि दोनों स्वतंत्र हों।

आदि—अथै नंदराय पचीसी लिषते ॥ दोहा ॥ गनपति को जय मनाय हौ ॥ रिधि सिधि के हेत ॥ वाकबादनी मात तरु ॥ सूभ अच्छर वही देत ॥ १ ॥ कछुअक चाहत हो कह्यो ॥ तुम्हरे पुन्य प्रताप ॥ ताहि सूनै सुष उपजै ॥ किरपा करो अब आप ॥ २ ॥ कीनो प्रथम प्रकाश ही ॥ तुम्हरो हुकुम जपाय ॥ कलि व्यवहार वर्णन करु ॥ सुनो चतुर मन लाय ॥ ३ ॥ नीति राज की असी होती ॥ दोलति षोस लीजे ॥ गज सिका अर तोल मोल की चढ़ती दिन दिन कीजै ॥ अब पैसा कमी कमी जग मोहि: रुपया है नौ मासा ॥ नंदराम कछु दुनिया माही देखा अजब तमासा ॥ ४ ॥

अंत—नाटिक चेटक जामै देखे। जाकी करै ज सेवा। भूत ...से...ल दिषावे ताकु मानै देवा ॥ अंतरजामी नाहिन भजिए। भजिए धूलि धमासा ॥ नंदराम ॥ २३ ॥ कलि व्यवहार पचीसी

बरणी । जथा जोगि मति मोरी । कलियुग की जवानिगो एहै और बात बहुतेरी ॥ राखो राम नाम या कूल में नंद नंदन सूष रासा ॥ २४ ॥
॥ नंदराम ॥ नंदराम षंडेलवाल है अंबावति के वासी ॥ सूत बलिराम गोत हैरावत मत है क्रसन उपासी ॥ संवत सत्रह सै चौवाला कातिक चंद्र प्रकासा ॥ नंदराम कछु दुनिया माही देख्या अजब तमासा ॥२५॥

## (१०) देवानां प्रिय ।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, नया संस्करण, भाग १, संख्या ३, पृष्ठ ३५६, में 'देवानां प्रिय' के अर्थ पर कुछ लिखा गया है। इस जगह यह दिखाया जायगा कि पतंजलि के महाभाष्य आदि में 'देवानां प्रिय' साधारण बोलचाल में 'सरकार, हुजूर, राउरे, आप, श्रीमान्, जनाब' के अर्थ में काम आता था।

पाणिनि का एक सूत्र है कि किसी किसी प्रयोग में अज् धातु की जगह वी हो जाता है[1]। अज् का अर्थ चलना है, वी का भी। पतंजलि ने समझाया है कि किन पदों में अज् का वी हो जाता है (जैसे, प्रवेता, प्रवेतुम्, प्रवीतः, संवीतिः) और किन में अज् ही रहता है (जैसे, समाज, समज, उदाज, उदज, समजन, उदजन, समज्या)। इस हिसाब से '(रथ) हाँकनेवाला' इस अर्थ में प्र+अज् से प्राजिता होना चाहिए, किंतु इस सूत्र के अनुसार प्रवेता होगा। पतंजलि ने व्यवहार में 'प्राजिता' प्रयोग भी देखा, इस लिये विकल्प का नियम माना कि 'प्राजिता' भी होता है। यहाँ पर एक वैयाकरण और एक सूत की कल्पित बातचीत[2] दी है। बातचीत

---

(१) अजेर्व्यघञपोः २।४।५६ ।

(२) किंच भो इष्यत एतद् रूपम् । बाढमिष्यते । एवं हि कश्चिद्वैयाकरण आह—कोस्य रथस्य प्रवेतेति। सूत आह—अहमायुष्मन्नस्य रथस्य प्राजितेति। वैयाकरण आह—अपशब्द इति। सूत आह—प्राप्तिज्ञो देवानां प्रियः न त्विष्टिज्ञ इष्यत एतद्रूपमिति। वैयाकरण आह—अहो नु खल्वनेन दुरुतेन बाध्यामह इति। सूत आह—न खलु वेञः सूतः। सुवतेरेव सूतः। यदि सुवतेः कुत्सा प्रयोक्तव्या दुःसूतेनेति वक्तव्यम्।

बड़ी रोचक है। वैयाकरण अपने शास्त्रज्ञान के घमंड में है, सूत व्यवहार की भाषा में पक्का है, वह पोथी पढ़े पंडित जी की ज़ीट उड़ाता है।

भाष्यकार पूछते हैं कि क्यों भाई यह रूप ( प्राजिता ) स्वीकृत है, चाहिए, मान लिया जाय ? स्वयं ही उत्तर देते हैं कि बेशक, चाहिए। यों कोई वैयाकरण कहता है-इस रथ का प्रवेता कौन है ? वह नियमों का पक्का है, साधु भाषा में 'अज्' की जगह 'वी' काम में ला रहा है, वही मज़मून है कि पानी खटिया तर रहो, पूत मरे बकि आब। सूत उत्तर देता है—आयुष्मन्, मैं इस रथ का प्राजिता हूँ। वैयाकरण कहता है कि यह तो अपशब्द है। सूत कहता है कि देवानां प्रिय प्राप्तिज्ञ[1] हैं, इष्टिज्ञ[2] नहीं; यह रूप माना जाता है। यों टोकने पर वैयाकरण खिझ गया। वह सूत को सूत कहलाने योग्य नहीं समझता। वह अपने व्याकरण के भरोसे समझता है कि सूत सु + उत से बना है, सु + उत = अच्छा बुना हुआ, ऐसे दोष दिखानेवाले के नाम में सु = अच्छा क्यों आवे ? उसने इस अपराध में सु + उत = सूत को दुर् + उत कहना चाहा। सु का उलटा दुर् है, जैसे सुगंध, दुर्गंध; सूक्त, दुरुक्त। वैयाकरण कहता है, अहो, इस दुरुत ने हमें निश्चय बाधा पहुँचाई। भोज के 'यथा बाधति बाधते' कहनेवाले कहार की तरह सूत चट बोल उठा कि वेञ् (बुनना) धातु से सूत नहीं बनता, यह तो सू ( = सुवति, षू = प्रेरणा करना ) से सूत बनता है। यदि सू धातु के साथ आपको कुत्सा का प्रयोग करना हो, मेरी ओर अपनी अप्रसन्नता दिखाना हो, तो 'दुःसूत' ऐसा कहिए, दुरुत नहीं।

यहाँ पर पहले तो सूत ने वैयाकरण को आयुष्मन् = ( बड़ी ) उमरवाला कहकर संबोधन किया है। बोलचाल में बुलाए जाने पर बुलानेवाले के साथ आशीर्वाद से बातचीत शुरू करना सभ्यता की चाल है। हिंदी में किसी को पुकारने पर

---

(१) किस नियम की कहाँ पर प्राप्ति ( पहुँच ) होती है यह जाननेवाला प्राप्तिज्ञ। 'शिवतिं चर्करीतान्तं पचतीत्यत्र यो नयेत्। प्राप्तिज्ञं तमहं मन्ये प्रारब्धस्तेन संग्रहः' ॥ यहां प्राप्तिज्ञ कहने में कुछ ताना है कि आप पोथी ही पढ़े हो।

(२) जो नियम सूत्रों में दिए हैं उनके अपवाद या उनसे अधिक नियम 'इष्टि' ( = मंजूरी, स्वीकृति, मानना, चाहिए, इच्छा की हुई बात) कहे जाते हैं, उन्हें जाननेवाला इष्टिज्ञ।

उत्तर मिलता है ‘जी’—यह ‘जीव’ = ‘जीते रहो’ आशीर्वाद है। राजा के पास रहनेवाले ‘जय जीव’ कहनेवाले कहे जाते हैं[1] । एक श्लोक में विष्णु पुकारते हैं ‘हे नंदक’, उत्तर मिलता है ‘जीव’[2] । हेमचंद्र की देशीनाममाला में धण्णाउस ( धन्यायुष् ) आशीर्वादात्मक संभाषण में ही दिया मिलता है ( ५।५८ )। दूसरी जगह सूत कहता है कि ‘देवानां प्रिय प्राश्निज्ञ’ हैं। यहाँ देवानां प्रिय का अर्थ देवताओं का लाड़ला, देवताओं का प्यारा है, यह भी आशीर्वाद और विनय की भाषा है, जैसे राजपूताने में ‘राम का पूरा’ ‘राम जी भला दिन दें’ आदि कहते हैं। भागवान, नेकबखत, भला आदमी आदि पद भी यों बोलचाल में आते हैं। सूत ने ‘देवानां प्रिय’ सरकार, आप, या जनाब की तरह आदर ही में काम में लिया है (चाहे उसमें कुछ ताना भी हो ), इसका अर्थ अच्छा ही है, मूर्ख नहीं।

इस भाष्य की व्याख्या में कैयट ने “देव शब्द मूर्ख का वाचक है। मूर्खों के प्यारे मूर्ख ही होते हैं। अथवा सुख में आसक्त होने के कारण शास्त्र में ध्यान न लगाना ही यहाँ प्रतिपादित होता है” लिखा है। यह पीछे की बात को लेकर है, पतंजलि के काल में यह अर्थ नहीं था। सूत की बातचीत बहुत सभ्य है, वह ‘आयुष्मन्’ कह कर संबोधन करता है, वैयाकरण की अपेक्षा संस्कृत के महाविरे अच्छे समझता है, दर्जे में भी वह विद्वान् वैयाकरण से छोटा है, इन सब कारणों से वह गँवार की तरह मुँहफटपने से वैयाकरण को ‘मूर्ख’ नहीं कहता। ‘देवानां प्रिय’ अदब और आशीर्वाद का पद था।

इसी तरह मीमांसा के शाबर भाष्य में जहां यह प्रसंग है कि एक ही सूर्य नाना देशों में कैसे एकसाथ दिखाई देता है वहां उदाहरण दिया है कि किसी को कहा जाय कि ‘आदित्य को देख,

---

(१) जय जीवेति वादिनः = हाँ हुजूर करने वाले।

(२) ‘चक्र !’–‘ब्रूहि विभो !’–‘गदे !’–‘जय हरे !’–‘कंबो !’–‘समाज्ञापय’—‘भो भो नन्दक !’–‘जीव’–‘पन्नगरिपो !’–‘किं नाथ ?’........॥

देवानां प्रिय !' तो उसे सूर्य एक जगह टिका हुआ सा ही दिखाई देता है[1] वहां देवानां प्रिय का अर्थ आयुष्मान् की तरह आशीर्वादात्मक ही है। गुरु अपने शिष्य को कह रहा है कि बच्चा, चिरंजीव या भले मानस, सूर्य को देख। किसी गाली की यहां ज़रूरत नहीं कि अंधे या मूर्ख, सूर्य को देख। कोई ऐसा प्रसंग ही नहीं है।

वेदांत सूत्रों के शंकर भाष्य में जहां प्रतिवादी के कथन का उल्लेख करके उसका खंडन करने के लिये प्रतिवादी से कोई उसकी कचाई की बात पूछी है, अर्थात् प्रतिप्रश्न से खंडन किया है, वहां कहीं कहीं यह आता है—'इदं तावद् देवानां प्रियः प्रष्टव्यः' अर्थात् देवानां प्रिय से इतना तो पूछो। यहां भी यह महावरा सभ्यता ही से संबंध रखता है, संभव है इसमें कुछ ताना भी हो, ज़रा हज़रत से यह तो पूछिए। शिष्ट लोग प्रतिवादी को मुँह पर मूर्ख नहीं कहते, 'रामदुलारे' ही कहते हैं। शंकर ने बूढ़े 'गोतम' को 'गो–तम' कह दिया तो इसका यह अर्थ नहीं कि 'रामदुलारे' ( देवानां प्रिय ) सदा गाली ही हो तथा शिष्ट शास्त्रार्थ में गाली ही दी जाती हो।

## (६१) हूण।

पराक्रमी हूणों का स्मरण अभी तक कई प्रकार से चला आता है। हरियाना प्रांत में जब कोई मनुष्य किसी दूसरे से भिड़ते हुए झिझकता है तो उसे हिम्मत बढ़ाने के लिये कहा जाता है अरे, यह क्या कोई हून है ? कोई बहुत गाल बजाता है तो भी कहते हैं बड़ा कहीं का हून आया ! राजपूताने की ऐतिहासिक दंतकथाओं में कई उच्छृंखल 'हूल' वीरों की कथाएँ हैं जो दुर्गम घाटों में रहते और व्यापारी, यात्रियों आदि से लूट उगाहते थे। दक्षिण में एक सोने का सिक्का 'हुन' नामक था जो अभी अभी तक चलता रहा। राजपूतों के छत्तीस कुलों में एक 'हूण' भी है। इतिहास में कई प्रतिष्ठित

---

(१) आदित्यवद्यौगपद्यम् ( अध्याय १ पाद १ सूत्र १५ ) पर 'यत्तु एकदेशस्य सतो नाना देशेषु युगपद्दर्शनमनुपपन्नमिति 'आदित्य' पश्य देवानां प्रिय' एकः सन्नेकदेशावस्थित इव लक्ष्यते कथः पुनः—इत्यादि।

और परिज्ञात राजाओं का हूण-कन्याओं से विवाह हुआ लिखा मिलता है। मेवाड़ के राना अल्लट ( वि० सं० १०१० ) की रानी हरिया देवी हूणकुल की थी। त्रिपुरी (तेवर, चेदिमंडल) के कलचुरि ( हैहय ) वंशी राजा कर्णदेव की स्त्री आवल्लदेवी हूणकुल की थी जिसका पुत्र यश:कर्णदेव था ( अजनि कलचुरीणां स्वामिना तेन हूणान्वयजलनिधिलक्ष्म्यां श्रीमदावल्लदेव्याम् ।...श्रीयश:कर्णदेव:, एपि० ईंडि० जि० २, ३–५ यश:कर्ण के पुत्र गयकर्ण की प्रशस्ति )।

## (१२) यंत्रक।

संस्कृत यंत्र वा यंत्रक के अपभ्रंश 'जंदरा' का पंजाबी में अर्थ ताला है और तुलसीदास जी के रामचरितमानस में—

नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित प्राण जाहिं केहि बाट॥

इस दोहे में भी जंत्रित का अर्थ 'ताले से बंद' ही है। 'जंदर' की खाती के उस यंत्र के लिये भी रूढ़ि हो गई है जो छत की कड़ी को ऊँचा करने के काम में आता है। संस्कृत में 'यंत्रक' चरखे के अर्थ में आता है। एक पुराना श्लोक है—

रे रे यंत्रक मा रोदी: कं कं न भ्रमयन्त्यमू:।
कटाक्षाक्षेपमात्रेण कराकृष्टस्य का कथा॥

रे चरखे! चूं चूं क्यों करता है? क्यों रोता है? स्त्रियाँ केवल कटाक्ष ही डाल कर किस किस को नहीं घुमा देतीं? (तेरी तरह) जिसे हाथ पकड़ कर खैंचे उसका तो कहना ही क्या? प्रबंधचिंतामणि में यह श्लोक मुंज से उस समय कहा हुआ कहा गया है जिस समय वह तैलप की राजधानी में गली गली घुमाया गया था और जिस अवसर पर उसने 'घर घर तिम्म नचावइ' और 'हिंडइ डोरी बंधियउ' वाला दोहा कहा था। टानी ने यहाँ पर यंत्रक का अर्थ जेलर किया है कि हे जेलर, मत रो इत्यादि! यंत्र की रूढि कहीं कहीं अरहट के अर्थ में भी हो गई है। महाभारत आदि में 'यंत्र' एक तरह की गोफन या तोप के अर्थ में आता है जिससे

शत्रुओं पर बड़े बड़े पत्थर फेंके जाते थे। और वहीं 'यंत्र' का अर्थ वह घिर्रियों वाला डोरियों का समावेश भी है जिससे इंद्रध्वज पूजा के लिए ऊँचा उठाया जाकर फिर धीरे से गिराया जाता था (यंत्रोत्सृष्ट इव ध्वजः)। हिंदी में 'जंतर' भूतप्रेतादि से बचानेवाले लिखित वर्ण या रेखा निवेश पर नियमित हो गया है और बँगला में 'जाँता' आटा पीसने की चक्की ही रह गई है।

## (१३) कुछ पुराने रिवाज और विनोद।

हेमचंद्र की 'देशी नाममाला' में कई शब्द उस समय के रीति रिवाज और विनोद आदि के सूचक हैं। उनका संग्रह पाठकों के मनोविनोद और जानकारी के लिये यहाँ दिया जाता है। अर्थ हेमचंद्र ही का लिखा अनुवाद किया जाता है और कुछ टिप्पणी भी आवश्यकतानुसार दी जाती है—

| | | |
|---|---|---|
| अंवेट्टी | (१।७) | ---मुट्ठी का जुआ (बुझौवल)। |
| अण्णाण | (१।७) | --विवाह काल में जो वधू को दिया जाय (दहेज) या जो विवाह के लिये बधू ही वर को देती है (उलटी मुँहदिखाई ?) |
| आणंदवड | (१।७२) | पति से प्रथम यौवन हरण होने पर स्त्री का रुधिर से छिंटा वस्त्र। वह बांधवों को आनंदित करता है इस लिये आनंदपट कहा जाता है (कई जातियों में अब भी रस्म है कि ऐसे वस्त्र में मिठाई रख कर बिरादरी में बाँटी जाती है)। |
| इंदमह | (१।८१) | कौमार, कुमारावस्था। |
| उडुहिअ | (१।१३७) | व्याही स्त्री का गुस्सा, या व्याही की जूठन। |
| एमिणिआ | (१।१४५) | वह स्त्री जिसका शरीर सूत से नाप कर सूत चारों दिशाओं में फेंका जाता है। किसी देश की विशेष रस्म है। [ पंजाबी |

|  |  |  |
|---|---|---|
|  |  | ✓मिणना = नापना, सं० ✓मा (मीनाति मिनोति ) ] |
| ओलुंकी | (१।१५३) | छिपने का खेल जिसमें लड़के छिप कर खेलते हैं, या चक्षुःस्थगन क्रीड़ा (आँख मिचौनी)। |
| ओरुंज | (१।१५६) | वह खेल जिसमें 'नहीं है, नहीं है' यों कहा जाय ( कहमुकरनी ? ) |
| काजप्प | (२।४६) | स्त्रीरहस्य। |
| खिक्खिरी | (२।७३) | सूचना के लिये छड़ी जिसे डोम आदि इस कारण साथ लिए रहते हैं कि और लोग उन्हें स्पर्श न कर लें (देखिए, फ़ाहियान का वर्णन, पत्रिका भाग ३, पृ. ४२। रजवाडों में अछूत जातियाँ काक या कुक्कुट का पर इसी प्रकार सिर पर लगाती हैं )। |
| गगिज्जा | (२।८८) | नई व्याही बहू। |
| गंजोल्लिअ | (२।१००) | हँसी के स्थान में अंग स्पर्श, जो लोक में 'गिलगिलाविअ' ऐसा रूढ़ है ( गिलगिली चलाना )। |
| छप्पंती | (३।२५) | एक रस्म जिसमें कमल लिखा जाता है। |
| छिछ्छट रमण | (३।३०) | मिंचणकोला, आँखमिचौनी। |
| झोंडलिया | ( ३।६० ) | रासक के सदृश खेल जिसमें कन्याएँ (और बालक ) नाचते खेलते हैं ( रास )। |
| णवलया | ( ४ । २१ ) | एक रस्म जिसमें स्त्री से पति का नाम पूछते हैं और न कहने पर वह पलाशलता से पीटी जाती है ( राजपूताने में कहीं कहीं हिंडोले पर झूलते समय स्त्रियाँ यह खेल अब भी करती हैं, हेमचंद्र ने एक श्लोक |

इसका अर्थ समझाने के लिये उद्धृत किया है जिससे जान पड़ता है कि स्त्री पुरुष मिलकर यह खेल खेलते थे और कुछ चक्कर खाना भी होता था—नियमविशेषश्च णवलया ज्ञेया । आदाय पलाशलतां भ्राम्यति लोकोऽखिलो यस्याम् । पृष्टा पतिनाम स्त्री निहन्यते चाप्यकथयन्ती । उसने जो स्वरचित उदाहरण दिया है उसमें भी 'दोलाविलाससमए' है किंतु 'पुच्छन्ती' 'सही ( = सखी) ही हैं । [नाँव + लेने की क्रिया—लया ]

णीरंगी (४।३१) सिर ढँकने का वस्त्र, घूँघट [आभाणक शतक में नीरंगिका (संस्कृत) एक कहावत में आया है कि अंधे श्वसुर के लिये नीरंगिका कैसी ?]

णेड्डुरिआ (४।४५) भाद्रपद शुक्ल दशमी का उत्सव विशेष।

तुणअ (५।१६) झुंखा नाम का बाजा [पतंजलि का 'मृदंगशंखतूणवाः' का तूणव ? ]

थेवरिअ (५।२९) जन्म के अवसर पर बाजा गाजा।

दुक्कर (५।४२) माघ की रात्रि में चार पहर (प्रति पहर) स्नान का नियम [दुष्कर ! ]।

दुद्धोलणी (५।४६) जो गाय एक बार दुही जाकर फिर भी दुही जा सके।

दिअसिअ (५।४०) सदा भोजन (दिवसिक)।

दिअहुत्त (५।४०) सवेरे का भोजन (दिवाभुक्त)।

दोवेली (५।५०) सायंकाल का भोजन (वियालू)।

धम्मअ (५।६३) चोर दुर्गा के सामने पुरुष को मारकर उसके अंग के रुधिर से जंगल में जो धर्मार्थ बलि करते हैं। [उस समय के ठग ?]

पंथुच्छुहणी (६।३५) सुसराल से पहलेपहल (पीहर) लाई हुई नववधू ।

पाडिअज्झ (६।४३) जो पीहर से बहू को सुसराल पहुँचावे ।

पोअलअ (६।८१) आश्विन मास में उत्सव जिसमें पति स्त्री के हाथ से लेकर अपूप (पुआ) खाता है ।

मुक्कय (६।१३५) जिस स्त्री का विवाह होनेवाला हो उसे छोड़ कर और निमंत्रित स्त्रियों का विवाह हो जाना ।

मट्टुहिअ (६।१४६) व्याही हुई का कोप ।

लय (७।१६) नए विवाहित स्त्री पुरुषों के जोड़े का आपस में नाम लेने का उत्सव । इस शब्द के उदाहरण में हेमचंद्र ने जो गाथा बना कर लिखी है उसका आशय यह है कि महाराज कुमारपाल ! आप की सेना को आती हुई देख कर भागते हुए रिपु-दंपति आपस में नाम ले लेकर पुकारते हैं और अपने 'लय' की याद करते हैं (कि विवाह होने पर भी यों किया था) देखो [ऊपर 'णवलया']

लयापुरिस (७।२०) एक उत्सव जिसमें वधू का चित्र हाथ में कमल देकर बनाया जाता है ।

वहुमास (७।४६) जब नई विवाहिता स्त्री के घर से पति बाहर न जाय वहीं रमण करता रहे वह विशेष रीति या उत्सव [हनीमून !]

वहुहाडिणी (७।५०) एक स्त्री के "ऊपर" जो दूसरी स्त्री लाई जाय ।

वोरल्ली (७।८१) श्रावण शुक्ल चतुर्दशी का विशेष उत्सव [राखी ?]

सुग्गिम्मह (८।३९) फाल्गुनोत्सव यह संस्कृत सुग्रीष्मक का तद्भव है इस लिये देशी में नहीं गिना

है। हेमचंद्र ने भामह में से 'सुग्रीष्मक' के प्रयोग का उदाहरण दिया है [फाग?]

संवाडअ (८।४३) अंगूठे और बिचली अंगुलि से चप्पुटिका बजाना [चुटकी]

हिंचिअ, हिंविअ (८।६८) एक टाँग उठा कर एक ही से चलने का बच्चों का खेल।

## (१४) पंचमहाशब्द।

इस विषय में पहले लिखा जा चुका है कि पाँच प्रकार के कोई बाजे बजाने का समान, जो बड़े राजा की ओर से छोटे सामंत या अधिकारी को मिलता था, वही 'समधिगतपंचमहाशब्द' उपाधि से सूचित किया जाता था। वे पाँच बाजे कौन होते थे इसकी परिसंख्या मैं भेद है, केवल नामगणना मिलती है, कोई वैज्ञानिक विभाग नहीं। अमरकोश नें चार तरह के बाजों का उल्लेख है[1]--तत (तना हुआ) जैसे वीणा, सैरंध्री, रावणहस्त, किन्नरी आदि; आनद्ध (ढका बंधा) जैसे मुरज, दर्दुर, करट आदि; सुषिर (छेद वाला) जैसे वंशी आदि; घन (ठोस) जैसे कांस्यताल आदि। क्षीरस्वामी की टीका अमरकोशोद्घाटन में इस प्रसंग की भरत की परिभाषा भी उद्धृत की है। प्रबंधचिंतामणि में एक जगह 'पंच-शब्द बजानेवालों को सोना बाँट कर फोड़ कर' म्लेच्छों से युद्ध करते समय वलभी के राजा शीलादित्य के घोड़े के चमकाए जाने का उल्लेख है[2]। उसके अनुवाद की टिप्पणी में टानी ने प्रोफ़ेसर ज़ेचरे के हवाले से साधुकीर्ति की शेषसंग्रहनाममाला नामक कोश की पूना की एक हस्तलिखित प्रति से पंचशब्द का यह लक्षण उद्धृत किया है[3] जहां बाजों के पाँच वैज्ञानिक विभाग बताने का यत्न किया है--

---

(१) अमरकोश १ ६।४। और क्षीरस्वामी का अमरकोशोद्घाटन, ओक का संस्करण पृ० ३१।

(२) शास्त्री का संस्करण, पृ० २७६

(३) टानी का अनुवाद, पृ० २१४

**आहतं अनाहतं दण्डकराहतम् ।**
**वाताहतं** कंसालादि **कण्ठाद्यं** पटहादिकम् ।
वीणादिकं च भेर्यादि पञ्चशब्दमिदं स्मृतम् ॥

यह तो हुआ, किंतु कश्मीर के इतिहास में पंचमहाशब्द का और ही अर्थ मिलता है जो इससे पुराना है। वहाँ पंचमहाशब्द का यही अर्थ होता है कि "पाँच राज्य के अधिकार जिनके नाम के पहले 'महा' शब्द हो।" इस अर्थ में 'समधिगतपंचमहाशब्द' मंत्रियों, प्रधानों और कामदारों के लिये आ सकता है, सामंत या स्वतंत्र राजाओं के लिये नहीं। यद्यपि उनमें से एक महाशब्द राजा या रानी के लिये भी आया है। ये पंचमहाशब्द ओहदों या पदों के सूचक थे और वे पाँच प्रकार के बाजों के।

कहते हैं कि पहले कश्मीर का राजप्रबंध इतना अधूरा था कि वहाँ सात ही प्रकृतियाँ ( राज्यांग ) थीं—धर्माध्यक्ष, धनाध्यक्ष, कोशाध्यक्ष, सेनापति, दूत, पुरोहित और ज्योतिषी। व्यवहार, धन आदि से राज्य की यथावत् वृद्धि नहीं हुई थी इस लिये सामान्य देश की तरह राज्य चलता था। राजा जलौक ने अट्ठारह कर्मस्थान ( महकमे ) बना कर युधिष्ठिर की सी स्थिति कर दी[1]। युधिष्ठिर की सी स्थिति कहने का यही अभिप्राय है कि महाभारत, सभापर्व, में जो अट्ठारह 'तीर्थ' या अधिकारी कहे हैं[2] उन सब के अधिकार स्थापित किए। पीछे जब

---

(१) राजतरंगिणी १।११८-१२० मेवाड़ में कमठाण = कर्मस्थान = इमारत का महकमा।

(२) महाभारत, सभापर्व, अध्याय ५, श्लोक ४१ में नारद ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है कि—

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च ।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥

इसकी टीका में इन तीर्थों का विवरण दिया है—

मंत्री पुरोहितश्चैव युवराजश्चभूपतिः ।
पञ्चमो द्वारपालश्च षष्ठोन्तर्वेशिकस्तथा ॥
कारागाराधिकारी च द्रव्यसंचयकृत्तथा ।
कृत्याकृत्येषु चार्थानां नवमो विनियोजकः ॥

कश्मीर के राजा ललितादित्य मुकुटापीड ने[1] कान्यकुब्ज देश के राजा यशोवर्मा[2] को हराया तब उन दोनों में संधिपत्र लिखा जाने लगा। उसमें लिखा गया कि 'यशोवर्मा और ललितादित्य की संधि'। इसपर ललितादित्य के सांधिविग्रहिक[3] मित्रशर्मा से नहीं रहा गया, उसने आपत्ति की कि पीछे नाम लिखे जाने से विजेता होने पर भी मेरे स्वामी का अपमान होता है। राजा ने इसे बड़ी बात समझी यद्यपि लंबी लड़ाई से थके हुए सेनापतियों को यह हुज्जत बुरी लगी। राजा ने पहले के अट्ठारह कर्मस्थानों के ऊपर और पाँच बनाकर उसे उनका अधिकार दे पंच महाशब्दों का पात्र बनाया[4]। वे पाँच पद ये थे—महाप्रतीहारपीडा[5] (राजा की पेश-गाह में लोगों की सूचना देना और मिलाना), महासंधिविग्रह (इलाके ग़ैर), महाश्वशाला (घुड़साल की प्रधानता), महाभाण्डागार (ख़ज़ाने की प्रधानता) और महासाधनभाग[6] (प्रधान कार्यकारी)। ये पाँच पद प्रतिष्ठ मात्र ही हैं, वस्तुतः अट्ठारह कर्मस्थानों में अंतर्भूत हो जाते हैं[7]।

---

प्रदेष्टा नगराध्यक्षः कार्य्यनिर्माणकृत्तथा।
धर्माध्यक्षः सभाध्यक्षो दण्डपाल स्त्रिपञ्चमः॥
षोडशो दुर्गपालश्च तथा राष्ट्रान्तपालकः।
अटवीपालकान्तानि तीर्थान्यष्टादशैव तु॥

(१) कल्हण के अनुसार इसका समय ई० सं० ७०० से ७३६ तक आता है। इसीने बादशाह हिऊनत्संग के राज्यकाल में चीन में दूत भेजा था।

(२) वाक्पति यशोवर्मा का राजकवि था और उसने गउडवहो में यशोवर्मा की गौड़ राजा पर जीत का वर्णन प्राकृत कविता में किया है। यशोवर्मा (इ-च फोन-मो) ने सन् ७३१ में अपने मंत्री सेङ्-पो-त्ता को चीनी दरबार में भेजा था। भवभूति भी इसी के यहाँ था। (राजतरंगिणी ४।१४४)।

(३) संधि और विग्रह (मेल और झगड़े) के अधिकारी, फारेन मिनिस्टर।

(४) राजतरंगिणी ४।१३७ से १४२।

(५) पीडा क्या है? पं० दुर्गाप्रसाद जी ने महाप्रतीहारपीठ (आसन) पद की कल्पना की है जो उचित है।

(६) साधनभाग पुलिस हो सकती है।

(७) अष्टादशानामुपरि प्राक् सिद्धानां तदुद्भवैः। कर्मस्थानैः स्थितिः प्राप्ता ततः प्रभृति पंचभिः॥ राजतरंगिणी ४।१४१।

पीछे शाही आदि राजपुरुषों को भी यह पद मिलने लगे[१] । कश्मीर के राजा जयापीड ने या तो स्वयं 'महाप्रतीहारपीडा( ठा ? )धिकार' पाया या अपनी रानी कल्याणदेवी को यह अधिक कार दिया[२] । उसी राजा के मंत्री जयदत्त ने जयपुर कोट्ट में मठ बनाया था[३] जिसे 'पंचमहाशब्दभाजन' कहा गया है । राजा चिप्पट जयापीड़ की बाल्यावस्था में उसकी माता जयादेवी के भाइयों में बड़े उत्पलक ने 'पंचमहाशब्द' ग्रहण किए, और बाकी कर्मस्थान दूसरे मामाओं ने[४] ।

## (१५) वेलावित्त ।

प्रबंधचिंतामणि में एक जगह आया है कि 'स्थगिकावित्त' से पान दिए जाने के पहले ही मुँह में पान डालकर राजा खाने लगा[५] । स्थगिका तो चंगेरी, पिटारी, थैली या पानदान होता है, तो आशय पानदान रखनेवाले नौकर से हुआ । इसी अर्थ में उसी पुस्तक में 'स्थगीधर'[६] और 'छ ( स्थ )गिकाधर'[७] आया है और सइद नामक समुद्र के व्यापारी को 'नौवित्तक'[८] कहा है जिससे 'स्थगिकावित्त' के अर्थ में कोई संदेह नहीं रह जाता ।

इससे राजतरंगिणी के 'वेलावित्त' का अर्थ स्पष्ट होता है । वहाँ कई जगह राजा के वेलावित्त नौकरों की चर्चा आती है । राजा शंकर वर्मा ( ई० स० ८८३ से ९०२) के मारे जाने पर तीन रानियों के साथ साथ जयसिंह नामक कृतज्ञ, कृती वेलावित्त का उसका अनुगमन करना,

---

(१) वही, ४।१४३ ।

(२) महाप्रतीहारपीडाधिकारं प्रतिपद्य सः। कल्याणदेवी(वीं ?) दाक्षिण्यादक रोदधिकोन्नतिम् ॥ राजतरंगिणी ४।४८५, पहला अर्थ पं० दुर्गाप्रसाद जी के पाठ का है, दूसरा स्टेन का ।

(३) राजतरंगिणी ४।५१२

(४) वही ४।६८०

(५) पृ० ११०

(६) पृ० ८२

(७) पृ० ९५

(८) पृ० २६०

पीछे मरना, लिखा है[1]। ( शिलालेखों में पोते के साथ सहमरण करने वाली 'पोतासतियों' और राजा के साथ 'सती' होनेवाले पाचक, पुरोहित और नौकरों का भी उल्लेख मिलता है )। राजा यशस्कर (ई० स० ९३९---९४८) के लिये लिखा है कि उसने एक वेलावित्त को मंडलेश बना दिया और वह राजपत्नियों से कुव्यवहार करने लगा तो राजा ने इस बात को देखी अनदेखी कर दिया[2]। वही राजा सांघातिक रोग से पीड़ित होकर मठ में मरने गया और उसके प्राण नहीं निकले तो साम्राज्य हर लेने की जल्दी करनेवाले ( कृतत्वरैः ) मित्र, बंधु, नौकर और वेलावित्तों ने उसे विष देकर मार डाला[3]। उसके पुत्र संग्रामदेव (ई० स० ९४८-९४९) के राजा होने पर पर्वगुप्त ने राज्य के लोभ में संग्रामदेव के पिता के किसी वेलावित्त से नज़र की तरह लाई हुई फूलमाला गले में डाल घसीट कर संग्रामसिंह को राजसिंहासन से गिराया और दूसरे घर में मार कर गले में शिला बांधकर वितस्ता में डुबो दिया[4]।

रानी दिद्दा ने, जो बहुत बदनाम थी, भुय्य नामक नगराधिपति को विष से मरवा कर रक्क के पुत्र वेलावित्त देवकलश को, जो निर्लज्ज छिनला कुटनापन करता था, भुय्य के स्थान पर नियत किया[5]।

इन सब स्थलों में वेलावित्त का तात्पर्य किसी प्रकार के कृपापात्र या हाजिरबाश नौकर से है जिसका समय से कुछ संबंध है।

इसीसे मिलता हुआ शब्द प्रसादवित्त है जो कृपापात्र ( मर्ज़ीदां ) के लिये राजतरंगिणी में दो जगह आया है। एक चमक नामक चारण था जो कुटनेपन से नए राजा कलश (ई० स० १०६३ से

---

(१) राजतरंगिणी ५।२२६।पं० दुर्गा प्रसाद जी के संस्करणमें 'वेलाविभुः' पाठ है जो कश्मीरी लिखावट में 'त्त' और 'भु' की समानता से हुआ है।

(२) नीतस्य मण्डलेशत्वं वेलावित्तस्य भूभुजा। देवीः कामयमानस्य चक्रे गजनिमीलिका॥ (राजतरंगिणी, ६।७३ )

(३) वही ६।१०६

(४) राजतरंगिणी ६।१२५–२६।

(५) वही ६।३२२–३२४।

१०८९) के मुँह लग गया, मंत्रियों के बीच उस 'प्रसादवित्त' ने प्रतिष्ठा पाई और वह 'नृक्कुर' 'ठक्कुर' कहलाने लगा'[1]। उसी राजा कलश की भोगपत्नी कय्या की आगे चलकर निंदा की गई है कि सात रानियाँ और एक पासवान तो सती हुईं, किंतु उस प्रसादवित्ता ने स्त्रीजाति को कलंकित किया। वह विजयक्षेत्र में किसी ग्रामनियोगी गाँव के कर्मचारी की रक्षिता बन कर रहने लगी[2]।

संस्कृत व्याकरण के अनुसार वित्त का अर्थ 'पाया हुआ', 'जाना हुआ या प्रसिद्ध' या 'विचारा हुआ' हो सकता है[3]। पाणिनि ने एक सूत्र में दिखाया है कि 'अमुक बात से प्रसिद्ध' इस अर्थ में 'वित्त' आता था[4]। अतएव 'स्थगिकावित्त' का अर्थ हुआ 'स्थगिका रखने से राज दरबार में प्रसिद्ध या जाना गया', वेलावित्त का अर्थ हुआ 'राजा का समय जानने से प्रसिद्ध अर्थात् जो समय असमय राजा के पास जा सके और जिसे अवसर की कोई रुकावट न हो', और प्रसादवित्त हुआ 'राजा की कृपा के कारण प्रसिद्ध'। वित्त का अर्थ पाया हुआ या धन ही करें तो क्रमशः अर्थ हुए —स्थगिका रखना ही है धन जिसका, वेला जानना या वेला का उपयोग करना ही है वित्त जिसका और कृपा ही है वित्त जिसका। नौवित्तक तो स्पष्ट ही है।

## (९६) डिंगल।

डिंगल शब्द के अर्थ में कई मतभेद हैं। राजपूताने की प्राचीन

---

(१) राजतरंगिणी ७।२८७–९०। स्टाइन ने न मालूम नृक्कुर का अर्थ 'मनुष्यों में मुर्ग़ा' कैसे किया है।

(२) वही ७।७२४–८।

(३) वित्तो भोगप्रत्यययोः (पाणिनि ८।२।५८) धनं हि भुज्यते इति भोगोऽभिधीयते। वित्तोऽयं मनुष्यः प्रतीतः प्रतीयते इति (काशिका) वेत्तेस्तु विदितो निष्ठा विद्यतेर्विन्न इष्यते। वेत्तेर्विन्नश्च वित्तश्च भोगे वित्तश्च विन्दतेः (महाभाष्य)। विन्दतेर्धनप्रसिद्ध्योः (भाषावृत्ति)।

(४) तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ (पाणिनि ५।२।२६) तृतीयासमर्थात् वित्तः प्रतीतो ज्ञात इति (काशिका)

कविता, जिसमें देशी अपभ्रंश अधिक आते हैं और कर्कश शब्दों का अधिक प्रयोग होता है, डिंगल कहलाती है। डिंगल कविता का समय हो नहीं चुका, अब भी चारण वैसी कविता करते हैं। राजपूताने के कवि और कविता जाननेवाले व्रजभाषा की सुकुमार कविता को तो पिंगल कहते हैं और कर्कशशब्दप्रचुर देशी कविता को डिंगल। पिंगल तो छंद के आचार्य हैं, यह नहीं कि डिंगल कविता के छंद कोई दूसरे हैं, किंतु डिंगल के छंद पिंगल सूत्रों में लिखे छंदों में अंतर्भूत हो जाते हैं, किंतु व्यवहार में शृंगार का दोहा जिसकी भाषा सुकुमार हो 'पिंगल' कहलावेगा ( लक्षण शास्त्र का लक्ष्य पर उपचार ) और दानस्तुति, निंदा ( भूँडा ) या वीरता का देशी दोहा डिंगल।

एक महाशय ने तो डिंगल को प्राचीन राजस्थानी भाषा का नाम मान लिया है और राजपूताने की चटशालों की अखरावट को डिंगल की वर्णमाला कह दिया है। इसका अत्यासक्ति को छोड़ कर कोई प्रमाण नहीं। कुछ लोग डिंगल का अर्थ 'डगर की बोली' करते हैं पर डगर क्या है और कहाँ है इसका कुछ पता नहीं। पहाड़ी या रेतली भूमि अर्थ करने से भी डिंगल कविता के क्षेत्र का यह नाम होना सिद्ध नहीं होता। एक चारण महाशय इसकी व्युत्पत्ति में कहते हैं कि "म्हैं डगल बेड़ा कराँ हाँ" अर्थात् व्रजभाषा के कवि तो कटे छंटे तराशे पत्थरों से मकान बनाते हैं, हम मिट्टी के टेढ़े मेढ़े डगल या ढेले दो दो जोड़ कर झोंपड़ा चुनते हैं, इस 'डगल' से डिंगल बन गया। इस निर्वचन में भी डगल डिंगल के श्रुतिसाम्य के अतिरिक्त कुछ तत्व नहीं।

मेरे मत में डिंगल केवल अनुकरण शब्द है, 'काफ़िया न मिलेगा तो बोझों तो मरेगा' की कहावत के अनुसार पिंगल से भेद दिखाने के लिये बना लिया गया है। जैसे वासवदत्ता के विषय में ( अधिकृत्य ) बनाई गई कहानी वासवदत्ता कहलाती है वैसे ही लक्षण शास्त्र और लक्ष्य रचना के अभेदोपचार से हिंदी कविता 'पिंगल' कहलाई।

उससे भेद करने के लिये, श्रुतिकटु टवर्गबहुल भाषा की कविता के लिये 'डिंगल' एक यदृच्छा शब्द है, डित्थ आदि की तरह इसका कोई अर्थ नहीं है।

निश्चित अर्थ के वाचक किसी शब्द से, उससे भेद दिखाने के लिये, उसीकी छाया पर दूसरा अनर्थक शब्द बनने और उसके दूसरे अर्थ के वाचक हो जाने के कई उदाहरण मिलते हैं।

(१) कर्म का अर्थ सब जानते हैं। कुछ धातु द्विकर्मक होते हैं जिनके साथ एक कर्म गौण या **अनुक्त** होता है और दूसरा प्रधान या **उक्त**। इस अनुक्त या 'अकीर्तित' कर्म के लिये वैयाकरणों के यहां 'कल्म' संज्ञा है। यह संज्ञा भाष्यकार पतंजलि ने बनाई या परोक्षा, भवन्ती आदि की तरह पुराने आचार्यों की बनाई है इसका तो कोई पता नहीं, किंतु इसका अर्थ कुछ नहीं है, केवल 'कर्म' से भेद करने के लिये उससे मिलता जुलता नाम बना लिया है। स्वामी दयानंद ने केवल परिष्कार जाननेवाले नवीन वैयाकरणों को चकराने के लिये इसका उपयोग किया किंतु 'कल्म', 'कर्म' ऐसे ही हैं जैसे डिंगल, पिंगल।

(२) कुमार का अर्थ बालक है। उसके तद्भव 'कँवर' का अर्थ उस मनुष्य में रूढ़ हो गया है जिसका पिता जीता हो। किसी रजपूत को पिता के जीते 'कँवर' न कह कर 'ठाकुर' कहना बाप की गाली समझा जाता है। 'कँवर रामसिंह' का अर्थ हुआ रामसिंह जिसका पिता जीता है, पिता के मरने पर वह ठाकुर हो जायगा। अब यदि रामसिंह के पुत्र हो जाय तो वह क्या कहलावेगा? उसका पिता स्वयं कँवर है। इस लिये दादा के सामने पोते के लिये सांकेतिक नाम बनाया गया—भँवर। भँवर का कोई अर्थ नहीं है, न भ्रमर से संबंध है, यह केवल कँवर से भेद करने के लिये मिलता जुलता शब्द है। वैसेही पड़दादा के जीते दुर्लभ पड़पोते को 'तँवर या टँवर' कहते हैं।

(३) जातियों के विभाग में दस्सा और वीसा पद आते

हैं। दस्सा का अर्थ दासीपुत्र, या मातृपक्ष से हीन है। 'दासी' से दस्सा बना है। इस शब्द के प्रचलित होने पर असल या शुद्ध जातिवालों ने 'दस्सा' में दस की संख्या समझ कर और बीस बिस्वे की पूर्णता के उपचार से अपना नाम 'बीसा' रख लिया। दस्सा का दस से कुछ संबंध नहीं है, न बीसा का बीस से; किंतु दास से बननेवाले दस्सा को हीनपक्ष पर रूढ़ देख कर उसका दस की संख्या से श्रुतिसाम्य मानकर उससे भेद करने के लिये और अपने को बीसों बिस्वा 'असल' बताने के लिये बीसा नाम गढ़ लिया गया।

(४) रुक्का का अर्थ पत्र है। सांकेतिक व्यवहार में एक रियासत में पत्रों के क्रमानुसार दरजे हैं जैसे कैफ़ियत, परवाना, रूबकार आदि। रुक्का नीचे के अधिकारी के नाम ऊँचे अधिकारी की लिखावट के अर्थ में रूढ़ हो गया है। रुक्के से नीचे दर्जे की लिखावट के लिये 'सुक्का' नाम बनाया गया है। सुक्का का कोई अपना अर्थ नहीं है, न इसका सूखे से कोई संबंध है; केवल रुक्के से भेद बताने के लिये यह सुक्के का तुक्का चलाया गया है।

( ५ ) पंजाबी 'अढाई घर' सारस्वतों की 'पंचजाति' कुमड़िये, जैतली, झिंगण, तिक्खे और मोहलों से भेद दिखाने के लिये ही 'चार घर' की जातियों के नाम कुछ विकृत करके लुमड़िये, पेतली, पिंगण, पिक्खे और बोहले रक्खे गए (सारस्वतसर्वस्व, पृ० २३२-३)। इन पदों का कोई अर्थ नहीं है, पहले नामों से भेदमात्र दिखाने को परिवर्तन किया है।

## (१७) रामचरितमानस और संस्कृत कवियों में बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव।

(१) सुनु दसमुख खद्योतप्रकासा।
कबहुँ कि नलिनी करइ बिकासा॥

यदि खद्योत भासापि समुन्मीलति पद्मिनी।

(२) स्याम सरोज दाम सम सुंदर ।
प्रभुभुज करि कर सम दसकंधर ॥
सो भुज कंठ कि तव असि घोरा ।

रघुपतिभुजदण्डादुत्पलश्यामकान्ते-
र्दशमुख भवदीयान्निष्कृपाद्वा कृपाणात् ॥

---

(३) चंद्रहास हर मम परितापं ।
रघुपति विरह अनल संजातं ॥

चन्द्रहास हर मे परितापं रामचन्द्र विरहानल जातम् ॥

रामचरितमानस के तीनों अवतरण सुंदरकांड में से हैं और संस्कृत के तीनों कवि जयदेव के प्रसन्नराघव नाटक में से (पूना का छपा, सन् १८९४, देखो ज० रा० ए० सो०, अप्रैल १९१४)

(४) है कपि एक महाबल सीला ।
आवा प्रथम नगर जेहि जारा ।......
......सत्य नगर कपि जारेउ बिनु प्रभु आयसु पाइ ।
फिरि न गयउ सुग्रीव पहँ तेहि भय रहा लुकाइ ॥
(लंकाकांड)

कस्त्वं बानर रामराजभवने लेखार्थ संवाहको
यातः कुत्र पुरागतः स हनुमान् निर्दग्धलङ्कापुरः ।
बद्धो राक्षससूनुनेति कपिभिः संताडितस्तर्जितः
स व्रीडाप्तपराभवो वनमृगः कुत्रेति न ज्ञायते ॥
(? हनुमन्नाटक में से, कुवलयानंद में उद्धृत)

## (१८) न्यायघंटा ।

राजतरंगिणी में राजा हर्ष (ई० स० १०८९—११०१) के वर्णन में लिखा है कि उसने अपने महल के सिंहद्वार पर चारों ओर बड़े बड़े चार घंटे बँधवा दिए जिससे उनके बजने से वह विज्ञप्ति (प्रार्थना) करना चाहनेवालों का आना जान जाय । जानकर तथा उनकी

दुखिया बानी सुनकर वह उनकी तृष्णा ऐसे हटाता जैसे बरसाती मेघ चातकों की[१] ।

प्रबंधचिंतामणि में एक कथा है कि चौड ( = ? चोड, चोल, या गौड ) देश में गोवर्धन नामक राजा के यहाँ सभामंडप के सामने लोहे के स्तंभ पर न्यायघंटा था जिसे न्याय चाहनेवाला बजा दिया करता । एक समय उसके एकमात्र पुत्र ने रथपर चढ़कर जाते समय जान बूझ कर एक बछड़े को कुचल दिया । बछड़े की माता (गौ) ने सींग अड़ाकर घंटी बजा दी । राजा ने सब हाल पूछकर अपने न्याय को परम कोटि पर पहुँचाना चाहा । दूसरे दिन सवेरे स्वयं रथ पर बैठ राह में अपने प्यारे इकलौते पुत्र को लिटा कर उस पर रथ चलाया और गौ को दिखा दिया । राजा के सत्व और कुमार के भाग्य से कुमार मरा नहीं[२] ।

जिनमंडनगणि ने कुमारपाल प्रबंध में लिखा है कि कुमारपाल ने राजसिंह द्वार पर न्याय घंटे बँधवाए थे[३] ।

अमीर खुसरो अपने नुह सिपिहर अर्थात् नवचक्र नामक फारसी ग्रंथ में जो कुतबुद्दीन मुबारक शाह ( तख़्तनशीनी सन् हिजरी ७१६, ई० १३१६ ई० ) के समय में बना था लिखता है कि मैंने यह कथा सुनी है कि दिल्ली में पाँच या छै सौ वर्ष पहले अनंगपाल नामी एक बड़ा राय था । उसके महल के द्वार पर पत्थर के दो सिंह थे । इन सिंहों के पास उसने एक घंटी लगवाई कि जो न्याय चाहें उसे बजा दें जिस पर राय उन्हें बुलाता, पुकार सुनता और न्याय करता । एक दिन एक कौआ आकर घंटी पर बैठा और घंटी बजाने लगा । राय ने पूछा कि इसकी क्या पुकार है । यह बात अनजानी नहीं है कि कौए सिंह के दाँतों में से मांस निकाल लिया करते हैं । पत्थर के सिंह शिकार नहीं करते तो कौए को अपनी नित्य जीविका कहाँ

---

(१) राजतरंगिणी ७।८७६-८० ।

(२) पृ० २८५ ।

(३) आत्मानंद सभा का संस्करण, पृ० ९० (२)

से मिले? राय को निश्चय हुआ कि कौए की भूख की पुकार सच्ची है, क्योंकि वह उसके पत्थर के सिंहों के पास आन बैठा था। राय ने आज्ञा दी कि कई भेड़े बकरे मारे जायं जिससे कौए को कई दिन का भोजन मिल जाय[1]।

इब्नबतूता सुलतान अलतमश के वर्णन में लिखता है कि उसने आज्ञा दी कि जिस किसी पर अन्याय हुआ हो वह रंगीन कपड़े पहना करे। इस देश में लोग सफेद कपड़े पहनते हैं। इससे जब सुलतान का दरबार होता या वह बाहर जाता और किसी को रंगीन कपड़े पहने देखता तो उसकी पूछ ताछ करता और सताने वाले से उसे न्याय दिलवाता। किंतु सुलतान इस उपाय से प्रसन्न नहीं हुआ। सोचा कि कुछ लोगों पर रात को अन्याय होता है मैं उनका भी निस्तार करना चाहता हूँ। इसलिये उसने दरवाजे पर दो संगमर्मर के सिंह ऊँची चौकियों पर स्थापित किए। इनके गले में एक जंजीर थी जिसमें एक बड़ा घंटा लटक रहा था। अन्याय के सताए रात को आकर घंटा बजाते, सुलतान सुनकर झट पूछ ताछ करता और पुकारू को संतुष्ट करता[2]।

सुलैमान सौदागर जो भारत और चीन में पहला मुसलमान यात्री था, और जिसकी यात्रा का विवरण हिजरी सन् २३८ (ई० स० ८५१) के समीप का है, चीन के वर्णन में लिखता है—हर एक शहर में एक छोटी घंटी होती है जो राजा के या शासक के (बैठने के स्थान में) सिर पर दीवाल के बँधी होती है। इसके बजाने के

---

(१) इलियट, जिल्द ३, पृ० ५६५। महाभारत में कुलिंग शकुनि, कलिंगशकुनि या भूलिंगशकुनि (भू पत्ती) का दृष्टांत कई जगह दिया है कि वह कहा तो करता है, मा साहसं मा साहसं, साहस मत करो, किंतु स्वयं इतना साहस करता है कि शेर की दाढ में से मांस के टुकड़े निकाल कर खाता है। 'पर उपदेश कुशल' लोगों पर इस पत्ती का दृष्टांत दिया है 'न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति। प्रकृतिं यान्ति भूतानि कुलिङ्गशकुनिर्यथा'। हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व में इसे 'मासाहसपत्ती' कहा है।

(२) इलियट, जिल्द २ पृ० ५९१।

लिये लगभग तीन मील लंबी डोर बाजार पर से जाती है कि लोग उसे पहुँच सकें। जब डोरी खिंचती है तब शासक के सिर पर घंटी बजती है और वह झटपट आज्ञा देता है कि जो मनुष्य यों न्याय के लियें पुकार रहा है वह मेरे पास लाया जावे। पुकारू स्वयं अपनी दशा और अन्याय का विवरण कहता है। यही चाल सब सूबों में है[१]।

बीकानेर[२] के राजा रायसिंह के भाई पृथ्वीराज का हाल सुनने से अकबर के समय में भी ऐसी जंजीर का होना पाया जाता है। पृथ्वीराज ने जो बड़े कवि थे यह छप्पय लिखकर गाय के गले में बाँध दिया था—

> अधर धरत त्रिण मुख्य ताहि कोऊ नहिं मारत।
> सो हम निस दिन चरत बैन दुरबल उच्चारत॥
> सदा खीर घृत झरत मोर सुत पृथ्वी बसावत।
> कहा तुरकन को कटु कहा हिंदुन मधु पावत॥
> हम नगार पनही हमहि गलो कटावत हम दिए।
> पुकार अकव्बर साह सों कहा खून हमने किए॥

वह फिरती फिरती बादशाह के महल के नीचे आकर स्वभाव से अदालत की जंजीर से सिर मारने लगी और घंटे बजने लगे। बादशाह फरियादी का आना जान निकल आए और कागज़ पढ़कर उन्हें ऐसी करुणा आई कि गोवध की मनाई कर दी गई।

पूरब के कवि इसी छप्पय के शब्दों में कुछ फेर बदल कर इसे नरहरि कवि की रचना कहते हैं जो उसने गाय के सींगों से बाँध दी थी।

सम्राट् जहाँगीर की ज़ंजीर अदालत का प्रमाण तुजुक जहाँगीरी

---

(१) रेनादो का अनुवाद; सन् १७३२ का छपा, पृ० २५।

(२) यहां से लेख के अंत तक का विषय मुंशी देवी प्रसाद जी की कृपा से प्राप्त हुआ है।

से मिलता है । वहाँ जहाँगीर लिखता है[१] कि तख्त पर बैठते ही पहिला हुक्म जो मैंने दिया वह इनसाफ़ की जंजीर बाँधने का था, जो अदालत के मुत्सद्दी जुल्म से सताए हुए लोगों की फ़रियाद को पहुँचाने और जांच करने में सुस्ती और ढील करें तो वे लोग इस जंजीर को हिला दें जिस से ख़बर हो जावे और वह इस तौर पर बनाई गई कि मैंने हुक्म दिया कि ४ (ईरान के ३२) मन खरे सोने की ३० गज़ लंबी जंजीर बनावें जिस में ६० घंटे लगे हों उसका एक सिरा तो किले की शाह बुर्ज से लगाया, और दूसरा दरिया (यमुना) के किनारे तक ले जाकर एक पत्थर की लाट पर गाड़ा गया ।

हिंदी तारीख चगत्ता में जो जयपुरी बोली में जयपुर के महाराज माधोसिंह जी (पहले) की आज्ञा से बनाई गई थी और जिसकी प्रति टोंक के पंडित रामकर्ण जी के पास थी, मुंशी जी ने जहाँगीर के इनसाफ़ की यह कथा पढ़ी थी । एक गाय ने जंजीर हिलाई और बादशाह ने उसे देखकर साथ में एक सिपाही कर दिया । गाय सिपाही को एक पठान के घर ले गई जिसने कि उसका बछड़ा मार डाला था । सिपाही पठान को बादशाह के पास ले आया । बादशाह ने उसके हाथ पाँव बँधवा कर उसे गाय के सामने डलवा दिया और गाय ने उसे सींगों से मार डाला ।

शायद उसी किताब में यह कथा भी है कि एक बार एक ऊँट ने जंजीर हिलाकर घंटी बजा दी । बादशाह ने उसकी पीठ छिली हुई और लोहू लुहान देखकर ऊँटवाले से कहा कि अगर अब छः मन से ज़्यादा बोझ लादा तो सज़ा मिलेगी और उस दिन से ऊंट पर छः मन से ज़्यादा बोझ न लादने का कानून बन गया ।

## (१८) पुरानी हिंदी ।

संवत् १२७२ के मंगलाना के शिलालेख में संस्कृत के नीचे चार पंक्ति उस समय की पुरानी हिंदी कविता में भी हैं जिसे प्राकृत,

---

[१] जिल्द १ पृ० ५ ।

अपभ्रंश और पुरानी हिंदी का मिश्रण कह सकते हैं। लेख का उपयोगी अंश यह है—

श्रीमंगलाणके दधीचवंशे महामंडलेश्वर श्रीकदुवराजदेवपुत्र श्रीपदम:सीहदेवसुतमहाराजपुत्र श्रीजयत्रस्यंहदेवेन······वापी कारापिता

इसके नीचे यह प्राचीन संस्कृत श्लोक दाता की प्रशंसा में उद्धृत किया है—

किं जातै: बहुभि पुत्रै सोकसंतापकारकै
वरमेककुलालंवो यत्र विसर्यते कुलं ॥१॥

( लिपि ज्यों की त्यों रहने दी है। ) इसके नीचे इसी श्लोक का अनुवाद प्रसंग के अनुसार कुछ बढ़ा कर यों दिया है—

कुलु न यत्थ वीसवइ किंपि तिणि पुत्तेण जाएण।
असुहसोवसंतावकरणुँ वीयकुलसंतावणु॥
पदमसीह अंगज देवगुरुभतिहिं रकतै।
जयतसीह वरु एकु किंपि तह बहु जातई॥

[ कुल, न, जहाँ, विश्रुत हो, क्या, उससे, पुत्र से, जाए से, अशुभ-शोक-संताप-करण ( से ), दो-कुल-संतापन ( से ), पदमसिंह (का) पुत्र, देव-गुरु-भक्ति में, रक्त, जयतसिंह, वर, एक, क्या, वहाँ बहु, जातों से। ] **वीसवइ**-मूल श्लोक का विश्रूयते जो लेख में अशुद्ध है। **वीय**-दोनों, माता पिता के। **रकतै, जातइ**-दोनों चालें लिखने की साथ साथ,—रकतइ, जातइ; रकतै, जातै। अंतिम तीनों पंक्तियाँ हिंदी ही हैं।

### (२०) राजाओं की नीयत से बरकत।
### उनका कमाई के लिये मूर्तियाँ पधराना।

प्रबंधचिंतामणि में एक कथा है कि एक समय राजा भोज केवल एक मित्र को साथ लिए हुए रात को नगर में घूम रहा था, प्यास से व्याकुल होकर किसी वेश्या के घर जा उसने मित्र द्वारा जल मँगाया। वह शंभली अति प्रेम से किंतु कुछ देर से तथा खेद जतला कर साँठे के रस से भरा करुआ लाई। मित्र ने उसके खेद का

कारण पूछा तो वह बोली 'पहले एक गन्ने के रस में एक घड़ा और एक बाहटिका ( वाटी, बाटकी = कटोरा ) भर जाता था किंतु अब राजा का मन प्रजा की ओर विरुद्ध है इस लिये इतनी देर में ( एक साँठे से) एक बाहटिका ही भरी, यही मेरे खेद का कारण है । राजा ने यह सुनकर सोचा कि शिवमंदिर में कोई बनिया बड़ा भारी नाटक करा रहा था, मेरे चित्त में उसे लूटने की आई, इस लिये यह जो कहती है सत्य है । राजा लौटकर घर आया और सो गया । दूसरे दिन राजा प्रजा पर कृपा दिखाकर फिर उस पण्य-रमणी के घर गया और साँठे में अधिक रस हो जाने के संकेत से यह जानकर कि आज राजा प्रजा की ओर वत्सलता दिखाता है उस वेश्या ने यही कहकर राजा को संतुष्ट किया[1] । इस कहानी पर मुंशी देवीप्रसाद जी ने कृपा करके यह विशेष लेख भेजा है जिसके लिये मैं उनका उपकृत हूँ ।

ऊपर लिखी कहानी से मिलती हुई कथा कई फ़ारसी किताबों में देखी गई । एक किताब ( शायद इख़लाक महोसनी ) में उस बादशाह का नाम भी बहरामगोर पढ़ा था । यह कहानी बहुत मशहूर है, हिंदू मुसलमान बादशाहों की नीयत के बारे में मिसाल के तौर पर इसे कहा करते हैं । जहाँगीर बादशाह ने भी उसको अपनी तुजक की दूसरी जल्द में एक प्रसंग से लिखा है जब कि वे उज्जैन में थे और प्रसंग शिकार का था । वे लिखते हैं कि "जुमे के दिन ( १३वें नोरोज के ) आजर[2] महीने की पहिली तारीख को दिल में बाज़ और जुर्रे के शिकार की रग़बत ( रुचि ) बढ़ी तो सवारी जुवार के खेत में होकर निकली । हर एक तने ( संटी में ) एक ही बाली निकला करती है पर एक तना ऐसा देखने में आया जिसमें १२ बालियाँ थीं, (देखकर) हैरत हुई और उस वक्त बादशाह और बाग़वान की हिकायत ( बात ) याद आई ।

एक बादशाह गर्म हवा में एक बाग के दरवाजे पर पहुँचा । बूढ़ा बागवान दरवाज़े पर खड़ा था । पूछा कि इस बाग में अनार हैं ? कहा 'हैं' । बादशाह ने फरमाया कि एक प्याला अनार के रस का ला । बागवान की लड़की अच्छी सूरत और स्वभाव की थी; उसको इशारा किया कि अनार का

---

(१) पृष्ठ ११४-१५ ।

(२) पूस बदी ६ शुक्रवार सं० १६७५ ता० २७ नवंबर १६१८ ।

रस ले आ । लड़की गई और फौरन एक प्याला अनार के रस का बाहर ले आई । उस पर कुछ पत्ते भी रखे थे ।

बादशाह ने उसके हाथ से लेकर पी लिया और लड़की से पूछा कि इन पत्तों के रस पर रखने का क्या मतलब था । उसने बड़ी मीठी बोली से अर्ज किया कि ऐसी गर्म हवा में पसीने से डूबे हुए और सवारी से पहुँचने में एकदम पानी पीना हिकमत के खिलाफ है, इस विचार से मैंने पत्ते रस और प्याले के ऊपर रख दिए थे कि धीरे धीरे पीयें ।

उसकी यह सुहानी अदा सुलतान के मन में भा गई और उसने चाहा कि मैं इस लड़की को महल की खिदमतगारनियों में दाखिल करूँ ।

फिर उस बागवान से पूछा कि तुझ को इस बाग से क्या हासिल होता है । कहा, ३०० दीनार । कहा, दीवान ( कचहरी ) में क्या देता है, कहा कुछ नहीं । सुलतान किसी पेड़ का कुछ नहीं लेता है बल्कि खेती का भी दसवाँ हिस्सा ही लेता है ।

बादशाह के मन में आया कि मेरी सलतनत में बाग बहुत और दरख्त बे शुमार हैं, अगर बाग के हासिल भी दसवाँ भाग दें तो काफी रुपया होता है, और रैयत को कुछ नुकसान भी नहीं पहुँचता । अब फरमा दूँगा कि बागों का भी महसूल लिया करें ।

फिर कहा कि अनार का कुछ रस और भी ला । लड़की गई और देर में अनार के रस का एक प्याला लाई । सुलतान ने कहा कि जब तूँ पहले गई थी तो जल्दी आगई थी और बहुत जियादा ले आई थी । अब तू ने बहुत रास्ता दिखाया और थोड़ा भी लाई । लड़की ने कहा कि तब तो मैंने प्याला एक ही अनार के रस से भर लिया था; अब ५।६ अनारों को निचोड़ा और उतना रस नहीं निकला । सुलतान की हैरत और भी बढ़ गई ।

बागवान ने अर्ज की कि महसूल में बरकत बादशाह की नेक नीयती से होती है । मेरे मन में ऐसा आता है कि तुम बादशाह होगे । जब तुमने बाग का हासिल मुझ से पूछा तो तुम्हारी नीयत डावाँडोल हो गई जिससे फल की बरकत जाती रही । सुलतान पर इस बात का बड़ा असर ( प्रभाव ) पड़ा और उसने उस खयाल को दिल से दूर कर के कहा कि एक बेर फिर अनार के रस का एक प्याला ला । लड़की फिर गई और जल्दी से भरा हुआ प्याला बाहर ले आई और उसने उसे हँसते खेलते सुलतान के हाथ में दिया ।

सुलतान ने बागवान की बुद्धिमानी पर शाबासी देकर सारा हाल ज़ाहिर कर दिया और लड़की बागवान से माँग ली । उस खबरदार बादशाह की यह हिकायत दुनियाँ के दफ़्तर में यादगार रह गई ।

जहाँगीर अपनी ओर से इस कहानी पर लिखते हैं कि इन बातों का जाहिर होना नेक नीयत और इंसाफ के नतीजों से है। जब कि इंसाफी बादशाहों की नीयत और हिम्मत दुनियाँ के आराम और रैयत की भलाई में लगी रहे तो नेकियों का जाहिर होना, खेतियों तथा बागों की पैदावारों का बढ़ जाना मुश्किल नहीं है। खुदा का शुक्र है कि इस सलतनत (हिंदुस्तान) में पेड़ों के हासिल लेने की लाग कभी नहीं थी और न अब है। अमलदारी के सारे मुल्कों में एक दाम और एक कौड़ी भी इस सीगे (खाते) की दीवान-आला और खजाने आमरे में दाखिल नहीं होती है बल्कि हुक्म है कि जो कोई खेती की जमीन में बाग लगावे तो उसका हासिल माफ रहै। उम्मेद है कि सच्चा खुदा इस न्याजमंद (दीनहीन) को हमेशा नेक नीयती की श्रद्धा दे।

''जब मेरी नीयत भलाई की है तो तू मुझे भलाई दे' ॥

फारसी भाषा के एक कवि ने बादशाहों की नेक नीयत का बखान करते हुए कहा है—

चु नीयत नेक बाशद बादशा रा ।
बजाये गुल गुहर खेजद गियारा ॥

अर्थात् जो बादशाह की नीयत नेक हो तो फूल की जगह घास में मोती लगे।

ऊपर जो कहा है कि भोज के मन में शिवमंदिर के नाटक को लूटने की आई वह चाहे अनुचित हो, किंतु लोगों के धर्मविश्वास और विनोद से कमाई करना राजाओं का धन संग्रह करने का पुराना उपाय है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में एक कोशाभिसंहरण का प्रकरण (९२) है, उसमें प्रजा से नज़राने लेने, संमान के बदले धन लेने आदि का वर्णन करके लिखा है कि कुशीलव (नाटककार) और रूपाजीवा (वेश्या) से राजा उन की आधी कमाई ले ले। आगे धर्म के धन की कथा चलती है— ''किसी भी पाखंड (धर्मपंथ) के संघ का धन, या ऐसा देवधन जिसे वेद पढ़े हुए (श्रोत्रिय) न भोगते हों, कृत्यकार (हथकंडों में उस्ताद) लोग यों कहकर ख़जाने में पहुँचा दें कि हमने वह

---

(१) तुजुक जहाँगीरी, जिल्द २, पृ० २४३-२४

धन किसी ऐसे के यहाँ रखा था जो मर गया, या ऐसे घर में रखा था जो जल गया। देवताध्यक्ष (अधिकारी) दुर्ग और राष्ट्र के देवताओं का जितना धन हो उसे एकत्र करके कोश बना ले और वैसे ही ले आवे। रात ही रात में कहीं पर देवमंदिर या चितास्तूप या कोई सिद्धस्थान या अद्‌भुत घटना खड़ी करके वहाँ यात्रा और समाज लगवा देवे और उनसे (यात्रा तथा समाजों में आनेवालों के चढ़ावे से) कमावे। यदि चैत्य या बाग के वृक्ष में विना समय फूल फल आ जाय तो देवता का आजाना (कोप) प्रसिद्ध करे (और शांति के चढ़ावे उगाहे)। वृक्ष में किसी मनुष्य को छिपा उसके द्वारा राक्षस का भय दिखला कर सिद्ध का स्वांग बनाए हुए लोग पुर और देशवासियों के सुवर्ण से उसका प्रतीकार (शांति) करावें। सोना भेट चढ़ाने पर सुरंग वाले कुएँ में नाग दिखलावे जिसका सिर बँधा रहे (कि वह दर्शकों को न काटे) श्रद्धालुओं को (भेट लेकर) नाग की प्रतिमा[1] में जिसमें भीतर छेद हो, या मंदिर या समाधि के छेद में, या वल्मीक के छेद में प्रत्यक्ष नाग का दर्शन करावे, पहले उसे खिला कर सुस्त बना दे। जो श्रद्‌दधान न हों उनके आचमन और छीटने के पानी में कोई (नशे का) रस मिला कर (उनके बेहोश होने पर देवता का कोप बतावे या किसी लावारिस को साँप से कटवा कर अपशकुन मिटाने के लिये शांति करने के बहाने से कोश में धन इकट्ठा करे[2]।" इस प्रसंग में

---

(१) कहते हैं कि जयपुर में महाराज रामसिंह जी के समय में एक गुसाईंजी आए थे जिनके ठाकुर जी शयन आरती के पीछे नृत्य करते थे। "श्रद्‌दधानो" की भीड़ होने लगी। एक दिन महाराज पहुँच गए और जब नूपुर की ध्वनि हो रही थी उन्होंने पर्दा हटा दिया। क्या देखते हैं कि चूहों के पैरों में मंजीरे बँधे हैं और वे प्रसाद के लोभ से इधर उधर फिर कर रासलीला कर रहे हैं। सुनते हैं कि संप्रदायों से महाराज की अरुचि का आरंभ उस दिन से हुआ।

(२) पृष्ठ २४२। अनुवाद मेरा है और पहले अनुवाद से कुछ भिन्न है।

'सर्पदर्शन' उसी ढंग से आया है जिस ढंग से अशोक के प्रज्ञापन में 'विमानदंसनानि' ।

जैसा कि कौटिल्य ने लिखा है राजा लोग धन उगहाने के लिए रात को ( नया ) दैवत चैत्य खड़ा कर वहाँ पर यात्रा और समाज लगवा कर कमाते थे । इसका प्रमाण पतंजलि के महाभाष्य के उस अंश से मिलता है जिसमें कहा गया है "हिरण्यार्थी मौर्यों से अर्चाएँ प्रकल्पित की गईं" । इसपर बहुत टीका टिप्पणी, वादविवाद और संदेह संदोह हुए हैं[1] । कभी अर्थ किया गया कि मौर्यों ने सोने की ज़रूरत पड़ने पर प्रतिमाएँ बेचीं, कभी कहा गया कि प्रतिमाएँ गला कर सिक्के बनवाए । उस प्रसंग का पूरा अर्थ यहाँ दे दिया जाता है ।

पाणिनि कहते हैं कि किसी वस्तु के सदृश उसकी प्रतिकृति या मूर्ति बनाई जाय तो उसके आगे क प्रत्यय होगा, जैसे अश्व की सी अश्व की मूर्ति-अश्वक[2] । जो प्रतिकृति जीविका के लिये बनाई हो, परंतु विक्री के लिये न हो वहाँ क नहीं लगता[3] । जैसे सिलावट ने शिव, स्कंद या विशाख की मूर्तियाँ गढ़ कर बज़ार में बेचने को रखी हों तो वे 'शिवक, स्कंदक, विशाखक कहलावेंगी किंतु यदि वे विक्री के लिये न होकर जीविका के लिये हों तो शिव, स्कंद या विशाख ही कहलावेंगी । वे मूर्तियाँ कौन हो सकती हैं जो अपण्य होकर भी जीविकार्थ हों ? स्मरण रहे कि 'क' न लगने के लिये दो शर्तें पूरी होनी चाहिएँ—मूर्ति विक्री के लिये न हो और उससे जीविका भी चल जाय । काशिका और कौमुदी का मत है कि ये देवलक ( पुजारी ) आदि की जीविका देनेवाली देवप्रतिकृतियों के लिये

---

(१) गोल्डस्टुकर (पाणिनि पृ० १७५-६), वेबर और भंडारकर (इं० एं० जिल्द १, २) भंडारकर और पीटर्सन का विवाद (ज० बां० ब्रैं०रा० ए० सो०), और जायसवाल (इं० एं० जिल्द ४७)

(२) इवे प्रतिकृतौ ५।३।९६

(३) जीविकार्थे चापण्ये ५।३।९९ ।

हैं। कैयट कहता है कि जिन मूर्तियों को लेकर घर घर (पुजारी) फिरते हैं उनसे मतलब है। इसी को देखकर कौमुदी के टीकाकार ने घुमाई जानेवाली मूर्तियों को इस सूत्र में माना है, और स्थिर प्रतिमाओं को क से बचाने के लिये पाणिनि के अगले सूत्र में देवपथ आदि की शरण ली है[1]। घरों में पूजी जानेवाली मूर्तियाँ जो केवल पूजनार्थ होती हैं, जिनसे जीविका नहीं होती, वे देवपथादि में हैं। वस्तुतः घर घर घूमनेवाली और मंदिरों में स्थिर रहनेवाली मूर्तियों में कोई भेद नहीं है; दोनों ही अपण्य हैं, दोनों ही जीविकार्थ हैं। क कहाँ कहाँ नहीं जुड़ता इसका वैयाकरणों का एक संग्रह श्लोक है—केवल पूजन के काम की अर्चाओं में, चित्रकर्म (= तसवीरों) में (उदा०—अर्जुन की तसवीर = अर्जुन, अर्जुनक नहीं), ध्वज (= झंडों पर बनी मूर्ति) में (उदा०—अर्जुन के रथ के झंडे पर कपि की मूर्ति = कपि, कपिक नहीं) और देवपथ आदि गिने हुए शब्दों में (उदा०—उष्ट्रग्रीवा पतली गरदन की सुराही, उष्ट्रग्रीविका नहीं; काव्यों में शराब पीने की चुसकी के लिये उष्ट्रिका आता है) प्रतिकृति और सादृश्य अर्थ में क नहीं लगता[2]। अब व्याकरण की बात बहुत हो चुकी, पतंजलि की ऐतिहासिक टिप्पणी पर आइए।

(**पाणिनि**) **जीविकार्थ अपण्य** (सदृश प्रतिकृति) **में भी** (क नहीं लगता)।

---

(१) देवपथादिभ्यश्च ५।३।१००।

(२) अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मध्वजेषु च। इवे प्रतिकृतौ लोपः कनो देवपथादिषु॥ गणरत्नमहोदधि में किसी वैयाकरण के 'प्रतिच्छन्देऽनर्चादेः' सूत्र पर इस देवपथादिगण को अर्चादि कहा है। उसके श्लोक ये हैं—अर्चासु पूजनार्थासु चित्रकर्मनटध्वजे। चञ्चाखर कुटी दासीवध्रिका नरि काश्यपः॥ देवराजाज शङ्कुभ्यः करिसिन्धुशतात् पथः। सिद्धोष्ट्राभ्यां गतिग्रीवे वामाद्रज्जुः स्थलात् पथः॥ खरकुटी = नाई की दुकान।

(पतंजलि)[1] (सूत्र में जो) **यह कहा गया है कि 'अपण्य में' तो यह सिद्ध नहीं होता—शिव, स्कंद, विशाख, क्या कारण है? सोना चाहनेवाले मौर्यों ने अर्चा कल्पित की थीं** (मौर्यों ने यात्रा और समाजों से रुपया कमाने के लिये शिव, स्कंद और विशाख की मूर्तियाँ चलाई थीं। यह तो दूकानदारी थी, कमाई थी, सरासर बिक्री थी। यह तो कोई बात नहीं कि गरीब सिलावट मूर्ति बनाकर धन कमावे तो वह मूर्ति शिवक कहलावे और बड़े राजा दूकानदारी करें तो वह शिव ही कहलावे। क्या व्याकरण के प्रत्यय भी राजाओं के हुक्मी बंदे हैं? इसका उत्तर देते हैं)—**खैर, उनमें न सही** (उनमें क मत उड़ाओ, उन्हें शिवक आदि ही कहो) **किंतु जो ये आज कल पूजा के लिये हैं** (चाहे वे मौर्यों की कल्पित हों चाहे किसी और की) **उनमें तो हो जायगा** (मौर्यों की बनाई मूर्तियाँ उनके समय में पण्य थीं उन्हें शिवक कहो; अब तो मौर्य नहीं रहे, उनकी दूकान उठ गई, यदि उनकी बनाई मूर्तियाँ अब तक पुजती हैं, या किसी और की स्थापित मूर्तियाँ हैं, वे पण्य नहीं हैं, केवल पुजारियों की जीविकार्थ हैं, उन्हें तो शिव, स्कंद आदि कहो)।

(**कैयट**)—(पतंजलि के '**जो तो वे**' आदि लेख पर) इसका अर्थ यह है कि जिन्हें लेकर घर घर फिरते हैं उनमें (क का लोप हो जायगा), जो बेची जाती हैं उनमें (लोप) न होगा (क रह जायगा), जैसे शिवकों को बेचता है।

(**नागोजीभट्ट**)—(पतंजलि के '**मौर्यों ने** आदि लेख पर) मौर्य बेचने के लिये प्रतिमा के शिल्पवाले (बिक्री के लिये मूर्तियाँ बनाने का व्यवसाय करनेवाली, शिल्प जाननेवाली जाति,) हैं उन्होंने मूर्तियाँ बनाई हैं। 'बेचने के लिये इतना और (पतंजलि के वाक्य में) जोड़ो। इस लिये, उनके पण्य होने से वहाँ (क)

---

(१) अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिद्ध्यति--शिवः स्कंदो विशाख इति। किं कारणम्? मौर्यैं हिरण्यार्थिभिरर्चाः प्रकल्पिताः। भवेत्, तासु न स्यात्। यास्त्वेताः संप्रतिपूजार्थास्ता सुभविष्यति।

प्रत्यय सुनाई देने का मौका है यह मतलब है। वहाँ (क) प्रत्यय का सुनाई पड़ना ठीक ही है यह कहते हुए (पतंजलि) सूत्र का क न रहने का) उदाहरण दिखाते हैं **'उनमें हो, जो तो ये'** इत्यादि से। **'आजकल पूजा के लिये** (अर्थात्) संप्रति = अपने बनाने के समान काल में ही फल उपजानेवाली जो (प्रतिमाएँ) पूजा और जीविका देनेवाली होने से उस (जीविका देने के) अर्थवाली हैं, यह अर्थ है वही (कैयट) कहता है—'जिन्हें लेकर' इत्यादि। जो मूर्तियाँ घर में शिष्टों से पूजी जाती हैं उनमें तो शिव की अभेद बुद्धि होने से और सादृश्य की बुद्धि न होने से (क) प्रत्यय होता ही नहीं। (संग्रहकारिका की याद करके) यों ही चित्रों के लिये देखना।

कैयट ने ऐतिहासिक बात का कुछ व्याख्यान नहीं किया। यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थाः में भी घर घर घुमाई जानेवाली मूर्तियों की बात की। नागोजी ने मौर्य का अर्थ मूर्ति बनानेवाली जाति किया, यह न सोचा कि मूर्ति बनानेवालों का पेशा यही है, उनकी बनाई मूर्ति सदा पण्य होगी, उसमें क न लगने का मौका ही कहाँ आवेगा? पतंजलि के उदाहरण के लिये **कोई ऐसी मूर्तियाँ चाहिएँ जो प्रत्यक्ष में अपण्य हों, किंतु असल में पण्य हों, जिनकी दूकानदारी छिपी हो**। ऐसी मूर्तियां वे ही हो सकती हैं जो, अर्थ शास्त्र के अनुसार राजाओं ने 'यात्रा सामाजाभ्यामुपजीवेत् के लिये खड़ी की हों। फिर संप्रति का अर्थ आजकल, भाष्यकार के समय में, न समझ कर वह कहता है कि अभी, बनाते ही, जिनसे पूजा और जीविका का लाभ हो! आगे उसे यह बरदाश्त न हुई कि घर के शिवलिंग को कोई शिव की 'प्रतिकृति' कह दे। उसमें तो सादृश्य की बुद्धि ही नहीं, अभेद की बुद्धि ठहरी, वहाँ ''इवे प्रतिकृतौ'' की गुंजाइश ही नहीं!!

मेरे पास सं० १८७२-४ का पंजाब के प्रसिद्ध विद्वान् सारस्वत पं० जैसराम जी का स्वहस्तलिखित एक संपूर्ण सकैयट महाभाष्य है

जिसपर मैंने अध्ययन किया था।[१] उसमें इस स्थल पर पं० जैसरामजी के हाथ की टिप्पणी है। पहले तो नागोजी का मत लिखा है कि ''विक्रेतुं प्रतिमाशिल्पवंतो मौर्या इति विवरणकाराः'' आगे लिखा है ''क्षत्रियविशेषेषु तु प्रसिद्धाः इस 'तु' से जान पड़ता है कि पुराने पंडितों में मौर्यराजाओं के अर्चाएँ बनाने की कुछ परंपरागत प्रसिद्धि थी और वे नागोजी के अर्थ से संतुष्ट न थे।

---

(१) भिन्न भिन्न अध्यायों के लिखे जाने का काल रोचक होने से यहाँ दिया जाता है—

प्रथम अध्याय ( दो आह्निकों में विवरण भी साथ हैं )—संवत् १८७२ ज्येष्ठ शुक्ल १३।

द्वितीय अध्याय—संवत् १८७४ आखा( ! )ढ कृष्ण १४ भृगुदिने।

तृतीय अध्याय—संवत् १८७४ दीपमालिकायाम् [ =कार्तिक कृष्ण ३० ]

चतुर्थ अध्याय—संवत् १८७४ पौषसिताष्टम्याम् [ =पौष शुक्ल ८ ]

पंचम अध्याय—संवत् १८७४ आश्विन सिते ११

षष्ठ अध्याय—तिथि नहीं है।

सप्तम अध्याय—संवत् १८७२ शिवरात्र्यां [ =फाल्गुन कृष्ण १४]

अष्टम अध्याय—संवत् १८७३ कार्तिक शुक्ल १५ ॥ सकैयटं महाभाष्यं जेसराजे न धीमता। भवानीदासपुत्रेण लिखितं शोधितं तथा ॥ तदस्तु प्रीतये भूयो भवानी विश्वानाथयोः ॥ श्रीगुरुभ्यो नमो नित्यं पितृभ्यश्च नमो नमः ॥२॥ श्रीमद्विश्वेश्वरः प्रीयताम् ॥ शुभं भवतु ॥

# नागरीप्रचारिणी पत्रिका

अर्थात्

## प्राचीन शोधसंबंधी त्रैमासिक पत्रिका

[ नवीन संस्करण ]

भाग ३—अंक ३

—:*:—

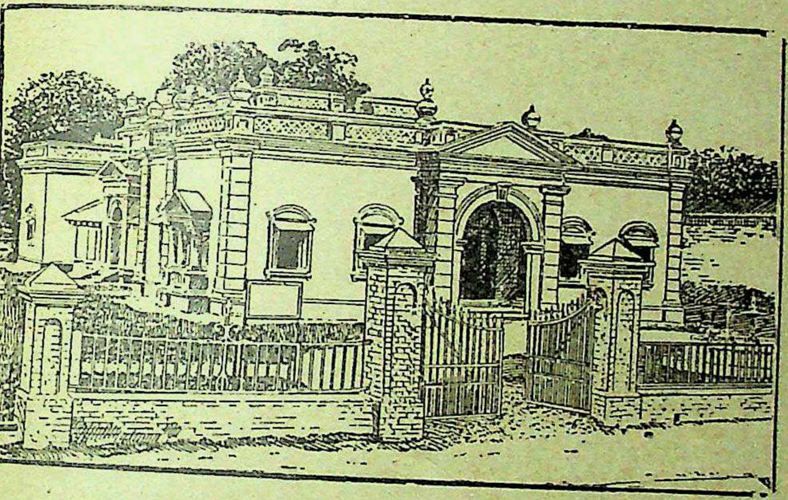

संपादक

**रायबहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा**

—:*:—

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित।
कार्त्तिक, संवत् १९७९ ]
[ मूल्य प्रति संख्या—एक रुपया

# लेख-सूची

पृष्ठांक

[ ११ ] एक ऐतिहासिक काव्य—[ पंडित शोभा लाल शास्त्री ] २४९—२५९

[ १२ ] अशोक की धर्मलिपियां—[ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा और बाबू श्यामसुंदर दास, बी० ए० ] २६१—३२३

[ १३ ] भूपति कवि—[ पंडित भागीरथ प्रसाद दीक्षित ] ३२५—३३४

[ १४ ] मंडलीक काव्य—[ पंडित जयचंद्र विद्यालंकार ] ३३५—३६९

---

## प्रकाशित होने के लिये स्वीकृत लेख

[ १ ] अशोक की धर्मलिपियां ।

[ २ ] कच्छवंश महाकाव्य ।

[ ३ ] बुद्धिप्रकाश ।

[ ४ ] शंकर मिश्र ।

[ ५ ] हिंदुस्तान की वर्तमान बोलियों के विभाग और उनका प्राचीन जनपदों से सादृश्य ।

[ ६ ] आमेर के महाराजा सवाई जयसिंह के ग्रंथ और वेधशालाएँ ।

# ११—एक ऐतिहासिक काव्य।

[ लेखक—पंडित शोभालाल शास्त्री, उदयपुर ]

अज्ञान और देशविप्लव के भीषण महाप्रलय के समय जिन अल्प-संख्यक ग्रंथों ने पंडितों की टूटी फूटी झोपड़ियों में छिपकर अपने प्राण बचाए थे, उनमें से भी कई, सैकड़ों वर्षों का कारावास भोगने के बाद, उन पंडितों के मूर्ख वंशजों द्वारा निर्दयता के साथ पंसारियों के हाथ बेचे गए और कठिन दुर्दशा भोगकर इस संसार से विदा हो गए। तथापि आज भी ऐसे ग्रंथ मिल जाते हैं, जो अंधकार में पड़े हैं और जिन्होंने सैकड़ों वर्षों से संसार का प्रकाश नहीं देखा है।

पंसारियों के सूनागृह ( कसाईखाने ) से कुछ ग्रंथों के प्राण बचाने का सौभाग्य मुझे भी प्राप्त हुआ है। उनमें से एक का विवरण मैं आज उपस्थित करता हूँ।

यह एक छोटा सा काव्य है जिसमें उदयपुर ( मेवाड़ ) के महाराणा श्रीअमरसिंहजी ( द्वितीय ) के राज्याभिषेक का वर्णन है। इसके १० × ४½ इंच के आकार के कुल तेरह पृष्ठ हैं। छः पत्रों में पाँच तो दोनों तरफ और एक एक तरफ लिखा हुआ है। प्रत्येक पृष्ठ पर किसी पर तेरह और किसी पर पंद्रह पंक्तियाँ हैं। पुस्तक पुराने सफेद रफ़ कागज़ों पर लिखी हुई है। पुस्तक के अंत में—“संवत् १७६२ सावण वदि २ बुधे” लिखा होने से विदित होता है कि प्रायः २१६ वर्ष पहिले यह पुस्तक लिखी गई।

## समय।

इसमें तीन स्थानों पर संवत् लिखे हुए हैं।

( १ ) पहले लिखा है—

"मुन्येकाब्दशतादूर्ध्वमब्दे षट्पंचके परे ।
माघशुक्लवसन्तस्य पञ्चम्यां विधुवासरे ॥
अमरेश नरेशस्याभिषेकैक महोत्सवे ।
व्यासेनायं समासेन वैकुण्ठेन कृतः स्वयम् ॥"

अर्थात् संवत् १७५६ माघ शुक्ला वसंत पंचमी सोमवार को महाराणा श्रीअमरसिँहजी के राज्याभिषेक के उत्सव पर व्यास वैकुंठ ने इसे संक्षेप से निर्माण किया ।

(२) कुछ श्लोकों के बाद फिर लिखा है—

"षष्ठिसंख्यागते वर्षे चन्दोंनेऽलेखि लाघवात् ।
ऊर्जस्य शुद्धपञ्चम्यामुदयादिपुरे पुरे ॥"

५९ वें वर्ष में[1] (सं० १७५९ में) कार्तिक शुक्ला ५ को उदयपुर में यह पुस्तक संक्षेप से लिखी गई ।

(३) पुस्तक के अंत में लिखा है—

"सिद्धिरस्तु शुभं भवतु संवत् १७६२ सावण वदि २ बुधे"

इनमें से प्रथम के लिये तो यह स्पष्टतया कहा जा सकता है कि यह पुस्तक के निर्माण तथा महाराणा अमरसिंहजी ( द्वितीय ) के राज्याभिषेक का संवत् है ।

द्वितीय के विषय में यह प्रश्न हो सकता है कि क्या यह श्लोक ग्रंथकर्ता ही ने बनाकर ग्रंथ के अंत में लिखा है ? अथवा नकल करनेवाले लेखक ने नकल करने का संवत् पद्यबद्ध करके लिख दिया है ?

प्रथम बात स्वीकार करने में यह दोष आता है कि जब कोई पुस्तक बनाई जाती है तब साथ ही वह लिखी भी जाती है । यह पुस्तक राज्याभिषेक के अवसर पर श्रीमहाराणा जी को भेंट करने

---

[1] संवत् लिखने में कभी कभी शतक न लिखकर केवल ऊपर ही के अंक लिख दिये जाते हैं । जैसे "माघशुक्ला ५ संवत् १९७८ लिखना हो तो "मा० शु० ५, ७८" ऐसा लिख देते हैं । छप्पना = सं० १९५६ । १६ का ग़दर = सं० १९१६ का । अँग्रेज़ी में भी ऐसा होता है ।

के लिये निर्माण की गई होगी, अतः उस अवसर पर यह अवश्य लिख ली गई थी। ऐसी दशा में एक ही ग्रंथकार बनने का समय तो सं०१७५६ माघशुक्ला ५ सोमवार लिखे और लिखने का समय सं० १७५९ कार्तिक शुक्ला ५ लिखे यह संभव नहीं है।

दूसरी बात इसलिये स्वीकार नहीं की जा सकती कि "षष्ठि संख्यागते" इस श्लोक के बाद एक और श्लोक है जिसमें ग्रंथ का फलादेश लिखा है कि—"जो कोई पुरुष इस ग्रंथ में श्रद्धा रक्खेगा उसे गंगासागर में स्नान करने का फल मिलेगा[१]।" यह तो संभव है कि ग्रंथकर्ता अपने ग्रंथ के अंत में फलादेश लिखे। पर नक़ल करनेवाला ग्रंथ का फलादेश लिखे यह न तो संभव है न ऐसी रीति ही है।

ऐसी दशा में इसी निश्चय पर आना पड़ता है कि यह पद्य है तो ग्रंथकार का ही लिखा हुआ परंतु प्रथम प्रति का न होकर ग्रंथकार ही ने जो इस ग्रंथ की दूसरी प्रतिलिपि की उसके लिखे जाने का संवत् है। और संवत् लिखने के बाद अपने ग्रंथ के अंत में फलादेश लिखना आवश्यक समझ ग्रंथकार ने ही दूसरी प्रतिलिपि में फलादेश का एक श्लोक अंत में और बढ़ा दिया है।

इस दूसरी प्रतिलिपि से जो तीसरी वर्तमान प्रतिलिपि की गई है तीसरा संवत् उसका है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि तीसरी प्रति भी ग्रंथकर्ता ही की लिखी हुई है अथवा अन्य की। परंतु स्थान स्थान पर प्राचीन पाठ को बदल कर पाठांतर,[२] और

---

(१) ग्रन्थेऽस्मिन् श्रद्धानस्य यस्य कस्यापि देहिनः ।
गंगासागरयोः सम्यक् जायते स्नानजं फलम् ॥
पत्र७, पृ० १, पं० १२

(२) पत्र २, पृ० १, पं० ८ में—

"आलाहजरतेनाथ मेदपाटेश्वरस्य तु ।
सख्यं जातं दैवगत्या प्रजानां सुखकारणम् ॥"

कई जगह अधिक ' श्लोक लिखे रहने से यही प्रतीत होता है कि यह प्रति भी ग्रंथकर्ता ही की लिखी हुई है और उसीने जहाँ उचित और आवश्यक समझा परिवर्तन तथा अभिवृद्धि की है। अन्यथा नकल करनेवालों को न तो दूसरे की बनाई हुई पुस्तक में पाठांतर और अभिवृद्धि करने का अधिकार है, न प्रायः उनमें इतनी योग्यता ही होती है।

---

इस पद्य के "आलाहजरतेनाथ" प्रथम चरण के स्थान पर हाशिये पर "शाहजानावनीशेन" यह पाठ लिखा है।

पत्र २, पृ० २, पं० ७ में—

"ज्वालामुखैः किमुज्वालामुख्यः शंकेऽरिभीतिदा।
कालदण्डगोलकच्छद्ममुण्डमाला अनः स्थिता ॥"

इसके उत्तरार्द्ध को बदल कर हाशिये पर--

"गजगोलामिषोपात्त दण्डमुंड अनः स्थिता।" यह लिखा है।

पत्र ३, पृ० १, पं० ११ में—

"ततो जैसिंहदेवस्य वैमनस्यं किमप्यभूत।
लोकोक्ते निर्निमित्तं सज्जले तैलस्य बिन्दुवत् ॥"

इसके उत्तरार्द्ध को हाशिये पर--

"कुमारेणात्र निर्णिक्तसलिले तैलविन्दुवत्" इस तरह लिखा है। इसी प्रकार कई और भी हैं।

(१) जैसे पत्र ३ के पृष्ठ २ में महाराणा जयसिंह के वर्णन में--

यद्दृष्टिसुधया स्नातो दरिद्री धनवदोऽभवत्।
यथा गङ्गाजले मग्नः पापीयानपि शाम्भवः ॥
प्रजानां पालने दक्षो गजाश्वानां च चालने।
चालने गतभूमीनां रिपूणां चापि ताडने ॥

ये दो श्लोक हाशिये पर पीछे से बढा कर लिखे गए हैं।

पत्र ५, पृ० १ में जयसिंह जी के ही वर्णन में--

संयोगे दर्शनं शम्भोरर्बुदे गुरुसिंहयोः।
गुरुजेसिंहयोर्योगे प्रत्यक्षं शिवदर्शनम् ॥

यह श्लोक हाशिये पर अधिक लिखा है। और भी कई जगह ऐसा है। यह तो दिग्दर्शन मात्र है।

## ग्रंथकार।

इसका बनानेवाला पल्लीवाल जातीय व्यास हरराम का पुत्र वैकुंठ था, जैसा कि ग्रंथ के अंत में लिखा है—

व्यासेन पल्लिवालेषु हररामात्मजेन वै।
वैकुंठेन कृतं काव्यं लोकनाथयशस्करम्॥

ग्रंथकार ने दो स्थानों पर पीतांबर (ठाकुरजी श्रीपीतांबररायजी) का निर्देश किया है; एक तो राज्याभिषेक के बाद सवारी से लौटने पर महाराणाजी का अपने भाइयों सहित पीतांबर[1] के दर्शन को जाने का वर्णन है, दूसरा ग्रंथ की समाप्ति में आशीर्वाद के समय लिखा है कि—

पीताम्बरप्रभुकृतैश्च कृपाकटाक्षैः
सूर्यान्वयें समधिगम्य परां प्रतिष्ठाम्।
संग्रामसिंहतनुजेन समं नरेन्द्र( न्द्रो ? )
जीव्यादरीन्विदलयन्निह मेदपाटे॥

अर्थात् श्रीपीतांबररायजी की कृपादृष्टि से सूर्यवंश में उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त कर, अपने शत्रुओं को नष्ट करते हुए महाराज अपने पुत्र संग्रामसिंहजी सहित चिरजीवी रहें।

इससे श्रीपीतांबररायजी में ग्रंथकार की पूर्ण भक्ति होना सिद्ध होता है, साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि इसका ज़नानी ड्यौढ़ी से अवश्य संबंध था। क्योंकि श्रीपीतांबररायजी का मंदिर ज़नानी ड्योढ़ी के भीतर है। महाराणा श्रीअमरसिंहजी के समय में भी वह वहीं था क्योंकि पीतांबररायजी के दर्शन का वर्णन करते समय कवि ने अंतःपुर-द्वार (ज़नानी ड्यौढ़ी) का वर्णन किया है—

"अंतःपुरद्वारिनवोढनार्यः सन्देहसन्दिग्धमनोऽनुभावाः।
काचिद्भ्रमादाह पुरन्दरोऽयं काचित्पुनर्भूमिपुरन्दरोऽयम्॥"

बिना किसी संबंध के सर्व साधारण पुरुष ज़नानी ड्यौढ़ी पर नहीं

---

(१) ततः स पीताम्बरदर्शनार्थं जगाम राजा गुरुणा समेतः।
तत्र स्थितो भ्रातृभिरप्रमेयैरराज राजीव विशालनेत्रः॥

जा सकते, ऐसी दशा में उसके भीतर विराजनेवाले श्रीपीतांबररायजी में भक्ति होना उसका ज़नानी ड्योढ़ी से संबंध होना सिद्ध करता है। इस समय भी ज़नानी ड्योढ़ी के रक्षकों में ( मोसलों में ) व्यास गोत्र के पल्लिवाल मौजूद हैं और वे कई पीढ़ियों से यही काम करते हैं। संभव है कि हरराम और उसका पुत्र वैकुंठ ( ग्रंथकार ) भी इन्हींके पूर्व पुरुषों में हों।

महाराणा अमरसिंहजी जब कुमारावस्था में थे, तब अपने पिता महाराणा श्रीजयसिंहजी के साथ इनका मनोमालिन्य हो गया था। इस समय वैकुंठ ने इनकी बहुत सेवा की होगी। राज्य से इसका वेतन बंद हो गया था। शायद महाराणाजी के विरुद्ध महाराजकुमार की सेवा में रहने ही के कारण इसपर यह विपत्ति आई हो। परंतु फिर भी वह दृढ़तापूर्वक राजकुमार की सेवा करता रहा। जब अमरसिंहजी सिंहासनारूढ हुए तब उसके चित्त में अनेक आशाएँ उत्पन्न होने लगीं। उसे विश्वास था कि अब इतने दिन की सेवा का फल अवश्य मिलेगा। परंतु सिंहासनारूढ़ होनेपर महाराणाजी उसे भूल गए। उसकी आशाएं व्यर्थ गईं। और तो दूर रहा, उसके वेतन के फिर मिलने की आज्ञा भी न मिली। तब उसने अपनी सेवाओं का स्मरण दिलाने के लिये यह छोटा सा काव्य बना कर महाराणाजी के भेंट किया और इसीमें अपने वेतन के लिये भी प्रार्थना की, जैसा कि नीचे लिखे श्लोकों से प्रतीत होता है–

पुष्पितः सेवितो भृंगैर्माकन्दः फलितोऽधुना।
तत्फलावाप्तिरन्येषां राजैश्चित्रम्प्रवर्तते॥
हेमाभरणमारूढे वारणं वैरिवारणम्।
त्वयीदानीं कथं न्याय्यं मम वेतनवारणम्॥

अर्थात्–हे राजन् जब से आम के मौर आए भ्रमरों ने उसकी सेवा की, अब उसके फल लगे हैं पर आश्चर्य है कि उसके फल औरों ही को मिलते हैं। शत्रुओं को हटा देनेवाले सुवर्ण के आभूषणों

से सुसज्जित हाथी पर आपके सवार हो जाने पर अब भी मेरा वेतन बंद रहा यह क्या उचित है ?

इसको अपने पांडित्य का बहुत ही गर्व था। ग्रंथ के आरंभ में ही एक स्थान पर इसने लिखा है कि–

विचार एव कर्तव्यो यत्र बोधो न जायते ।
शुद्धं वा नैव शुद्धं वा बुद्ध्वा दूष्यं वचो मम ॥

अर्थात् जहाँ समझ न पड़े वहाँ विचार करना चाहिये । मेरा बचन शुद्ध है अथवा अशुद्ध यह भली भाँति समझ कर फिर दोष देना ।

## ऐतिहासिक ग्रंथ ।

इस लघु काव्य में आलंकारिक और वर्णनात्मक अंश को छोड़कर जो ऐतिहासिक अंश है उसका सार नीचे लिखा जाता है ।

श्रीसूर्यवंश में कर्णदेव रावल हुए। इनके परम पराक्रमी दो पुत्र थे जिनका नाम उन्होंने माहप और राहप रक्खा। एक दिन वीर राहप ने मंडोवर के राजा को बाँध कर अपने पिता के सम्मुख उपस्थित किया और उनसे प्रार्थना की कि महाराज ! यह अब आपके शरण आया है इसे छोड़ दीजिये । कर्ण रावल ने अपने पुत्र की प्रार्थना स्वीकार कर उसे छोड़ दिया और वह अपनी "राणा" पदवी राहप को देकर अपने शहर ( मंडोवर ) को लौट गया । इस प्रकार राहप "राणा" पद को प्राप्त कर चित्तोड़ का स्वामी बना। माहप की पदवी "रावल" ही रही और वह डूंगरपुर[1] का स्वामी बना[2] ।

हंमीर कुम्भकर्ण आदि राजाओं से सुशोभित इस वंश में उदयसिंहजी नामी राजा हुए, जिन्होंने उदयपुर नगर बसाया

---

(१) डूंगरपुर राजपूताना में उदयपुर से दक्षिण में एक छोटी रियासत है ।

(२) यह सारा कथन कल्पित है। डूंगरपुर के राज्य की स्थापना मेवाड के राजा सामंतसिंह ने की थी । देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग १, पृ० १९ से ३१ [ सं० ]

तथा उदयसागर नामक तालाब बनाया। चित्तौड़ के बाद उदयपुर ही मेवाड़ की राजधानी हुई। इनके बारह पुत्र थे जिनमें सबसे बड़े महाराणा प्रतापसिंह थे जिन्होंने मानसिंह[1] के साथ लड़ाई में हाथी के कुंभस्थल पर भाले का प्रहार किया था। राणी भटूयाणीजी के गर्भ से जो जगमाल आदि पुत्र हुए थे वे दीवाणजी (महाराणा) की कुदृष्टि से राज्य से भ्रष्ट हो गए।

दीवाणजी के वंश में होनेवाले आज भी राणावत कहलाते हैं। इसी प्रकार चूँड़ा रावत के वंश में होनेवाले चूँडावत और शक्तसिंह (महाराणा प्रतापसिंहजी के छोटे भाई) के वंश में होनेवाले शक्तावत कहलाते हैं।

महाराणा प्रतापसिंहजी के पुत्र अमरसिंहजी हुए जो भालों से लड़ाई करने में बहुत कुशल थे। इनके पाँच पुत्र हुए जिनमें सब से बड़े भीम और उनसे छोटे कर्ण थे। कर्ण के ऊपर पिता का स्नेह अधिक होने से उन्हें राज्य प्राप्त हुआ और भीम दिल्ली के बादशाह के पास चले गए।

कर्णसिंहजी के तीन पुत्र हुए जिनमें पाटवी (ज्येष्ठ) जगत्सिंहजी थे। इन्होंने इस लोक में सुख के लिये जगमंदिर और परलोक में सुख के लिये जगदीश का मंदिर बनवाया। इनके समय में शाहजहाँ बादशाह के साथ संधि हुई जिससे प्रजा में सुख तथा शांति की वृद्धि हुई।

जगत्सिंहजी के दो पुत्र हुए, बड़े राजसिंहजी और छोटे अरिसिंहजी (अरसीजी)। महाराणा राजसिंहजी ने अपनी युवावस्था में सर्वर्तुविलास नामक उद्यान और वृद्धावस्था में अपने नाम से राजसमुद्र नामक विशाल तालाब बनवाया। दारा और मुराद जब आपस के लड़ाई झगड़े में लग रहे थे, इन्होंने अवसर

---

(१) आमेर नरेश मानसिंहजी जो अकबर की सेना लेकर मेवाड़ पर आए थे। यह लड़ाई "हल्दी घाटी की लड़ाई" के नाम से प्रसिद्ध है।

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

पाकर मालपुर को लूट लिया। ये नव दिन तक मालपुरे में रहकर फिर अपनी राजधानी को लौट आए।

राजसिंहजी के पुत्र जयसिंहजी हुए। ये बड़े विलासी थे। इन्होंने कृष्ण विहार ( बाग ) सुंदर महल और फव्वारों सहित बनवाया[1], जिसमें वे अंतःपुर सहित सैर करने जाया करते थे।

जयसिंहजी के चार पुत्र हुए जिनके नाम क्रमशः अमरसिंह, उमेदसिंह, प्रतापसिंह और तख़तसिंह थे। ज्येष्ठ पुत्र अमरसिंहजी के एक पुत्र तथा एक कन्या हुई। पुत्र का नाम संग्रामसिंह था और कन्या को माता स्नेह से चंद्रकुँवर नाम से पुकारा करती थी। जब कुँवर अमरसिंहजी के पुत्र ( संग्रामसिंहजी ) उत्पन्न हुए तब महाराणा जयसिंहजी जयसिंहपुर में विराजते थे। वे पौत्र जन्म के शुभ समाचार को सुनकर उदयपुर आए और उन्होंने संग्रामसिंहजी के जातकर्म आदि संस्कार अपने हाथ से किए। कुँवर अमरसिंहजी को भी पुत्रजन्म से बहुत ही हर्ष हुआ। कुछ समय के बाद महाराणा जयसिंहजी तथा कुँवर अमरसिंहजी का आपस में मनोमालिन्य होगया और धीरे धीरे उसने भयंकर रूप धारण कर लिया। महाराणा के कई चूंडावत, शक्तावत, राणावत, झाला और राठौर सरदार ( कुँवरजी के पक्ष में होकर ) महाराणा की आज्ञा की अवहेलना करने लगे। इस प्रकार आंतरिक कलह से मेवाड़ की दुर्दशा होते देख मेवाड़ के अधिष्ठाता और इष्टदेव श्रीएकलिंगजी की कृपा और पुरोहित श्रीनिवास के यत्न से महाराणा तथा राजकुमार दोनों का फिर मेल होगया।[2]

महाराणा जयसिंह ने वंशपत्रपुर ( बाँसवाड़ा ) पर आक्रमण

---

(१) शायद वह स्थान है जहाँ अब सेंट्रल जेल है ?

(२) कर्नल टाड के अनुसार यह सुलह इस शर्त पर श्रीएकलिंगजी के मंदिर में हुई कि महाराणा अपनी राजधानी को लौट आवें और राजकुमार अपने पिता के जीवन समय में बाहिर नए महलों में रहें।

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFERENCE BOOK

कर वहाँ के राजा अजब रावल को पराजित किया पर उसे राज्यच्युत न कर उसपर योग्य दंड करके उसे अपने स्थान पर फिर नियत कर दिया ।

महाराणा ने बहुत से पुण्यकार्य किए जिनमें गोपीनाथ[1] इनका मुख्य सहायक था । इन्होंने सुवर्ण हल आदि कई दान दिए और अपनी पिछली अवस्था में तुलादान भी दिए । इनकी कृपादृष्टि से कई लोगों ने, जो पहले साधारण दशा में थे, उत्तम प्रतिष्ठा प्राप्त की । इनमें "क्षेम" नामक व्यक्ति भी एक था ।

इस समय, जब कि देश में पूर्ण शांति विराजमान थी, मेवाड़ की उर्बरा भूमि अतुलित धान्यराशि और फल फूलों से सम्पन्न होकर लहलहा रही थी । भीतरी तथा बाहिरी झगड़ों के न होने से प्रजा संतुष्ट और सुखी थी । महाराणा जयसिंह का अचानक स्वर्गवास होगया ।

इनके बाद महाराणा अमरसिंह सिंहासनारूढ़ हुए, जिनके राज्याभिषेक का वर्णन इस प्रकार किया गया है ।

श्रीमहाराणाजी अपनी पटरानी सहित भद्रपीठ पर आकर विराजमान हुए । अभिषेक के लिये कई नदियों, तालाबों और समुद्रों का जल मँगवाया गया । पुरोहित ने विद्वान् ब्राह्मणों को साथ लेकर महाराणाजी का अभिषेक किया । इसके बाद महाराणाजी हाथी पर सवार हुए । परम्परा की रीति के अनुसार भीलों के मुखिया ने राज्यतिलक किया । तदुपरांत बाज़ार में सवारी निकलने और सवारी से लौटकर गुरु तथा भाइयों सहित पीतांबर (श्रीपीतांबररायजी) के दर्शन करने का वर्णन है ।

अंत में महाराणा के राज्यशासन की प्रशंसा, देश में धर्म प्रचार करने के लिये देवराम तथा कृपाराम की नियुक्ति और कुछ आशीर्वाद के श्लोक लिख कर काव्य को समाप्त किया है ।

---

(१) ये गोपीनाथ घाणेराव के ठाकुर थे । जो अल्प संख्यक सर्दार कुँवरजी के पक्ष में न होकर महाराणा के सहायक रहे थे उनमें ये एक थे ।

इस काव्य से इतिहास के तिमिराछन्न भाग पर चाहे अधिक प्रकाश अब न पड़े किंतु एक ऐतिहासिक काव्य का तथा मेवाड़ के एक अब तक अज्ञात कवि का पता चलता है ।

# १२—अशोक की धर्मलिपियाँ ।

[लेखक—राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू श्यामसुंदरदास, बी० ए०, और पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी, बी० ए०]

[ क १३—तेरहवाँ प्रज्ञापन ]

[ पत्रिका भाग ३ पृष्ठ २४७ के आगे ]

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १ | अठवषाभिसितषा | देवानं | पियष | पियदषिने | लाजिने |
| गिरनार | २ | . . . . . . . . | . . . | . . . | . . . . . | . . ञो |
| शहबाज़गढ़ी | ३ | अस्तवषअभिसितस | देवन | प्रिअस | प्रियद्रशिस | रञो |
| मानसेरा | ४ | . . . . . . . . . . | . . . | . . . | . . . . . | . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | अष्टवर्षाभिषिक्तस्य | देवानां | प्रियस्य | प्रियदर्शिनः | राज्ञः |
| हिंदी-अनुवाद | | आठ वर्ष से अभिषिक्त (के = से) | देवताओं के | प्रिय (के = से) | प्रियदर्शी (के = से) | राजा (के = से) |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५ | कलिग्या | विजिता | दियढमाते | पानषतषहश्रे | येतफा |
| गिरनार | ६ | कलिगा | विजि . | . . . . . | . . . . . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ७ | कलिग | विजित | दियधमत्रे | प्रणशतसहस्रे | येततो |
| मानसेरा | ८ | कलिग | . . . | . . . . य | प्रणश . . . . | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | कलिंगाः | विजिताः । | अध्यर्धमात्रं | प्राणशतसहस्रं | एतत्तः |
| हिंदी-अनुवाद | | कलिंग | जीते गए । | ड्यौढ़ा भर = डेढ़ | सौहजार( = लाख) प्राणी | यहाँ से |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९ | अपवुढे | शतषहषमाते | तत | हते | बहुतावंतके | वा |
| गिरनार | १० | . . . ढे | सतसहस्रमात्रं | तत्रा | हतं | बहुतावतकं | |
| शहबाज़गढ़ी | ११ | अपवुढे | शतषहस्रमत्रे | तत्र | हते | बहुतवतके | |
| मानसेरा | १२ | . . . . | . . . . . . . | . . | . . | . . . . . . | |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपव्यूढं | शतसहस्रमात्रा | तत्र | हताः | बहुतावत्का | वा |
| हिंदी-अनुवाद | | बाहर लेजाए गए | सौ हजार (लाख) भर | वहाँ | आहत हुए | उससे [भी] बहुत | वा |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३ | मटे | तता | पछा | अधुना | लधेषु | कलिग्येषु | तिवे |
| गिरनार | १४ | मतं | तता | पछा | अधना | लधेसु | कलिंगेसु | नीवो |
| शहबाज़गढ़ी | १५ | मुटे(३६) | ततो | पछ | अधुन | लधेषु | कलिंगेषु | तिव्रे |
| मानसेरा | १६ | . . | . . (६०) | पछ | अधुन | लधेषु | कलिगेषु | . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | मृताः। | ततः | पश्चात् | अधुना | लब्धेषु | कलिंगेषु | तीव्रः<br>तीव्रं |
| हिंदी-अनुवाद | | मरे। | उससे | पीछे | अब | प्राप्त होने पर | कलिंग (पर) | तीव्र |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १७ | धंमवाये(३५) | धंमकामता | धंमानुषथि | चा | देवानं |
| गिरनार | १८ | धंमवायो(६७) | . . . . . | . . . . . | . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १९ | ध्रमपलनं | ध्रमकमत | ध्रमनुशस्ति | च | देवन |
| मानसेरा | २० | . . . . . | . . . . . | . मनुश . | च | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | धर्मवायः<br>धर्मपालनं | धर्मकामता | धर्मानुशिष्टिः | च | देवानां |
| हिंदी-अनुवाद | | धर्मविस्तार<br>धर्मपालन | धर्म की इच्छा | धर्मानुशिष्टि | और | देवताओं के |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २१ | पियषा | षे | अथि | अनुषये | देवानं | पियषा |
| गिरनार | २२ | . . . | . | . . | सयो | देवानं | प्रियस |
| शहबाज़गढ़ी | २३ | प्रियस | सो | अस्ति | अनुसोचनं | देवन | प्रियस |
| मानसेरा | २४ | . . . | . | . . | . . . . . | . . . | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रियस्य । | तत् | अस्ति | अनुशय:<br>अनुशोचनं | देवानां | प्रियस्य |
| हिंदी-अनुवाद | | प्रिय की [हुई]। | सो | है | पछतावा | देवताओं के | प्रिय के (को) |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २५ | विजिनितु | कलिग्यानि | अविजितं | हि | विजिनमने |
| गिरनार | २६ | विजि . . | . . . . | . . . . | . | . . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | २७ | विजिनितु | कलिंगनि (३७) | अविजितं | हि | विजिनमनि |
| मानसेरा | २८ | . . . . | . . . . | . . . . | . | . . . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | विजेतुः | कलिंगान् । | अविजितं | हि | विजितं मन्ये |
| हिंदी-अनुवाद | | विजयी(के =)को | कलिंगों (को =) के। | नहीं जीता हुआ (को) | ही | जीते हुए (को) मानता हूँ |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २९ | ए | तता | वधं | वा | मलने | वा | अपवहे | वा |
| गिरनार | ३० | . | .. | वधो | व | मरणं | व | अपवाहो | व |
| शहबाज़गढ़ी | ३१ | ये | तत्र | वधो | व | मरणं | व | अपवहो | व |
| मानसेरा | ३२ | . | ..(६१) | .. | . | ... | . | अपवहे | व |
| संस्कृत-अनुवाद | | यत् | तत्र | वधः | वा | मरणं | वा | अपवाहः | वा |
| हिंदी-अनुवाद | | जो | वहाँ | वध | या | मरण | या | लेजाना | या |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३३ | जनषा | षे | बाढ | वेदनियमुते | | गुलुमुते | चा |
| गिरनार | ३४ | जनस | तं | बाढं | वेदनमतं | च | गुरुमतं | च |
| शहबाज़गढ़ी | ३५ | जनस | तं | बढं | वेदनियमतं | | गुरुमतं | च |
| मानसेरा | ३६ | जन. | से | .. | वेदनियम. | | .... | |
| संस्कृत-अनुवाद | | जनस्य । | सः | बाढं | वेदनीयमतः | च | गुरुमतः | च |
| हिंदी-अनुवाद | | लोगों का । | वह | अत्यंत | दुःखदायी माना गया | और | भारी माना गया [है] | और |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ३७ | देवानं | पियषा | इयं | पि | चु | ततो | गलुमततले |
| गिरनार | ३८ | देवानं | . स(६८) | .. | . | . | .. | ...... |
| शहबाज़गढ़ी | ३९ | देवनं | प्रियस | इम | पि | चु | ततो | गुरुमत . रं |
| मानसेरा | ४० | ... | ... | .. | . | . | .. | ...... |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियस्य । | इदं | अपि | च | ततः | गुरुमततरं |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं के | प्रिय (का =) से। | यह | भी | और | उससे | अधिक भारी माना गया [है] |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४१ | देवानं | पियषा(३६) | सवता | वषति | बंभना | व |
| गिरनार | ४२ | . . . | . . . | . . . | . . . | बाम्हण | व |
| शहबाज़गढ़ी | ४३ | देवनं | प्रियस | तत्र हि(३८) | वसंति | ब्रमण | व |
| मानसेरा | ४४ | . . . | . . . | . . . | . . . | . . . | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियस्य | सर्वत्र<br>तत्र हि | वसंति | ब्राह्मणाः | वा |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं के | प्रिय (का =) से | सब जगह<br>वहाँ | रहते हैं | ब्राह्मण | या |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४५ | षम | वा | अने | वा | पाषंड | हिगिथा | वा |
| गिरनार | ४६ | समणा | व | अ . | . | . . . | . . . | . |
| शहबाज़गढ़ी | ४७ | श्रमण | व | अंञे | व | प्रषंड | ग्रहथ | व |
| मानसेरा | ४८ | . . . | . | . . | . | . . . | . . . | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | श्रमणाः | वा | अन्ये | वा | पाषण्डाः | गृहस्थाः | वा |
| हिंदी-अनुवाद | | श्रमण | या | दूसरे | या | धर्मवाले | गृहस्थ | या |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ४९ | येशु | विहिता | एष | अगभुत | षुषुषा | मतापिति |
| ८ गिरनार | ५० | .. | . .. | .. | .... | ..सा | मातापितरि |
| शहबाज़गढ़ी | ५१ | येषु | विहित | एष | अग्रभुटि | सुश्रुष | मतपितुषु |
| मानसेरा | ५२ | ..(६२) | ... | एष | अग्रभु. | सुश्रुष | मतपिषु |
| संस्कृत-अनुवाद | | येषु | विहिता | एषा | अग्रभूतिः | शुश्रूषा | मातापित्रोः |
| हिंदी-अनुवाद | | जिनमें | विहित [हैं] | यह | [सब से] आगे भरण [पोषण] | शुश्रूषा | माता पिता (में =) की |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५३ | षुषुषा | गलुषुष | मितषंथुतषहायनातिकेषु | दाशभतकषि |
| गिरनार | ५४ | सुसुंसा | गुरुसुसूसा | मितसंस्तुतसहायञातिकेसु | दासभ . . .(६६) |
| शहबाज़गढ़ी | ५५ | सुश्रुष | गुरुनंसुश्रुष | मित्रसंस्तुतसहय(३६)ञतिकेषु | दसभटकनं |
| मानसेरा | ५६ | सुश्रुष | गुरुसुश्रुष | मि . संस्तु . . . . . . . . | . . . . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | शुश्रूषा | गुरुशुश्रूषा<br>गुरूणां शुश्रूषा | मित्रसंस्तुतसहायज्ञातिकेषु | दासभृतकेषु<br>दासभृतकानां |
| हिंदी-अनुवाद | | शुश्रूषा | गुरु-शुश्रूषा | मित्र परिचित सहायक और कुटुंबियों में | नौकर चाकरों का<br>दास और [वेतनभोगी] नौकरों का ( में ) |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ५७ | षम्यापटिपति | दिढभतिता | तेषं | तता | होति | उपघाते |
| गिरनार | ५८ | . . . . . . . | . . . . . | . . | . . | . . | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ५९ | संमप्रतिपति | दिढभतित | तेषं | तत्र | भोति | अपग्रथो |
| मानसेरा | ६० | . . . . . . . | . . . . . | . . | . . | . . | . . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | सम्यक् प्रतिपत्तिः | दृढ़भक्तिता। | तेषां | तत्र | भवति | उपघातः<br>अपघातः |
| हिंदी-अनुवाद | | उचित आदर | दृढ़भक्ति। | उनका | वहाँ | हाता है | घात |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६१ | वा | वधे | वा | अभिलतानं | वा | विनिखमने(२७) | येषं |
| गिरनार | ६२ | . | .. | . | अभिरतानं | व | विनिखमण | येसं |
| शहबाज़गढ़ी | ६३ | व | वधो | व | अभिरतन | व | निक्रमणं | येषं |
| मानसेरा | ६४ | . (६३) | . | व | अभि..नं | व | विनिक्रमणे | येषं |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | वधः | वा | अभिरतानां | वा | विनिष्क्रमणं ।<br>निष्क्रमणं । | येषां |
| हिंदी-अनुवाद | | या | वध | या | सुख से रहते हुओं का | या | निकाला जाना । | जिनका |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६५ | वा | पि | षंविहितानं | षिनेहे | अविपहिने | एतानं |
| गिरनार | ६६ | वा | पि | . . . . . | . . . | . . . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ६७ | व | पि | संविहितनं | नेहो | अविप्रहिनो | एतेष |
| मानसेरा | ६८ | व | पि | संवि . . नं | सिनेहे | अविप्रहिने | एत . |
| संस्कृत-अनुवाद | | वा | अपि | संविहितानां | स्नेहः | अविप्रहीणः | एतेषां |
| हिंदी-अनुवाद | | या | भी | सुव्यवस्थित [लोगों] का | स्नेह | नहीं घटा [है] | इनके |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ६९ | मितशंथुतषहायनातिक्य | वियषने | पापुनाति | तत |
| गिरनार | ७० | . . . . . :. हायञातिका | व्यसनं | प्रापुणति | तत्र |
| शहबाज़गढ़ी | ७१ | मित्रसंस्तुतसहयञतिक | वसन(४०) | प्रपुणति | तत्र |
| मानसेरा | ७२ | मित्रसं . . . . . . . . | . . .(६४) | . . . . | . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | मित्रसंस्तुतसहायज्ञातिका: | व्यसनं | प्राप्नुवन्ति | तत्र |
| हिंदी-अनुवाद | | मित्र, परिचित, सहायक, और कुटुंबी | दुःख (को) | प्राप्त होते हैं | वहाँ |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७३ | षे | पि | नत | मेव | उपघाते | होति | पटिभागे | चा |
| गिरनार | ७४ | सो | पि | तेसं | | उपघातो | होति | पटीभागो | चे |
| शहबाज़गढ़ी | ७५ | तं | पि | तेष | वो | अपग्रथो | भोति | प्रतिभगं | च |
| मानसेरा | ७६ | . | . | .. | . | .... | . . | .... | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | सः | अपि | तेषां | एव | उपघातो | भवति। | प्रतिभागः | च |
| हिंदी-अनुवाद | | वह | भी | उनका | ही | उपघात | होता है। | दशा | और |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ७७ | एष | षव | मनु . नं | गुलुमते | चा | देवानं | पियषा |
| गिरनार | ७८ | सा | सव | . . सानं | . . . . | . | . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | ७६ | एतं | सव्र | मनुशनं | गुरुमतं | च | देवनं | प्रियस |
| मानसेरा | ८० | . . | सव्र | मनुशनं | गुरुमते | च | देवनं | प्रियस |
| संस्कृत-अनुवाद | | एषः | सर्वः | मनुष्याणां | गुरुमतः | च | देवानां | प्रियस्य । |
| हिंदी-अनुवाद | | यह | सब | मनुष्यों की [है] | भारी माना गया [है] | और | देवताओं के | प्रिय (का =) से । |

| | | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ८१ | नथि | चा | षे | जनपदे | यता | नथि | इमे | निकाया |
| गिरनार | ८२ | . . | . | . | . . . . | . . | स्ति | इमे | निकाया |
| शहबाज़गढ़ी | ८३ | | | | | | | | |
| मानसेरा | ८४ | नस्ति | च | से | जनपदे | यत्र | नस्ति | इमे | निकय |
| संस्कृत-अनुवाद | | नास्ति | च | सः | जनपदः | यत्र | न सन्ति | इमे | निकायाः |
| हिंदी-अनुवाद | | नहीं है | और | वह | जनपद | जहाँ | नहीं हैं | ये | संप्रदाय |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ८५ | आनंता | येनेष(३८) | बंह्मने | चा | षमने | चा | नथि |
| गिरनार | ८६ | अञत्र | योनेस | ... | . | ... | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | ८७ | | | | | | | |
| मानसेरा | ८८ | अ . . | येनेष | ब्रमण | च | श्रम | . | . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | अनंता:<br>अन्यतरे | येन एष<br>= ये एते(?) | ब्राह्मणा: | च | श्रमणा: | च। | नास्ति |
| हिंदी-अनुवाद | | अनंत<br>नाना प्रकार के | जिस से यह<br>= जो ये(?) | ब्राह्मण | और | श्रमण | और। | नहीं है |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ८९ | चा | कुवापि | जनपदषि | यता | नथि | | मनुषानं |
| गिरनार | ९० | . | . . . | . . . . (१००)म्हि | यत्र | नास्ति | | मनुसानं |
| शहबाज़गढ़ी | ९१ | | | | | नस्ति | च | |
| मानसेरा | ९२ | | पि | जन . . सि | | | | |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | क-अपि | जनपदे | यत्र | नास्ति | च | मनुष्याणां |
| हिंदी-अनुवाद | | और | कहीं भी | जनपद में | जहाँ | नहीं है | और | मनुष्यों की |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९३ | एकतलषि | पि | पाषडषि | नो | नाम | पषादे | षे |
| गिरनार | ९४ | एकतरम्हि | | पासंडम्हि | न | नाम | प्रसादो | |
| शहबाज़गढ़ी | ९५ | एकतरस्पि | पि | प्रषंडस्पि | न | नम | प्रसदो | सो |
| मानसेरा | ९६ | . . . . | . | . . . . (६५) | नो | नम | प्रसदे | से |
| संस्कृत-अनुवाद | | एकतरस्मिन् | अपि | पाषण्डे | न | नाम | प्रसादः । | सः |
| हिंदी-अनुवाद | | किसी न किसी एक में | भी | धर्म में | न | नाम | प्रीति । | वह |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ९७ | आवतके | जने | तदा | कलिंगेषु | | |
| गिरनार | ९८ | यावतको | जन | तदा (१०१) | . . . . | | |
| शहबाज़गढ़ी | ९९ | यम्रत्रो | जनो | तद | कलिगे | | |
| मानसेरा | १०० | यवतके | जने | तद | कलिगेषु | हते | च |
| संस्कृत-अनुवाद | | यावत्कः<br>यावन्मात्रः | जनः | तदा | कलिंगेषु | {हतः | च} |
| हिंदी-अनुवाद | | जितना | मनुष्य | तब | कलिंगों में (=के) | {मारा गया | और} |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०१ | ल . षु | हते | च | मटे | चा | अपवुढे | चा |
| गिरनार | १०२ | . . | . . | . | . . | . | . . . . | . |
| शहबाज़गढ़ी | १०३ | | हतो | च | मुटो | च | अपवुढो | च |
| मानसेरा | १०४ | . . . | . . | . | . . . | . | अपवुढे | च |
| संस्कृत-अनुवाद | | लब्धेषु | हतः | च | मृतः | च | अपव्यूढः | च |
| हिंदी-अनुवाद | | प्राप्त होने पर | आहत हुआ | और | मरा | और | बाहर लेजाया गया | और |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०५ | तता | तेभागे | वा | षहषभागे | वा | अज |
| गिरनार | १०६ | .. | ... . | . | स्त्रभागो | व | .. |
| शहबाज़गढ़ी | १०७ | ततो(४१) | शतभगे | व | सहस्रभगं | व | अज |
| मानसेरा | १०८ | तत | शतभगे | व | सहस्रभगे | | अज |
| संस्कृत-अनुवाद | | ततः | शतभागः | वा | सहस्रभागो | वा | अद्य |
| हिंदी-अनुवाद | | उस [में] से | सौवाँ भाग | या | हजारवाँ भाग | या | आज |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १०९ | गुलुमते | वा | देवानं | पियषा(३६) | . | . | . |
| गिरनार | ११० | गरुमतो | | देवानं | . . . | | | |
| शहबाज़गढ़ी | १११ | गरुमतं | वो | देवनं | प्रियस | यो | पि | च |
| मानसेरा | ११२ | गुरुमते | | . व . | प्रियस | | | |
| संस्कृत-अनुवाद | | गुरुमतः | | देवानां | प्रियस्य। | यः | अपि | च |
| हिंदी-अनुवाद | | भारी माना गया [है] | | देवताओं के | प्रिय का (= को)। | जो | भी | और |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ११३ | ...... | ....... | . | ... | ... | . |
| गिरनार | ११४ | ...... | ....... | . | ... | ..न | य |
| शहबाज़गढ़ी | ११५ | अपकरेयति | छमितवियमते | वो | देवनं | प्रियस | यं |
| मानसेरा | ११६ | ..क... | .मितवि(६६).. | . | ... | ... | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपकरोति | क्षन्तव्यमतः | | देवानां | प्रियस्य | यः |
| हिंदी-अनुवाद | | अपकार करता है | क्षंतव्य माना गया [है] | | देवताओं के | प्रिय का | जो |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | ११७ | . . | . . . . | . | . | . | . . . . | . . . |
| गिरनार | ११८ | सकं | छमितवे | या | च | पि | अटवियो | देवानं |
| शहबाज़गढ़ी | ११९ | शको | छमनये | य | पि | च | अटवि | देवनं |
| मानसेरा | १२० | . . | . . . . | य | पि | च | अटवि | देवनं |
| संस्कृत-अनुवाद | | शक्यः | क्षमितवे ।<br>क्षमणाय । | यः | अपि | च | अटव्यः | देवानां |
| हिंदी-अनुवाद | | शक्य [ है ] | क्षमा करने के लिए। | जो | भी | और | वन-निवासी | देवताओं के |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १२१ | . . . | . . . | . . | . | . | . . . . |
| गिरनार | १२२ | प्रियस | पिजिते | पालि(१०२) | . | . | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १२३ | प्रियस | विजिते | भोति | त | पि | अनुनेति |
| मानसेरा | १२४ | प्रियस | विजितस्मि | होति | त | पि | अनुनयति |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रियस्य | विजिते | भवति | तं | अपि | अनुनयति |
| हिंदी-अनुवाद | | प्रिय के | विजित [देश] में | होता है | उसको | भी | मनाता है |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १२५ | . . . . . . | . . . . | . | . | . . . | . . . | . . . |
| गिरनार | १२६ | . . . . . . | . . . . | . | . | . . . | . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १२७ | अनुनिभ्रपेति | अनुतपे | पि | च | प्रभवे | देवनं | प्रियस |
| मानसेरा | १२८ | अनुनिभ्रपयेति | अनुतपे | पि | च | प्रभवे | देवनं | प्रियस |
| संस्कृत-अनुवाद | | य<br>अनुनिध्यापति। | अनुताप: | अपि | च | प्रभावे | देवानां | प्रियस्य। |
| हिंदी-अनुवाद | | वा<br>ध्यान करता है। | पछतावा | भी | और | प्रभाव में [है] | देवताओं के | प्रिय के। |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १२९ | ... | .. | ... | ... | .. | ..... |
| गिरनार | १३० | . च्वते | तेषं | देवानं | प्रियस | .. | ..... |
| शहबाज़गढ़ी | १३१ | वुचति | तेष | | | किति | अवत्रपेयु |
| मानसेरा | १३२ | वुचति | तेषं | | | .. | ..... |
| संस्कृत-अनुवाद | | उच्यते | तेषां | {देवानां | प्रियस्य} | किमिति | अपत्रपेरन् |
| हिंदी-अनुवाद | | कहा जाता है | उनका<br>(=उनको) | {देवताओं के | प्रिय का} | क्या ? यह | लज्जित हों |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३३ | . | . | . . नेयु | इछ. | | . . . | . . (४२) |
| गिरनार | १३४ | . | . | . . . . | . . . | . | . . . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १३५ | न | च | ञेयसु | इछति | हि | देवनं | प्रियो |
| मानसेरा | १३६ | . | . | . . . . | . . . | . | .वनं | प्रिये(६७) |
| संस्कृत-अनुवाद | | न | च | हन्येरन् । | इच्छति | हि | देवानां | प्रियः |
| हिंदी-अनुवाद | | न | और | मारे जावें । | इच्छा करता है | ही | देवताओं का | प्रिय |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १३७ | षवभु . . | . . . | . | षयम | | षमचलियं | |
| गिरनार | १३८ | सवभूतनां | अछतिं | च | सयमं | च | समचेरां | च |
| शहबाज़गढ़ी | १३९ | सव्रभुतन | अछति | | संयमं | | समचरियं | |
| मानसेरा | १४० | . . . . . | . . . | | . . . | | . . . . . | |
| संस्कृत-अनुवाद | | सर्वभूतानां | अक्षतिं | | संयमं | च | समचर्यां | |
| हिंदी-अनुवाद | | सब प्राणियों की | क्षति न होने को | | संयम को | और | समचर्या को | और |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १४१ | मदवति | | इयं | वु | मु . . . | . . . (४३) |
| गिरनार | १४२ | मादवं | च(१०३) | . . | . | . . . . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १४३ | रभसिये | | एषे | च | मुखमुते | विजये |
| मानसेरा | १४४ | . . . . | | . . | . | मुते | विजये |
| संस्कृत-अनुवाद | | मोदवृत्ति<br>मोदं<br>राभस्यं | च | अयं<br>एषः | च | मुख्यमतः | विजयः |
| हिंदी-अनुवाद | | हर्ष को | और | यह | और | मुख्य माना गया [है] | विजय |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १४५ | देवानं | पियेषा | ये | धंमविजये | षे | च | पुना |
| गिरनार | १४६ | . . . | . . . | . | . . . . . | . | . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १४७ | देवनं | प्रियस | यो | ध्रमविजयो | सो | च | पुन |
| मानसेरा | १४८ | देवनं | प्रियस | ये | ध्रमविजये | से | च | पुन |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियस्य | यः | धर्मविजयः। | स | च | पुनः |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं के | प्रिय का | जो | धर्मविजय। | वह | और | फिर |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १४९ | लधे | देवानं | पि.. | .द | च(४४)षवेषु | | च |
| गिरनार | १५० | लधे | ..नं | प्रियस | इध | ° | ... | . |
| शहबाज़गढ़ी | १५१ | लधो | देवनं | प्रियस | इह | च | सव्रेषु | च |
| मानसेरा | १५२ | लधे | देवनं | प्रियस | हिद | च | सव्रेषु | च |
| संस्कृत-अनुवाद | | लब्धो | देवानां | प्रियस्य । | इतः<br>इह | च | सर्वेषु | च |
| हिंदी-अनुवाद | | प्राप्त हुआ [है] | देवताओं के | प्रिय का(=को)। | यहां<br>इधर | और | सब (में) | और |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १५३ | अतेषु | अषषु | पि | योजनषतेषु | अत | अतियोगे |
| गिरनार | १५४ | . . . | . . . | . | . ..... | . . | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १५५ | अंतेषु(४२) | अषषु | पि | योजनशतेषु | यत्र | अंतियोको |
| मानसेरा | १५६ | अंतेषु | अषषु | पि | य . . . तेषु | . . | . . योक |
| संस्कृत-अनुवाद | | अन्तेषु | आषट्सु | अपि | योजनशतेषु | यत्र | अंतियोकः |
| हिंदी-अनुवाद | | सीमांत देशों में | तक छः(में) | भी (= ही) | सौ योजनों में | जहाँ | अंतियोक |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १५७ | नाम | योन . . | पलं | चा | तेना(४५) | श्रंतियोगेना |
| गिरनार | १५८ | . . | योनराजा | परं | च | तेन | |
| शहबाज़गढ़ी | १५९ | नम | योनरज | परं | च | तेन | श्रंतियोकेन |
| मानसेरा | १६० | नम | . न . .(६८) | . . | . | . . | . . . . . |
| संस्कृत-श्रनुवाद | | नाम | यवनराजः | परं | च | तस्मात् | श्रन्तियोकात् |
| हिंदी-श्रनुवाद | | नाम | यवनराज | परे | श्रौर | उस (से) | श्रंतियोक से |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १६१ | चतालि४ | लजाने | तुलमये | | नाम | अंतेकिने | |
| गिरनार | १६२ | चत्पारो | राजानो | तुरमायो | च | | अंतेकिन | च |
| शहबाज़गढ़ी | १६३ | चतुरे४ | रजनि | तुरमये | | नम | अंतिकिनि | |
| मानसेरा | १६४ | ... | ... | .... | | .. | .... | |
| संस्कृत-अनुवाद | | चत्वारः | राजानः | तुरमयः | च | नाम | अंतिकिनः | च |
| हिंदी-अनुवाद | | चार | राजा | तुरमय | और | नाम | अंतिकिन | और |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १६५ | नाम | मका | | ना(४६)म | अलिक्यषुदले | नाम | निचं |
| गिरनार | १६६ | | मगा | च(१०४) | . . | . . . .... | . . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १६७ | नम | मक | | नम | अलिकसुदरो | नम | निच |
| मानसेरा | १६८ | . . | मक | | नम | अलिकसुदरे | नम | निचं |
| संस्कृत-अनुवाद | | नाम | मगः<br>मकः | च | नाम | अलिकसुदरः | नाम | नीचैः |
| हिंदी-अनुवाद | | नाम | म<br>मक | और | नाम | अलिकसुदर | नाम | नीचे |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १६९ | | चोड | पंडिया | अवं | तंबपंनिया | हेवमेव | हेवमेवा (४७) |
| गिरनार | १७० | | . . | . . . | . . | . . . . . | . . . . | . . . . |
| शहबाज़गढ़ी | १७१ | | चोड | पंड | अव | तंबपंनिय | एवमेव | |
| मानसेरा | १७२ | च | चोड़ | पंडिय | अ | तंबपंनिय | एवमेव | |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | चोडाः | पांड्याः | एवं | ताम्रपर्णीर्याः | एवमेव | एवमेव |
| हिंदी-अनुवाद | | और | चोड | पांड्य | तथा | ताम्रपर्णीवाले | ऐसे ही | ऐसे ही |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १७३ | हिद | लाजा | विशवजि | योनकंबोजेषु | नाभके |
| गिरनार | १७४ | इध | राज | विसयम्हि | यो . . . . | . . |
| शहबाज़गढ़ी | १७५ | हिद | रज | विषवज्रि | योनकंबोयेषु | नभके |
| मानसेरा | १७६ | . . | रज | विषवज्रि | योनकं . . षु | नभके |
| संस्कृत-अनुवाद | | इतः | राज्ये | विषव्रज्िषु<br>विषये | यवनकंबोजेषु | नाभके |
| हिंदी-अनुवाद | | इधर | राज में | विष-व्रजियों में<br>देश में | यवन-कंबोजों में | नाभक में |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १७७ | नाभपंतिषु | भोजपितिनिक्येषु(४८) | अधपलदेषु | षवता |
| ८ गिरनार | १७८ | . . . . . | . . . . . . . . | . धपारिंदेसु | सवत |
| शहबाज़गढ़ी | १७९ | नभितिन(५३) | भोजपितिनिकेषु | अंध्रपुलिदेषु | सवत्र |
| मानसेरा | १८० | नभपंतिषु | भोजपितिनि . षु | अंधप . . . | . . . (६६) |
| संस्कृत-अनुवाद | | नाभपङ्क्तिषु<br>नाभितिषु | भोजपितिनिक्येषु | अन्ध्रपुलिन्देषु | सर्वत्र |
| हिंदी-अनुवाद | | नाभपंक्तियों में<br>नाभितियों में | भोज–पैठनिकों में | अंध्र–पुलिंदों में | सर्वत्र |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १८१ | देवानं | पयषा | धंमानुषथि | अनुवतंति | यत | पि |
| गिरनार | १८२ | देवानं | पियस | धंमानुसस्टिं | अनुवतरे | यत | पि |
| शहबाज़गढ़ी | १८३ | देवनं | प्रियस | ध्रमनुशस्ति | अनुवटंति | यत्र | पि |
| मानसेरा | १८४ | ... | ... | ..... | ...... | .. | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | देवानां | प्रियस्य | धर्मानुशिष्टिं | अनुवर्तन्ते । | यत्र | अपि |
| हिंदी-अनुवाद | | देवताओं के | प्रिय की | धर्मानुशिष्टि को | अनुसरण करते हैं । | जहाँ | भी |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १८५ | दुता(४६) | देवानं | पियसा | | नो | यंति | ते |
| गिरनार | १८६ | दूति(१०५) | . . . | . . . | | . | . . | . |
| शहबाज़गढ़ी | १८७ | | देवनं | प्रियस | दुत | न | व्रचंति | ते |
| मानसेरा | १८८ | . . | . . न | प्रियस | | नो | यंति | ते |
| संस्कृत-अनुवाद | | दूताः | देवानां | प्रियस्य | {दूताः} | न | यान्ति<br>व्रजन्ति | ते |
| हिंदी-अनुवाद | | दूत | देवताओं के | प्रिय के | {दूत} | नहीं | जाते हैं | वे |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १८९ | पि | सुतु | देवानं | पियंय | धंमवुतं | विधनं (१०) | धंमानुसथि |
| गिरनार | १९० | . | .. | ... | ... | ... | ..नं | धमानुसस्टिं |
| शहबाज़गढ़ी | १९१ | पि | श्रुतु | देवनं | प्रियस | ध्रमवुटं | विधेनं | ध्रमनुशस्ति |
| मानसेरा | १९२ | पि | श्रुतु | देवनं | प्रियस | ध्रमवुतं | विधनं | ध्रमनुशस्ति |
| संस्कृत-अनुवाद | | अपि | श्रुत्वा | देवानां | प्रियस्य | धर्मवृतं | विधानं | धर्मानुशिष्टिं |
| हिंदी-अनुवाद | | भी | सुनकर | देवताओं के | प्रिय के | धर्मवृत को | विधान को | धर्मानुशिष्टि को |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १९३ | | धंमं | अनुविधियंति | अनुविधियिसंति | चा | ये |
| गिरनार | १९४ | च | धम | | . . . . . . . | . | . |
| शहबाज़गढ़ी | १९५ | | ध्रमं | अनुविधियंति | अनुविधियिशंति | च | यो |
| मानसेरा | १९६ | | ध्रंमं | अनुविधियंति | अनुविधियिसंति | च | य |
| संस्कृत-अनुवाद | | च | धर्म | अनुविदधन्ति | अनुविधास्यंति | च । | यत् |
| हिंदी-अनुवाद | | और | धर्म को | अनुसरण करते हैं | अनुसरण करेंगे | और । | जो |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | १९७ | से | लधे(२१) | एतकेना | होति | सवता | विजये | |
| गिरनार | १९८ | . | . . | . . . . | . . | . . . | विजयो | सवथा |
| शहबाज़गढ़ी | १९९ | च | लधे | एतकेन | भोति | सवत्र | विजयो | सवत्र |
| मानसेरा | २०० | . | . . | .तकेन | होति | | विज . | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | तत् च | लब्धं | एतावत्केन | भवति | सर्वत्र | विजयः | { सर्वत्र |
| हिंदी-अनुवाद | | वह और | प्राप्त | इतने से | होती है | सर्वत्र | विजय | { सर्वत्र |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २०१ | | | पितिलसे | से | गधा | सा | होति |
| गिरनार | २०२ | पुन | विजयो | पीतिरसो | सो | लधा | सा | |
| शहबाज़गढ़ी | २०३ | पुन(४४) | विजयो | प्रितिरसो | सो | लध | | भोति |
| मानसेरा | २०४ | . . | . . . | . . . . | . | . . | | . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | पुनः | विजयः } | प्रीतिरसः | सः। | लब्धा<br>गाढा | सा | भवति |
| हिंदी-अनुवाद | | फिर | विजय } | प्रीति-रस [वाला] | वह। | प्राप्त<br>गाढ़ी | वह | होती है |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २०५ | पिति | | पिति | धंमविजय(५२)षि | लहुका | वु | खो |
| गिरनार | २०६ | पीती | होति | | धमवीजयम्हि(१०६) | . . . | . | . |
| शहबाज़गढ़ी | २०७ | प्रिति | | | ध्रमविजयस्पि | लहुक | तु | खो |
| मानसेरा | २०८ | . . | | | . . . . . . (७०) | . . . | . | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रीतिः | {भवति} | प्रीतिः | धर्मविजये । | लघुका | तु | खलु |
| हिंदी-अनुवाद | | प्रीति | {होती है} | प्रीति | धर्मविजय में । | हलकी | तो | निश्चय |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २०९ | सा | पिति | पालंतिक्यमेवे | महफला | मंनंति | देवनं |
| गिरनार | २१० | . | . . | . . . . . . | . . . . | . . . | . . नं |
| शहबाज़गढ़ी | २११ | स | प्रिति | परत्रिकमेव | महफल | मेञति | देवनं |
| मानसेरा | २१२ | . | . . | . . . . . . | . . . . | . . . | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | सा | प्रीतिः । | पारत्रिकमेव | महाफलं | मन्यते | देवानां |
| हिंदी-अनुवाद | | वह | प्रीति [है]। | पारलौकिक [लाभ] को ही | महाफलवाला | मानता है | देवताओं का |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २१३ | पिने(५३) | एताये | चा | अठाये | इयं | धंमलिपि | लिखिता |
| गिरनार | २१४ | प्रियो | एताय | | अ . ये | अयं | धंमलि . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | २१५ | प्रियो | एतये | च | अठये | अयो | ध्रमदिपि | दिपिस्त |
| मानसेरा | २१६ | प्रिये | एतये | | अथ्रये | इयं | ध्रम . . | लिखित |
| संस्कृत-अनुवाद | | प्रियः । | एतस्मै | च | अर्थाय | इयं | धर्मलिपिः | लिखिता । |
| हिंदी-अनुवाद | | प्रिय । | इस(के लिये) | और | प्रयोजन के लिये | यह | धर्मलिपि | लिखाई । |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २१७ | किति | पुता | पापोता | मे | स्य .(५४) | नवं | विजय |
| गिरनार | २१८ | . . . | . . | . . . | . | . . | . . | विजयं |
| शहबाज़गढ़ी | २१९ | किति | पुत्र | पपोत्र | मे | स्यसु | नवं | विजयं |
| मानसेरा | २२० | किति | पुत्र | प्रपोत्र | मे | स्य. | नव | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | किमिति | पुत्राः | प्रपौत्राः | मे | स्युः | नवं | विजयं |
| हिंदी-अनुवाद | | क्यों ? यह (= कि) | पुत्र | प्रपौत्र | मेरे | होवें | नए (को) | विजय को |

| | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २२१ | म | विजयंतविय | मनिषु | षयकषि | नो |
| गिरनार | २२२ | मा | विजेतव्यं | मञा | सरसके | एव |
| शहबाज़गढ़ी | २२३ | म | विजेतवियं | मञिषु | . . . क | . यो |
| मानसेरा | २२४ | . | . . . . . | . . . | . . . . | . (७१) |
| संस्कृत-अनुवाद | | मा | विजेतव्यं | मन्येरन् । | शराकर्षे<br>शरासके | नु<br>एव |
| हिंदी-अनुवाद | | मत | जीतने योग्य(को) | मानें । | बाण खैंचने [से होने] वाले(में)<br>बाण फेंकने [से होने] वाले(में) | ही |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २२५ | विजयषि | खंति | चा | लहु(५५)दंडता | चा | लोचेतु |
| गिरनार | २२६ | विजये | छांतिं | च(१०७) | . . . . . | . | . . . |
| शहबाज़गढ़ी | २२७ | विजये | छंति | च . | लहुदंडतं | च | रोचेतु |
| मानसेरा | २२८ | . . . | . . | . | . . . . . | . | . . . |
| संस्कृत-अनुवाद | | विजये | शांतिं | च | लघुदंडतां | च | रोचयन्ताम् । |
| हिंदी-अनुवाद | | विजय में | शांति को | और | लघुदंडता को | और | रुचि करें । |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २२९ | तमेव | चा | विजयं | मनतु | ये | धमंविजये | वे |
| गिरनार | २३० | ... | . | ... | ... | . | ..... | . |
| शहबाज़गढ़ी | २३१ | तं एव | | विज | मञ(४५) | यो | ध्रमविजयो | सो |
| मानसेरा | २३२ | ... | | .. | .. | . | ..... | . |
| संस्कृत-अनुवाद | | तम् एव | च | विजयं | मन्यताम् | यः | धर्मविजयः। | सः |
| हिंदी-अनुवाद | | उसको ही | और | विजय | मानें | जो | धर्मविजय [है]। | वह |

| | | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २३३ | हिदलोकिक्य . | पललो(५६)किक्ये | षवा | च | निलति | होतु | |
| गिरनार | २३४ | . . . . . | . . . . . | . . | . | . . . | . . | |
| शहबाज़गढ़ी | २३५ | हिदलोकिको | परलोकिको | सव्र | च | निरति | भोतु | य |
| मानसेरा | २३६ | . . . . . . | . . लोकिके | सव्र | च | निरति | होतु | य |
| संस्कृत-अनुवाद | | ऐहलौकिकः | पारिलौकिकः । | सर्वा | च | निरतिः | भवतु | या |
| हिंदी-अनुवाद | | इस लोक का [और] | परलोक का [है] । | सब | और | आनंद | हो | जो |

| | | | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| कालसी | २३७ | उयामलति | षा | हि | हिदलोकिक | | पललोकिक्या(५७) |
| गिरनार | २३८ | . . . . . | . | . | इलोकिका | च | पारलोकिका च(१०८) |
| शहबाज़गढ़ी | २३९ | स्रमरति | स | हि | हिदलोकिक | | परलोकिक(४६) |
| मानसेरा | २४० | स्रमरति | स | हि | हिदलोकिक | | परलोकिक(७२) |
| संस्कृत-अनुवाद | | उद्यमरतिः ।<br>श्रमरति । | सा | हि | ऐहलौकिकी | च | पारलौकिकी च । |
| हिंदी-अनुवाद | | उद्यम का आनंद [है] ।<br>श्रम का आनंद [है] । | वह | हि | इहलौकिक | और | पारलौकिक [है] । |

## [ हिंदी अनुवाद ]

अभिषिक्त होने के आठवें वर्ष देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने कलिंगों[1] को जीता। यहाँ से डेढ़ लाख प्राणी बाहर ले जाए गए, एक लाख आहत हुए और उससे अधिक (संख्या में) मरे। इसके अनंतर जीते हुए कलिंगों में देवताओं के प्रिय का खूब धर्मविस्तार, धर्मकामना और धर्मानुशिष्टि हुई। इस पर कलिंगों को जीतनेवाले देवताओं के प्रिय को बड़ा पछतावा होता है, ( क्योंकि ) जहाँ लोगों का वध, मरण या देश-निकाला हो उस देश को मैं जीतने पर भी नहीं जीता हुआ मानता हूँ। यह (वध आदि) देवताओं के प्रिय को अत्यंत दुःखद और भारी जान पड़ता है। यह देवताओं के प्रिय को और भी भारी जान पड़ता है (क्योंकि) वहाँ सर्वत्र ब्राह्मण, श्रमण तथा दूसरे धर्मवाले और गृहस्थ रहते हैं, जिनमें सबसे पहले भरण-पोषण विहित है, जिनमें मातापिता की शुश्रूषा, गुरु की शुश्रूषा, मित्र, परिचित, सहायक, संबंधी तथा नौकर चाकरों का उचित आदर और ( उनकी ओर से ) दृढ़ भक्ति का विधान है। ऐसे लोगों का वहाँ घात, वध, या सुख से रहते हुओं का देशनिकाला होता है। जिन सुव्यवस्थित लोगों का स्नेह नहीं घटा है उनके मित्रों, परिचितों, सहायकों तथा कुटुंबियों को दुःख होता है। (इसलिए) उनका भी उपघात होता है। यह दशा सब मनुष्यों की है पर देवताओं के प्रिय को यह अधिक दुःखद जान पड़ती है। कोई ऐसा जनपद नहीं है जहाँ ब्राह्मण और श्रमण आदि के अनंत संप्रदाय न हों। ऐसा कोई

---

(१) **कलिंग**–कलिंग प्रदेश के वासी। यह प्रदेश महानदी और गोदावरी नदियों के बीच में बंगाल की खाड़ी के पश्चिम किनारे पर है। आजकल के उड़ीसा प्रांत का यह पुराना नाम है। इस प्रदेश के प्राचीन इतिहास का बहुत कुछ पता खारवेल के अभिलेख से लगता है।

जनपद भी नहीं है जिसमें मनुष्यों की किसी न किसी धर्म में प्रीति न हो। जितने मनुष्य कलिंग-विजय ( प्राप्ति ) के समय आहत हुए, मारे गए और बाहर निकाले गए उनका सौवाँ अथवा हजारवाँ भाग भी (यदि) आहत होता, मारा जाता या निकाला जाता तो आज देवताओं के प्रिय को भारी दुःख देनेवाला होता। देवताओं के प्रिय का मत है कि जो अपकार करता है वह भी क्षमा के योग्य है यदि वह क्षमा किया जासके। जो वन-निवासी देवताओं के प्रिय के विजित देश में हैं उनको भी वह मनाता और उनका ध्यान रखता है कि जिसमें देवताओं के प्रिय को पछतावा न हो। वे अपने कर्मों पर लज्जित हों और नष्ट न हों। देवताओं का प्रिय सब जीवों की अक्षति, संयम, समचर्या, तथा प्रसन्नता चाहता है। जो धर्म की विजय है वही देवताओं के प्रिय की मुख्य विजय है। यह विजय देवताओं के प्रिय को यहाँ ( अपने राज्य में ) तथा सब सीमांत प्रदेशों में छः सौ योजन तक जिसमें अंतियोकस[1] नाम का यवन राजा तथा अन्य चार राजा—तुरमय[2], अंतकिन[3], मग[4] तथा असिकसुदर[5] (के राज्य) हैं तथा जिससे दक्षिण की ओर चोड़[6], पांड्य[7], ताम्रपर्णीवाले[8] हैं, प्राप्त

---

(१) **अंतियोकस**—देखो टि० ८, प्र० २।

(२) **तुरमय**—टालेमी फिलाडेलफस, मिस्र का राजा, ई० पू० २८५ से २४७ तक।

(३) **अंतकिन**—एंटीगोनस गोनटस, मेसिडोनिया का राजा, ई० पू० २७८ से २३९ तक।

(४) **मग**—मगस, सिरीनी का राजा जो टालेमी का भाई था। यह ई० पू० २८२ में स्वतंत्र हुआ और २५८ में मरा।

(५) **असिकसुदर**—एलेकजेंडर, एपिरस का राजा, ई० पू० २७२ से २५८ तक।

( ६ ) **चोड**—चोल देखो टि० ३, प्र० २।

( ७ ) **पांड्य**—देखो टि० ४, प्र० २।

( ८ ) **ताम्रपर्णी**—देखो टि० ७, प्र० २।

हुई। यहां विष[1], वृज्जि[1], यवन[2], कंबोज[3], नाभितियों[4], भोजों[5], पैठनिकों[6], अंध्र[7], पुलिंद[8] आदि सब ( के ) देशों में देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन माना जाता है । जहां देवताओं के प्रिय के दूत नहीं जाते वहाँ के लोग भी देवताओं के प्रिय के धर्मवृत, धर्मविधान और धर्मानुशासन को (अपने राज्य में) सुनकर उसका अनुसरण करते हैं और ( बराबर ) करेंगे। अब तक ( इस प्रकार की ) जो विजय प्राप्त हुई है उस प्रेम की विजय से आनंद होता है पर यह आनंद हलका है । देवताओं का प्रिय उस ( आनंद ) को महा फलदायक मानता है जो परलोक से संबंध रखता है । इसी लिए मैंने यह धर्मलिपि लिखवाई कि जिसमें मेरे पुत्र और प्रपौत्र शस्त्रों द्वारा प्राप्त नई विजय को प्राप्त करने योग्य न मानें । शांति और लघुदंडता में रुचि रक्खें और धर्म की विजय को ही विजय समझें, (क्योंकि) वह इस लोक और परलोक ( दोनों ) में फलदेनेवाली होती है । उद्यम में रति ही सब प्रकार की जीत है (क्योंकि) वह इस लोक और परलोक ( दोनों ) में फल देनेवाली है ।

---

( १ ) **विष, वृज्जि**—ये पुरानी जातियों के नाम हैं ।

( २ ) **यवन**—देखो टि० ६, प्र० ५ ।

( ३ ) **कंबोज**—देखो टि० ६, प्र० ५ ।

( ४ ) **नाभिती**—इनका अबतक पता नहीं चला । अर्थशास्त्र में नाभाग नाम के एक प्राचीन राजा का उल्लेख मिलता है ।

( ५ ) **भोज**—भोजों का राज्य, विदर्भ, आधुनिक बरार के इलिचपुर में था ।

( ६ ) **पैठनिक**—देखो टि० ७, प्र० ५ ।

( ७ ) **अंध्र**—यह एक अत्यंत प्राचीन जाति है जिसने अशोक की मृत्यु के उपरांत एक प्रभावशाली राज्य स्थापित किया था । यह राज्य ४०० वर्ष से अधिक तक वर्तमान रहा ।

( ८ ) **पुलिंद**—इनसे तात्पर्य जंगली जातियों से जान पड़ता है ।

# १३—भूपति कवि।

[ लेखक—पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित, काशी ]

भाद्रपद १९७९ की सम्मेलन पत्रिका, भाग १०, अंक १ में लाला भगवानदीनजी ने भूपति कविकृत भागवत दशम स्कंध का निर्माण-काल तथा कवि का परिचय देने की कृपा की है। इससे पूर्व श्रावण सं० १९६८ की सरस्वती में मुंशी देवीप्रसादजी का इसी संबंध में एक महत्व-पूर्ण लेख निकल चुका है परंतु विद्वन्मंडली ने इसे पर्याप्त न समझा और न इस पर अब तक कोई विचार ही किया।

भूपति कवि के समय आदि के विषय में किस प्रकार भ्रम फैला है उसे दिखाना तथा अब तक जो जो मत प्रकाशित हुए हैं उनपर विचार करना इस लेख का उद्देश है। भूपति-कृत भागवत दशम स्कंध का रचना-काल सं० १३४४ मान लेने के कारण कवि को चंद बरदाई के पश्चात् प्राचीनता के विचार से दूसरा पद प्राप्त होता है।

उक्त ग्रंथ की अब तक तीन प्रतियाँ प्राप्त हुई हैं—

(१) बाबू कृष्णप्रसादसिंह रईस, गोरखपुर द्वारा प्राप्त, काशी-नागरीप्रचारिणी सभा में रक्षित। लि० का० सं० १८५७।

(२) पंडित केदार नाथ पाठक, पुस्तकाध्यक्ष, आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी के पास, सं० १८५८ की लिखी हुई।

(३) मुंशी देवीप्रसादजी, मुंसिफ, जोधपुर के यहाँ की प्रति, सं० १८५५ की लिखी।

इनमें से प्रथम कैथी लिपि में अशुद्ध और अपूर्ण है और शेष दोनों फारसी अक्षरों में पूर्ण और शुद्ध हैं।

नं० ३ की प्रति अन्य प्रतियों की अपेक्षा कुछ प्राचीन है।

(१) नं० १—यह प्रति नागरीप्रचारिणी सभा को सं० १९५९

(सन् १९०२ ई०) की खोज में गोरखपुर से प्राप्त हुई थी। इसको एक काशी-वासी अल्पज्ञ लेखक ने फ़ारसी अक्षरों से कैथी लिपि में लिखा था, जिससे भाषा में इतनी अशुद्धियाँ हो गई कि लोग अठारहवीं शताब्दी की कविता को चौदहवीं शताब्दी की कविता समझने लगे। फ़ारसी अक्षरों में सत्रह और तेरह लिखने में अंतर भी थोड़ा ही होता है अतः प्रतिलिपि-कर्ता के सत्रह को तेरह लिखने ही से भूलों की यह शृंखला प्रारंभ होती है। लेखक के और लिपि के दोष से बाबू श्यामसुंदरदास ने, जिन्होंने उस वर्ष की हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की रिपोर्ट लिखी है, यह धोखा खाया और सं० १९५९ की रिपोर्ट के नोटिस नं० ११५ पर अशुद्ध रूप में ही कुछ पद्यभाग प्रकाशित कर दिया। यहीं से इस भ्रम का आरंभ होता है। सभा का खोज का कार्य बहुत प्रशंसनीय है, उससे प्राचीन हिंदी साहित्य की बहुत रक्षा हुई है। यदि उक्त बाबू साहब भूपति के रचना-काल के साथ ही उसकी भाषा आदि पर भी विचार कर लेते तो लोगों को इतना न भटकना पड़ता। कदाचित् एक अपूर्व पुस्तक की प्राप्ति के उमंग में उन्होंने इस ओर ध्यान ही नहीं दिया, नहीं तो इतना भ्रम न फैलता।

(२) पंडित केदारनाथ पाठक ने नागरीप्रचारिणी लेखमाला सं० १९६७, भाग १, संख्या ३–४ में वोपदेव पर एक लेख छपवाया था उसमें भी उक्त मत का समर्थन किया गया है।

(३) मिश्र-बंधु-विनोद के पृष्ठ २३६ पर भी खोज की रिपोर्ट से ही कुछ और भी अशुद्धियों के साथ वही कविता उद्धृत की गई। यदि मिश्र-बंधु महोदय चाहते तो मुंशी देवीप्रसादजी के श्रावण सं० १९६८ की सरस्वती के लेख से संशोधन कर सकते थे, क्योंकि मिश्र-बंधु-विनोद उस लेख से दो वर्ष पीछे सं० १९७० में छपा था। कदाचित् उन्हें मुंशीजी के लेख का पता न चला हो इसलिये वे इस संशोधन को न कर सके।

(४) हिंदी फाइनल रीडर के पृ० ३९ पर वही कविता मिश्र-बंधु-विनोद से ली गई है अतः उसमें भी भूल होना अनिवार्य था।

(५) चर्च मिशन, जबलपुर के पादरी मिस्टर एफ़० ई० के, एम० ए० ने भी अपने 'हिंदी लिटरेचर का इतिहास' नामक ग्रंथ में पृष्ठ १८ पर प्रारंभिक कवियों में भूपति को भी खीष्टाब्द १२८७ का ही माना है। पादरी महाशय की अशुद्धि सर्च रिपोर्ट, मिश्र-बंधु-विनोद और कविताकौमुदी आदि के ही आधार पर हुई है परंतु विदेशी होते हुए आपने जो हिंदी की सेवा की है वह बहुत प्रशंसनीय है।

(६) अंतिम भूल लाला भगवानदीनजी से हुई। मिस्टर एफ० ई० के-रचित हिंदी लिटरेचर के इतिहास की समालोचना करते हुए भाद्रपद सं० १९७८ की 'श्रीशारदा' में भूपति कवि के विषय में आप लिखते हैं। "पेज १८ में भूपति का होना तेरहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में लिखा है। यह भूल मिश्रबंधुओं से ली गई है। भूपति कवि अमेठी के राजा थे और ये महाशय अठारहवीं शताब्दी में हुए हैं। इनका नाम गुरुदत्तसिंह था। मिश्रबंधुओं ने अमेंठी के राजा और भूपति को पृथक पृथक व्यक्ति समझकर गलती की है। वही भूल इसमें मौजूद है। यद्यपि ४७ पेज में भूपति उपनाम से राजा गुरुदत्तसिंह का जिक्र किया है पर दोनों व्यक्ति अलग अलग न थे एक ही थे।"

लाला भगवानदीनजी ने एक भूल के सुधारने का उद्योग तो किया पर दुःख का विषय है कि उस उद्योग में वे स्वयं भ्रम में पड़ गए और दूसरी भूलें कर गए। न तो ये भूपति कवि अमेठी के राजा थे, न राजा गुरुदत्तसिंह उपनाम भूपति और ये भूपति एक ही हैं, और न मिश्रबंधुओं ने ही राजा गुरुदत्तसिंह ( भूपति ) और इस भूपति को अलग मान कर भूल की है। यदि लालाजी कुछ भी परिश्रम कर दोनों का रचना-काल देख लेते तो ऐसी भूल न होती। राजा गुरुदत्तसिंह ( भूपति ) का कविता-काल सं० १७९९ और भूपति कवि का सं० १७४४ है। ५५ वर्ष का अंतर भिन्न भिन्न कवि मानने के लिये पर्याप्त है।

सम्मेलन-पत्रिका वाले लेख में लाला भगवानदीनजी ने अपनी भूल

को सुधार दिया है परंतु अपनी पूर्व भूल का कहीं उल्लेख नहीं किया है। अब पाठकों को विदित हो गया होगा कि भूल की शृंखला कहाँ से प्रारंभ होकर कहाँ तक किस प्रकार से पहुँची है।

नं० २ की भागवत में कवि ने अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

भूपति जिन हरि लीला गाई। परम पुनीत सदा सुखदाई॥
ताहि उनायो कायथ जानो। लेखराज को सुत पहिचानो॥
तिनके पिता हरिहि मन लायो। विट्ठलदास नाम जिन पायो॥
कन्हरदास जो उनके भैया। तिनके मन में बसौ कन्हैया॥
जिन गृह करे इटाये माहीं। रहे आप राजन के पाहीं॥
कृष्णदास के सुत जग जाने। जे सब कृष्णदास कर माने॥
कन्हर दास भये बड़ भागी। जिनकी मति कन्हर सों लागी॥
तिनि के वंश जनम धरि आयो। भगत अंश तिनको अब पायो॥
दोहा—गुण निधान के प्रेम तें बानी भई प्रकास।
भव विधान की बुधि दई जानि आपनो दास॥

इससे विदित होता है कि भूपति कवि इटावा-निवासी उनायो कायस्थ लेखराज के पुत्र और विट्ठलदास के पौत्र थे।

कवि ने अपने गुरु का परिचय भी इस प्रकार दिया है—

अब हौं गुरु की महिमा कहौं। जिहि माहीं पूरन पद लहौं॥
जिनको मेघश्याम शुभ नामा। सुमिरत सुनत होत बिसरामा॥
परम प्रवीण पुनीत गुसाईं। भगत रीति प्रगटी सब ठाईं॥
तिनके पिता भगत पद पायो। जिनि दामोदर नाम धरायो॥
कंगल भट्ट प्रसिद्ध बखानी। गुन मंगल सुरगन की जानी॥
तिनिके वंश जनम उन लीनो। वही अंस हरि उनको दीनो॥
प्रथम तिलंग देस के बासी। मथुरा बसि कै भगति प्रगासी॥
हरि नागर को नाँव सुनावै। भवसागर तै पार लगावै॥

अंत में ग्रंथ का निर्माण काल इस प्रकार दिया है—

दो०—संवत् सत्रह सै भये चार अधिक चालीस।
मृगसिर की एकादसी सुद्ध वार रजनीस॥ १॥

दच्छिन देस पुनीत किय, अति पूरन भगवान ।
जो हित सों गावै सुनै, पावै पद निरवान ॥ २ ॥

इससे यह भी स्पष्ट प्रतीत होता है कि भूपति कवि दक्षिण तैलंग देश के निवासी कंगल भट्ट के वंशज दामोदर भट्ट के पुत्र गोस्वामी मेघश्याम के शिष्य थे, जो कि मथुरा में रहते थे। दक्षिण देश में रहकर सं० १७४४ में कवि ने भागवत दशम स्कंध भाषा नामक ग्रंथ की रचना की।

नं० ३ की फारसी लिपि वाली प्रति में भी उपरोक्त कविता बहुत थोड़े अंतर से पाई जाती है, नाम स्थान और संवत् आदि में कोई अंतर नहीं है। श्रावण सं० १९६८ की सरस्वती में उपरोक्त कविता उद्धृत की गई है।

नं० १ की प्रति में प्रारंभ के पृष्ठ नष्ट हो जाने से कवि और उसके गुरु के परिचय का वर्णन नहीं मिलता। केवल निर्माणकाल इस प्रकार दिया गया है—

दो० (१) संमत तेरह सै भए चारी अधोक चालीस ।
मरगेसर सुध एकादसी बुध बार रजनीस ॥
( २ )………देस पुनीत भे पुरन भाखो पुरान ।
जो हीत सो गावै सुनै पावै पद नीवान ॥

इसके पश्चात् भागवत के उन छंदों को जो सं० १९५९ की रिपोर्ट में नं० १ की कैथी लिपि वाली प्रति से लिए गए हैं दे कर उसका शुद्ध रूप नं० २ की प्रति से भी उद्धृत किया जाता है जिससे दोनों का अंतर स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

नं० १ की कैथी प्रति से उद्धृत

( १ ) ताको तुम कीजो जो जानो । एतनो बचन हमारो मानो ॥
( २ ) जबइ आबीधी बहनोई कहो । कंस बहीनी मारन ते रहो ॥
( ३ ) करो कोट राखे तव दोऊ । तीन ढीग जान न पावै सोऊ ॥
( ४ ) दुनों के पग वेरी डारी । चौहु दीस बहु चौकी बैठारी ॥

नं० २ की फारसी लिपि वाली प्रति से—

( १ ) ताको तुम कीजो जानो। इतनो वचन हमारो मानो॥
( २ ) जब बहनोई या बिधि कह्यो। कंस बहिन मारन तें रह्यो॥
( ३ ) करा कोट तब राखे दोऊ। तिन ढिंग जान न पावै कोऊ॥
( ४ ) दोऊ के पग वेरी डारी। चहुँ दिसि बहु चौकी बैठारी॥

अब नं० १ की कैथी प्रति, रिपोर्ट सं० १९५९, मिश्र-बंधु-विनोद, और लालाजी के सम्मेलन-पत्रिका के लेख का पाठांतर दिखाकर इसपर संक्षेपतया विचार करके अपनी सम्मति भी प्रगट कर दी जायगी।

|  | नं०१ की कैथी प्रति का पाठ। | रिपोर्ट का पाठ। | फारसी प्रति नं०२ का पाठ। |
|---|---|---|---|
| दूसरी पंक्ति— | आवीधी | आवीची | या विधि |
| ,, | मारन ते रहो | मारने रहो | मारन तें रह्यो |
| चौथी पंक्ति | चौहु दीस | चौहु दीस | चहुँ दिसि |
| संबत का दोहा | सुध | सुद | सुध |
| स्थान का दोहा | देस पुनीत भे | दिस पुनीत भे | देस पुनीत |
| ,, | पुरन भाखो पुरान | पुरन लाओ पुरान | अति पूरन भगवान |

---

|  | रिपोर्ट का पाठ | मिश्र-बंधु-विनोद का पाठ |
|---|---|---|
| तीसरी पंक्ति | राखे तव दोऊ | राखे तन दोऊ |
| ,, | तीन ढीग | तिन ढिग |
| चौथी पंक्ति | दुनों के पग | दूनों के पग |
| ,, | चौड दीस | चौ दुदीस |
| संवत् का दोहा | चारी अधीक | चार अधिक |
| ,, | वुधवार रजनीस | वुद्धवार रजतीस |

नोट—मिश्र बंधु-विनोद का शेष पाठ रिपोर्ट सं० १९५९ के पाठ के समान है।

| | लालाजी के लेख का पाठ | नं० २ की फारसी लिपि-वाली प्रति का पाठ |
|---|---|---|
| तीसरी पंक्ति | कारा कोटहिं राखे दोऊ | करा कोट तव राखे दोऊ |
| संवत् का दोहा | सुदी वार रजनीस | सुद्ध वार रजनीस |
| निर्माण स्थान का दोहा | अति क्रिय पूरण भगवान, | अति पूरन भगवान |

### पंचांग का निर्णय

मार्गशिर शुक्ल ११ सं० १३४४ को ज्योतिष के गणनानुसार चंद्रवार आता है परंतु नं० १ की प्रति में बुद्धवार दिया है अतः सं० १३४४ को निर्माण काल मानना अशुद्ध है ।

इसी प्रकार मार्गशिर शुक्ल ११ सं० १७४४ को ज्योतिष-गणना के विचार से सोमवार ही आता है जैसा कि नं० २ तथा नं० ३ की प्रति में दिया हुआ है । ज्योतिषविद् पंडित वालरुचिजी के उद्योग से सं० १७४४ का पंचांग भी, मुहूर्त चिंतामणिकार के वंशजों के यहाँ से हस्तगत हो गया अतः उसके आधार पर उस तिथि का पूरा पंचांग यहाँ उद्धृत किया जाता है—

| मार्गशिर शु० | तिथि | वार | नक्षत्र |
|---|---|---|---|
| ,, ,, | १० २–३६ | रवि | अश्विनी ४४–५० |
| ,, ,, | ११ ५७–२४ | ,, | |
| | ११ ००–२४ | चंद्र | |
| ,, ,, | १२ ५३–५९ | चंद्र | भरणी ४२–९ |

नोट—भूपति कवि ने वैष्णव होने के कारण चंद्रवार को ही एकादशी मानी है क्योंकि वैष्णव लोग द्वादशीविद्धा एकादशी ही मानते हैं ।

( १ ) नं० १ की सभावाली प्रति को ध्यानपूर्वक देखने से प्रतीत होता है कि उसकी भाषा प्राचीन नहीं है बल्कि परिष्कृत

हिंदी है, उसमें जो रूप पाये जाते हैं वे अपभ्रंश भाषा की अपेक्षा आधुनिक व्रज भाषा से अधिक मिलते हैं।

( २ ) कवि के व्रजवासी कायस्थ होने तथा प्राचीन प्रतियाँ फारसी अक्षरों में मिलने के कारण विदित होता है कि कवि ने अपना ग्रंथ व्रज भाषा और फारसी लिपि में ही लिखा होगा। नं० २ और नं० ३ की प्रतियाँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उस समय तक कायस्थों पर मुसलमानी सभ्यता का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। अब भी बहुत से कायस्थ संध्या आदि धर्म-ग्रंथ फ़ारसी अक्षरों में लिखकर ही प्रयोग में लाते हैं। अतः इन बातों से भी उक्त मत का ही समर्थन होता है।

( ३ ) नं० १ की प्रति के लेखक ने हिंदी के पूर्वी प्रांत काशी का निवासी और अल्पज्ञ होने के कारण व्रजभाषा को अवधी का रूप दे दिया है। आवीधी, जवइ, बहीनी और चारी शब्द ही इस के उदाहरण स्वरूप हैं; अवधी भाषा में उच्चारण की प्रवृत्ति ईकारांत की ओर ही अधिक पाई जाती है। इस प्रति में सर्वत्र ह्रस्व उकार की मात्रा ही पाई जाती है दीर्घ ऊकार की मात्रा का प्रयोग कहीं नहीं पाया जाता। ऊकार मात्रा वाले शब्दों को भी ह्रस्व करके लिखा गया है, और शब्दों में भी ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व करने के उदाहरण बहुतायत से पाये जाते हैं, अतः प्रति को अशुद्ध मानने में कुछ भी संदेह नहीं रहता।

( ४ ) कवि ने इस ग्रंथ में "व्रजभाषा" शब्द का प्रयोग किया है जिसका प्रयोग प्राचीन ग्रंथों में नहीं पाया जाता, सत्रहवीं शताब्दी के पश्चात् के ग्रंथों मैं ही दिखाई पड़ता है।

( ५ ) निर्माण-काल के दोहे से भी यही प्रगट होता है कि यह ग्रंथ विक्रम अठारहवीं शताब्दी का ही बना हुआ है। नं० १ की प्रति के प्रतिलिपिकर्ता की भूल से सत्रह को तेरह

पढ़ने के कारण ही साहित्य संसार में यह भ्रांति फैल गई जैसा कि वर्णन किया जा चुका है ।

( ६ ) सन् १९०६-८ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्ट के नोटिस नं० १३८ पर इन्हीं भूपति कवि कृत 'रामचरित्र रामायण'' नामक ग्रंथ और भी बतलाया गया है परंतु उस प्रति में निर्माण-काल तथा लिपि-काल कुछ भी नहीं है । पटियाला-वाले भूपति कृत एक 'रामचरित्र रामायण' का नाम मिश्र-बंधु-विनोद में दिया हुआ है । ये ग्रंथ भी भूपति कवि की प्राचीनता नहीं सिद्ध करते; इसलिये इनके आलोच्य भूपति कृत होने में भी संदेह है ।

( ७ ) उपरोक्त प्रमाणों से पाठकों को यह भली भाँति विदित होगया होगा कि भूपति कवि कृत दशम स्कंध भागवत सं० १७४४ में ही बना था । उसको प्राचीन ग्रंथ मानना भ्रांति मात्र है । प्रति नं० १ के लिपि-कर्ता ने तो अत्यधिक भूलें की ही थीं उससे भी अधिक अशुद्धियाँ सभा की रिपोर्ट में हो गईं और रिपोर्ट से भी अधिक अशुद्धियाँ मिश्र-बंधु-विनोद में पाई जाती हैं ।

इसके विपरीत लालाजी ने कुछ अंश शुद्ध प्रति नं०२ से लेकर और उसको अधिक परिमार्जित करके सम्मेलन-पत्रिका में दे दिया, इस कारण तत्कालीन भाषा का मूल रूप नष्ट हो गया । हमने मूल ग्रंथों के ज्यों के त्यों अवतरण देने का प्रयत्न किया है। आशा है विज्ञ पाठक निष्पक्ष रीति से भूपति कवि के विषय में सम्मति स्थिर करने का प्रयत्न करेंगे ।

( ८ ) गोस्वामी की उपाधि वैष्णवों के चारों संप्रदायों के उत्पत्ति-काल से ही प्रारंभ हुई है अतः गोस्वामी शब्द सोलहवीं शताब्दी के पूर्व व्यवहृत नहीं होता था, इसलिये दशम स्कंध

भागवत भाषा को भूपति कवि द्वारा चौदहवीं शताब्दी में निर्मित मानना नितांत असंगत है।

( ९ ) ज्योतिष कीगणना भी सं० १७४४ के अनुसार ठीक मिलती है और १३४४ के विरुद्ध है।

( १० ) श्रीमान् पूज्यपाद गोस्वामी राधाचरण जी से विदित हुआ कि गंगल भट्ट कंगल भट्ट का अपभ्रंश है। विक्रमी सोलहवीं शताब्दी में ये श्रीनिम्बार्क संप्रदाय की गद्दी पर थे। ये श्रीकेशव काश्मीरी के गुरु थे। इन भट्टों की गद्दी पर अब ध्रुवस्थल मथुरा में गौड़ ब्राह्मण और विरक्त वैष्णव पृथक् पृथक् विराजमान हैं। भूपति कवि अठारहवीं शताब्दी में हो सकते हैं, चौदहवीं में नहीं।

( ११ ) अठारहवीं शताब्दी से पूर्व की लिखी हुई उक्त भागवत की कोई प्रति अब तक प्राप्त नहीं हुई।

इस लेख के लिये सामग्री एकत्र करने में पंडित केदारनाथ जी पाठक से और ज्योतिष संबंधी सहायता ज्योतिर्विद् पंडित बालरुचिजी से प्राप्त हुई है अतः उन सज्जनों का मैं अत्यंत कृतज्ञ हूँ।

# १४—मंडलीक काव्य

## अर्थात्

## सुराष्ट्र के इतिहास पर कुछ नया प्रकाश।

[ लेखक—पंडित जयचंद्र विद्यालंकार, लाहौर ]

सुप्रसिद्ध प्रबंधचिंतामणि के संपादक श्रीरामचंद्र दीनानाथ शास्त्री ने उक्त पुस्तक के टिप्पणों में गंगाधरकृत मंडलीक नृपचरित्र का उल्लेख किया है। श्री पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा ने भी अपनी पुस्तिका "भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास की सामग्री" में इस काव्य का नाम और परिचय दिया है। पिछले दिनों हमें अपने श्रद्धेय गुरु श्री ओझाजी के पास इस काव्य की एक हस्तलिखित प्रति देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसके सिवाय श्री ओझाजी से इस काव्य के विषय में कुछ नोट भी हमें मिले जो उन्होंने अपनी काठियावाड़ यात्रा में भावनगर के स्वर्गीय (दीवान) विजयशंकर गौरीशंकर ओझा की पुस्तक से लिए थे। यद्यपि ये नोट बड़ी सरसरी तौर पर लिए गए थे तो भी कुछ स्थलों में हमें इनसे अच्छी मदद मिली है।

इस काव्य का नायक मंडलीक जूनागढ़ के यादव चूडासमा वंश का एक राजा है। उसका नाम और उसके पूर्वजों और वंशजों के नाम अन्य स्रोतों से भी मिल चुके हैं। प्रस्तुत काव्य में यद्यपि कोई तिथि नहीं है, तो भी वह इस राजा के ही दरबार में लिखा गया प्रतीत होता है। कवि ने अपने नाम के सिवाय अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया। काव्य के अंत में सिर्फ़ इतना ही लिखा है—इदममृतकलावत्कोमलं...कलियुगकविजेत्राकारिगंगाधरेण।

काव्य की जो प्रति हमारे देखने में आई उसके लिये लैनमन का प्रयोग "अपपाठस्खलितरत्नाकर" बहुत कोमल होगा। पहले, दूसरे

और चौथे सर्गों के सिवाय शेष समूची पुस्तक में शब्दों का ऐसा अंगभंग हुआ है कि इन्हें पहचानना ही कठिन हो गया है । तौ भी ऐतिहासिक अंश में विशेष क्षति नहीं हुई ।

## कथा ।

काव्य में कुल दस सर्ग हैं । पहले सर्ग में मंगलाचरण के साथ ही गिरनार पर्वत का मनोहर वर्णन शुरू हो जाता है[१]। तीन चोटियां होने के कारण इस पर्वत के तीन नाम हैं—उज्जयंत, रैवतिक ( या रैवत ) और कुमुद[२] । रैवत के भिन्न भिन्न भागों में कई देवताओं के स्थान हैं[३] । इसी पर्वत के मस्तक से स्वर्णरेखा[४] नदी नीचे उतरी है ( श्लोक ९ ) ।

ग्यारहवें श्लोक के दूसरे पाद से लेकर ३५वें श्लोक के अंत तक का भाग हमारी पुस्तक में नहीं है, किंतु इसमें पर्वत का ही वर्णन है, क्योंकि ३६वें श्लोक से फिर वही जारी है । कहा है कि इसी पर्वत का नाम गिरिनारायण भी है, क्योंकि यह पर्वतों में नारायण के समान है ( श्लोक ३७ ) ।

३८ वें श्लोक से जीर्णदुर्ग ( जूनागढ़ का) मनोहर वर्णन चलता है, जिसमें नगर की रचना, उसकी रक्षा के प्रबंध और व्यापार आदि का उल्लेख है । किले के वर्णन-प्रसंग में कहा है[५] कि वह

---

( १ ) अस्ति स्वस्तिकरः श्रीमान् पर्वतः सर्वतः श्रुतः ।
त्रिकूटकूटसङ्गूढब्रह्मविष्णुशिवात्मकः ।। श्लो० १ ।।

( २ ) शिखरत्रयभेदेन नामभेदमगादसौ ।
उज्जयन्तो रैवतिकः कुमुदश्चेति भूधरः ॥ श्लो० २ ॥

( ३ ) अम्बिका मस्तकं यस्य ललाटं निमिषेश्वरः ।
अभ्यन्तरं भवो बाहू ब्रह्मदामोदरौ स्थितौ ॥ श्लो० ८ ॥

( ४ ) रुद्रदाम के गिरनार के शिलालेख में इस नदी का नाम सुवर्णसिकता आया है, और इसके साथ पलाशिनी का नाम भी है । ( एपिग्राफ़िआ इण्डिका, जि० ८, पृ० ४२ )

( ५ ) यद्दुर्गमकरीयन्त्र पूपकागुलिदम्भतः ।
प्रतिभूपतिसैन्यानि तर्जयत्यतिगर्जितम् ॥ श्लो० ४३ ॥

अपने "मकरीयंत्र" की "पूपकागुलियों"[1] की गर्ज से शत्रु की सेना को मानो डांट देता है ।

४९ वें श्लोक से नगर के व्यापार का वर्णन है । चावल, गेहूं, मूंग, माष, घी, दूध, दही और विचित्र वस्त्रों के उल्लेख के बाद मोतियों, जवाहरों की और कुंकुम, कस्तूरी, कर्पूर, अगर और चंदन की दूकानों पर कवि की कल्पना खूब विनोद करती है ।

६६ वें श्लोक से ऐतिहासिक वृत्तांत का आरंभ इस प्रकार होता है—उस जीर्ण दुर्ग में यदुकुल का खंगार नामी राजा राज्य करता था ( श्लो० ६६ ) । इस राजा की सीमा में गोहिल से लेकर झल्ल तक ८४ सामंत थे ( श्लो० ६८ ) । प्रभासपत्तन[2] में यवनों को मारकर इसीने सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार किया था[3] । इस राजा का पुत्र जयसिंह था "जिसने युद्ध में यवन राजाओं के हाथियों की घटाओं को छिन्न भिन्न कर डाला था[4] ।" जयसिंह का पुत्र मोकलसिंह ( श्लो० ८० ) और उसका मेलिग ( श्लो० ८२ ) या मेलग ( श्लो० ८५ ) था । इस मेलग ने मुसलमानों के डर से भाग कर आए हुए झल्ल ( झाला ) कृष्ण को शरण दी थी और सुलतान अहमद के इसके किले को घेरने पर उसे पकड़कर उसका सब कुछ लूट लिया था ।[5]

---

( १ ) प्राचीन काल में पत्थर फेंकने का एक यंत्र युद्ध में काम आता था, जिसे फारसी में मंजनीक और अंग्रेजी में Catapult कहते हैं । यही मकरीयंत्र होगा । पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा से हमें मालूम हुआ है कि जूनागढ़ के किले में अब भी पत्थर के गोलों के, जिनमें से किसी किसी का वज़न एक मन तक भी है, तहखाने भरे पड़े हैं ।

( २ ) आधुनिक वेरावल पत्तन जहां सोमनाथ का मंदिर है ।

( ३ ) प्रभासपत्तने येन हत्वा यवनभूपतीन् ।
श्रीसोमनाथप्रासादजीर्णोद्धारः कृतः कलौ ॥ श्लो० ६१ ॥

( ४ ) तस्याभूत्तनयः श्रीमान् जयसिंह इति श्रुतः ।
येन यावनराजेभघटा विघटिता रणे ॥ श्लो० ७७ ॥

( ५ ) यवनेन्द्र भयायातझल्लकृष्णस्य रक्षणम् ।
कुर्वता येन सहसा मही निर्यवनीकृता ॥ श्लो० ८७ ॥

मेलग का पुत्र महीपाल था ( श्लो० ८९ ), जिसने द्वारिका जानेवाले जूनागढ़ियों के लिये रास्ते में अन्नसत्र खुलवा दिए थे ( श्लो० ९३ ) । महीपाल के बहुत काल तक कोई पुत्र नहीं हुआ, इसलिये एक दिन उसने दामोदर की स्तुति की। भगवान् ने प्रसन्न होकर उसे मनोरथ सिद्ध होने का वर दिया । इस प्रकार "अचलान्वयाभिधान" नामक पहले सर्ग की कथा समाप्त होती है ।

कुछ समय पीछे महीपाल के एक पुत्र हुआ जिसका नाम मंडलीक रक्खा गया । बड़ा होने पर चंद्रवंशोचित कर्त्तव्य की शिक्षा के लिये उसके पढ़ने का प्रबंध किया गया । समय पाकर उसकी देह पर जवानी का रंग आया, जिसके वर्णन में कवि ने पूरा कौशल दिखाया है। महीपाल अपने पुत्र के विवाह का विचार करने लगा । मंत्रियों से सलाह माँगने पर उसे उत्तर मिला कि यद्यपि तुम्हारे कुल के ठीक अनुरूप तो हमें कोई क्षत्रिय घराना नहीं दिखाई देता, तो भी गोहिल राजा भीम का पुत्र अर्जुन, जिसने तुर्क तीरंदाज़ों की सेना को अपने तेज से भस्म किया है, कुल में कुछ कुछ तुम्हारे बराबर है।[1] उसकी कुंता नाम की एक सर्वगुणसंपन्ना लड़की है । वह अर्जुन तो तुर्क बादशाह की बहुत सी सेना को मारकर युद्धक्षेत्र में वीरगति को प्राप्त हुआ है, किंतु उसका गोद लिया छोटा भाई डुद ( या दूदा ) उसके पीछे राज्य करता है[2] जो अपनी भतीजी को पुत्री के समान पालता है और वही लड़की मंडलीक के लिये योग्य बधू होगी।

---

योऽहम्मदसुरत्राणं निजदुर्गग्रहाग्रहम्
न्यग्रहीद्वयग्रहीन्नूनं तत्सर्वं स्वं समग्रहीत् ॥ श्लो० ८८ ॥

( १ ) कुलेन किंचित्सदृशो हि राजन् गोहिलभीमक्षितिपालपुत्रः ।
राजार्जुनो योऽर्जुनतुल्यतेजा(स्)तुरुष्कधानुष्कबलान्यधाक्षीत् ॥ ५१॥

( २ ) स चार्जुनक्षोणिपतिस्तुरुष्कनाथस्य सैन्यानि बहूनि हत्वा ।
स्नात्वारिनिस्त्रिंशजलेन देवो दिव्याङ्गनालिङ्गनलालसोऽभूत् ॥५२॥
तस्यानुजः शास्ति तदीयराज्यं तेनैव पुत्रत्वपदे ऽभिषिक्तः ।
..............डुदावनीशः सदुदारचित्तः ॥ पद्यः ५४ ॥

५४ वें पद्य का तीसरा पद स्पष्ट नहीं है, चौथे का पहला अक्षर शायद 'द' हो

महीपाल को यह सलाह पसंद आई और मंडलीक का शीघ्र ही विवाह हो गया। दूसरे सर्ग की कथा यहाँ पूर्ण होती है।

तीसरे सर्ग से पाठ में गड़बड़ शुरू हो जाता है और कहीं कहीं तो भाव मुश्किल से मालूम होता है। कथा का आरंभ मंडलीक के यौवराज्याभिषेक से होता है। दसवें पद्य में आस पास के राजाओं का उसके पास कर रूप में अनेक रत्न लाने का उल्लेख है। ग्यारहवें पद्य से एक घटना का वर्णन चलता है जो कुछ मुश्किल से समझ में आती है। संक्षेप से घटना इस प्रकार प्रतीत होती है—

परले समुद्र का स्वामी राजा संगण कर भेजना बंद कर देता है और मंत्री के भेजे हुए पत्र का निरादर करता है[1]। महीपाल इस बात का पता पाने पर बहुत नाराज़ होता है और मंडलीक उससे संगण पर आक्रमण करने की आज्ञा माँगता है। जल्द ही वह फौज के साथ उस पर जा टूटता है। अचलाधिप (मंडलीक) और जलधीश्वर (संगण) की फौजें टकरा जाती हैं[2]। लड़ाई में संगण घोड़े से गिर पड़ता है और कर देना स्वीकार करता है। मंडलीक विजयलक्ष्मी के साथ लौट आता है।

तेइसवें पद्य में यह वृत्तांत समाप्त होता है और छब्बीसवें से एक नई घटना का वर्णन चल पड़ता है जिसमें और भी अधिक अस्पष्टता है। ऐसा मालूम होता है कि मुसलमान बादशाह का कोई दूत महीपाल के पास आता और दूदा की शिकायत करता है[3]। शिकायत यह है कि तुम्हारे पुत्र का श्वसुर तुम्हारे संबंध के बल पर मेरी भूमि छीनता जाता है जिसका तुम्हें अपने बचन के

---

(१) न र(स)माहरत्करमुदारकरप्रियहेतवे परसरित्पतिपः (?)।
नृपसंगणो(ऽ)वगणयत्सचिवप्रहितं च पत्रमपरत्रपितः (?) ॥ पद्य ११॥

(२) अचलाधिपस्य कटकं सहसा जलधीश्वरस्य कटकं च मिथः ॥१७॥

(३) यवनेश्वरेण यवनोद्गवनो (?) महिपालभूपनिकटं प्रहितः।
स गभीरवागकथयन्मथतं (?) डुदभूमिपेन वचनाद्विकुत्तं (?)॥ प० २६॥

अनुसार निवारण कराना चाहिए[1] । राजा महीपाल इसका यह उत्तर देता है कि बादशाह के मित्र का जो शत्रु है वह हमारा भी शत्रु है, यवन राजा से कहो कि उसके कष्ट को हम शीघ्र शमन करेंगे[2] । यवन के चले जाने पर महीपाल अपने मंत्री के साथ विचार करता है कि कलियुग में इन यवनों की शक्ति बहुत बढ़ गई है, किन किन राजाओं की भूमि इन्होंने नहीं जीत ली? मेरे पूर्वजों ने यवनों को बुरी तरह सताया था, तब से ये लोग यदुवंश के साथ वैर नहीं करते;[3] अब यवनेश्वर से लड़ना भी उचित नहीं है, और दूदा भी हमारा संबंधी है, इसीसे मेरा मन संशयाकुल है । मंत्री इस पर एकदम उत्तर देता है कि जिस यवन ने इतनी बड़ी घुड़सवारों की फौज से जगत् को जीत लिया है वह तुम्हारी मैत्री चाहता है, इससे अधिक और क्या चाहिए? जिस तरह बने हमें उसका प्रिय करना चाहिए;

---

( १ ) भवतः सुतश्वसुर एष मदान्मम राजमंडलमदस्तमसा ।
ग्रसते श्रितः प्रतिपदंतिक्तः स निवार्यतां समयवद्भवता ॥ प० २७ ॥
भवतो बलेन मम लोकममी ग्लपयंति भूमिपदुदादिनृपाः ।
यम किंकरा इव समेत्य सदा न कदापि दृक्पथमिताः प्रमिताः (?) ॥प० २८।
मम ते पि सौहृदमदः प्रमदाः प्रमदा इव प्रतिहरंति परं (?) ।
अपरं कदापि रुप्यं सुखदास्तव वास्तप सैसमौमनसि दुष्टधिवो (?) ॥प० २९॥

अठाइसवें पद्य में गोहिल राजा का नाम स्पष्ट रूप में दुद लिखा है, अन्य स्थानों पर डुद या दुद पढ़ा जा सकता है ।

( २ ) तमवीवदन्नरपतिर्यवनं पवनं सुखेन दधत्तं (?) वचने ।
यवनेश्वरस्य सुहृदा विमतो विमतो ममापि न हीनौ(न हि नो ?)विमतिः।प० ३०।
तदुसुक निष्टतम(?) स्वसहोदरस्य निकटं सुभटं ।
गमयाभियाति च तदीयपुरं परिदग्धुकाम इव दोर्महसा ॥ प० ३१ ॥
प्रज(व्रज) यावनावनिपतिप्रवरं मडु(दु)दीरितं कथय सर्वमिदं ।
भवदुद्यमं सुफलतां गमये य(भ)वदापदं दुदकृतां स(श)मये ॥ प० ३२ ॥

( ३ ) कलिकालवर्द्धितबलादचलैर्यवनैर्न विग्रहकथा सुखदा ।
कियतामनेन यवनप्रभुणा पृथिवीभृतां न विजिता पृथिवी ॥ प० ३४ ॥
मम पूर्वजैर्यवनराजकुलं विकलीकृतं समरभूमितले ।
कलयंति तत्प्रभृति वैरममी न कलौ युगे यदुकुले यवनाः ॥प० ३५॥

किंतु दूदा की बात युवराज से कहते हुए मुझे डर लगता है। यवनों से हारकर जो राजा रोज़ रोज़ तुम्हारी शरण में आया करते हैं, वे तुम्हारी सीमा भूमि को छीनकर अपनी क्यों बनाते जाते हैं[1] ?

महीपाल की संशयवृत्ति दूर हो जाती है, वह एकदम तलवार खैंच लेता और दूदा का सिर फोड़ डालने का प्रण करता है। मंडलीक शीघ्र उपस्थित होकर कहता है कि राजा का जिसपर कोप होगा उसे मैं पृथ्वी पर नहीं रहने दूंगा। वह अपने श्वसुर को शिक्षा देने का प्रण करके उसके देश पर चढ़ाई करता और उसके गाँव जलाना शुरू कर देता है[2]।

दूदा भी शीघ्र रणक्षेत्र में आ पहुँचता है, और दोनों की सेनाओं का महाघोर युद्ध होने लगता है। दूदा मंडलीक से कहता है कि तुम युद्ध से लौट जाओ, मेरी कन्या तुम्हारे साथ ब्याही है, वह तुमसे पुत्रवती हो, और तुम भी चिरायु हो, मेरे खिंचे हुए धनुष के सामने तुम न खड़े रहो, तुम्हारी विजय हो, मैं तुम्हारे साथ युद्ध न करूँगा। किंतु मंडलीक इन बातों से नहीं टलता। वह कहता है कि युद्ध से लौटना पाप है, मैं तुमसे बढ़कर संसार में किसी को वीर नहीं मानता, इस लिये तुम्हारी आज परीक्षा करना चाहता हूं—इत्यादि। इस पर दोनों अपनी सेनाओं को पीछे हटा कर परस्पर युद्ध शुरू करते हैं, जिसमें दूदा का सिर उतर जाता है और एकदम बड़ा कोलाहल होता है। विजयी मंडलीक जूनागढ़ लौट आता है। उसे राजा बना कर महीपाल रैवत में तपस्या करने चला जाता है।

इस तरह तीसरे सर्ग की रक्तरंजित कथा समाप्त होती है।

---

(१) विजितं जगज्जनबलेन रणे यवनेन येन हयलक्षवता।
स मृहि(ही)पते तव सखित्वमितः किमतः परं कुशलमर्थयसे ॥ प० ३८ ॥
प्रथमस्य येन चरितेन भवेद्भवता तदेव करणीयतमं।
कथयामि चेत् दुदकृतं विमतं युवराजतो भयमुपैनितराः(मिनितराम्) ।।प०३९।।
यवनार्दिताः प्रतिदिनं नृपते शरणागतास्तव सदैव तु ये।
तव सीमभूमिमपहृत्य ममेत्यनृतेन ते (ऽ)त्र निवसंति कथं ॥ प० ४० ॥

(२) स दुदावनिं समधिगम्य दहन्विषयानमुष्य परितस्त्वरितः (?)॥४७॥

चौथे सर्ग की कथा बड़ी मनोरंजक है और पाठ भी अधिक शुद्ध है। गद्दी पर बैठने के बाद एक रोज़ मंडलीक अपने मंत्री से कहता है कि कोई रूप, गुण, वय और कुल में सदृश राजपुत्री ढूँढ दो जिससे मैं विवाह करूँ। मंत्री इस पर दूर दूर की राजकन्याओं के गुण दोषों का, जैसा कि उसको दूतों से पता लगा था, वर्णन करने लगता है। भले ही उसके दूत सारे भारतवर्ष के हिंदू राज्यों और ज़मींदारियों में न घूमे हों, कवि की कल्पना सारे देश का चक्कर अवश्य लगाती है। सिंहलद्वीप से शुरू कर कर्णाट, वर्णाट त्रिलिंग, कलिंग और कान्यकुब्ज होती हुई वह कामेश्वरी के उपासक कामरूप (आसाम) तक पहुँचती है, जहाँ की राजकन्या को तंत्र-यंत्र प्रवीण कहके वह डर दिखाती है[1] और वहाँ से एकदम ज्वालामुखी पहुँच कर, मध्यदेश, गोपाचल (ग्वालियर), मेदपाट (मेवाड़), लाट (मही और ताप्ती के बीच का प्रदेश), महाराष्ट्र, गुर्जर राज्य (गुजरात) और बागुल्ल भूमि (बुगलाना) की राजकन्याओं का निरीक्षण करती हुई समुद्रतट के राज्य तक चक्कर लगाती है, किंतु कोई भी अनुकूल कन्या उसे नहीं मिलती। फिर मालूम होता है कि पाटलि[2] के महाकुलीन राजा झल्लेश्वर भीम[3] की रानी को पार्वती के बर से एक कन्या मिली थी और सुराष्ट्र के राजा मंडलीक की पत्नी होने का उसे बर भी मिला था। उसीके साथ विवाह करना उचित ठहरता है। इस तरह चौथे सर्ग की कथा समाप्त होती है।

इधर मंडलीक के दरबार में यह विचार हो रहा है, उधर से झल्ल (झाला) का दूत आ पहुँचता है। विवाह की बात पक्की हो जाती है,

---

(१) आसाम मुगलों के जमाने तक तंत्र मंत्र और जादूगरी का घर समझा जाता था।

(२) आधुनिक पाटडी, काठियावाड़ के झालावाड प्रांत में, वीरमगाम तालुके में है।

(३) झल्लेश्वरः पाटलिराललवाल महीपतिर्भीम इति प्रसिद्धः। सिथापुरे संप्रति सोस्ति वैरिभूपान्धकच्छैसन (कोच्छेदन) भीम भीमः ॥प० २५॥ तस्य, महाकुलीनस्य नृपस्य कन्याम् ॥ प० ३३ ॥

श्रौर वह "वरनिश्चयपूग" (सगाई की सुपारी) देकर चला जाता है। शीघ्र ही घोड़ों श्रौर ऊँटों पर तथा डोलियों ( दोलिका), पालकियों (शिविका) श्रौर शकटों में बरात प्रस्थान करती है। सिंधुराज मंडलीक के पीछे पीछे छत्र लिए चलता है[१]। बरात पाटलि पहुँच जाती है श्रौर पूरी धूमधाम से राजकुमारी सोमा के साथ मंडलीक का विवाह हो जाता है[२]।

छठे श्रौर सातवें सर्ग का पाठ बहुत ही अशुद्ध है, किंतु इनमें ऐतिहासिक सामग्री भी कुछ नहीं है। छठे सर्ग में मंडलीक के राज्यसुखभोग का श्रौर ऋतुश्रों का वर्णन मात्र है। मालूम होता है कि गुर्ज्जर श्रौर झल्ल राजाश्रों की श्रौर कन्याश्रों से भी मंडलीक पुत्र-कामना से विवाह करता है[३]। एक पद्य से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय गोहिल लोग सूर्यवंशी श्रौर झल्ल ( झाला ) चंद्रवंशी माने जाते थे[४]।

सातवें सर्ग में केवल सूर्यास्त श्रौर रात्रि का वर्णन है।

श्राठवें सर्ग से फिर काम की बात शुरू होती है। पाठ वैसा ही खराब है। ऐसा प्रतीत होता है कि मंडलीक अपनी सभा में विजय के विषय में विचार करता है। मंत्री उसे सलाह देता है कि यवन राजा बड़ा बलवान् है, उसकी बड़ी फौंज है, फिर भी तुम्हारे बल को जानकर वह तुम पर हमला नहीं करता[५] किंतु परले समुद्र के

---

( १ ) सिंधुराजविधृतातपवारो वाज(?)वेल्लितसुचामरयुग्मः ।।प० २४।।

( २ ) ६७वें पद्य में लड़की के पिता को स्पष्टरूप से पाटलिक्षितिभुज् कहा है। लड़की का नाम ७०वें पद्य में श्राया है।

( ३ ) अपरगुर्जरझल्लमहीभृतां कुलसुताः स सुतार्थमनामकाः (?)
उदवहद्विधिना.....................(?) ॥ प० १४ ॥

( ४ ) रविविधूभद्वगोहिलझल्लकैर्व्य जनवानरभा०...॥ २३ ॥

( ५ ) नृपवर यवनेश्वरो बलीयान् गजहयलक्षितसैन्यतो गरीयान् ।
तव भुजबलविक्रमं निशम्य श्रित इव तिष्ठति दूरतः प्रणम्य ॥ प० २४ ॥
यदि यदुकुलदीप गोहिलाद्याः रणभुविशूरतया तयातिवाद्याः (?)
तव पदयुगमेयतेद्यवेद्या (?) शरणगला(ता) हि न केनचिद्विभेद्याः ॥ प० २५॥

राजा[1] को यद्यपि तुमने युद्ध में पहले भी जीता है, तो भी उसे बड़ा अभिमान है। तुमने उसे कई बार जीत कर अभयदान दिया, फिर भी वह प्रमत्त हुआ फिरता है। तुम्हारी रानियों के शृंगार के योग्य मोती और रत्न समुद्र से पाकर वह धनी हो रहा है (पद्य २९)। यवन आदि राजा तुम्हारी तलवार से डरते हुए तुमसे वैर नहीं करते[2], पर संगण तुम्हारा शासन नहीं मानता; इस लिये उसे जीत कर उसके नगर में जैत्रयूप (जयस्तम्भ) स्थापित कर आओ।

राजा को यह सलाह ठीक जँचती है। वह शिकार के बहाने कुछ फौज के साथ निकल पड़ता है। जंगल में शिकार करता हुआ "परले समुद्र के तट पर[3]" जा डेरे लगाता है।

नौवें सर्ग में मंडलीक और संगण के युद्ध का वर्णन है। इसमें अचानक संगण के देश का नाम भी दे दिया है, जिसका अभी उल्लेख किया जायगा।

मंडलीक की सेना समुद्र पार करने के लिये झंडियों से सुसज्जित नौकाओं पर सवार हो जाती है। संगण अपने दुर्ग में है[4]। "गिरीश्वर" (मंडलीक) और "जलेश्वर" (संगण) की सेनाएँ एक दूसरे पर हमला करती हैं। स्थलवालों के छोड़े हुए अग्निज्वालन बाणों को जलवाले समुद्र में बुझा देते हैं, किंतु जलवालों के फेंके हुए धनंजय बाण को स्थलवाले नहीं बुझा सकते[5]। अंत में शहर में आग लग जाती है, बड़ा कोलाहल होता है और संगण परिवार सहित न जाने कहाँ निकल जाता है।

---

(१) अपरपयोधिभूमिनाथः ॥ प० २६ ॥

(२) भवदसिजनिता यतोऽस्ति भीतिर्भवति न वैरममी समाचरंती। यवनपसहिता नृपाः कृपावानिति भवनिछति संगणोरि वाति (?) ॥प० ३०॥

(३) अपरजलधितीरे ॥ प० ६२ ॥

(४) प० ९। यह बहुत अस्पष्ट है।

(५) प० ११।

मंडलीक शंखोद्धार[1] अधिकार करने के लिये नौका से उतरता है। संगण के द्वीपरक्षकों को अभयदान देकर उसके महल में प्रवेश करता है, जहाँ उसे अनेक रत्नों के अतिरिक्त एक दक्षिणावर्त्त शंख भी मिलता है। शंखोद्धार में विजयस्तंभ की स्थापना और शंखनारायण की पूजा कर, वह समुद्र पार कर वापिस आने लगता है कि संगण उसका रास्ता रोकने को फिर आ पहुँचता है[2]। घुड़सवार, ऊँटसवार और "वामीवाहों" (?) की फौज लिए हुए सिंध का पारसीक (=मुसलमान) राजा उसकी मदद को आया हुआ था[3]। सौराष्ट्रों (मंडलीक की सेना) का सिंधियों के साथ वाणों की बौछाड़ से घोर युद्ध होता है। शायद सौराष्ट्र ऊँटसवारों की पहले कुछ बुरी दशा होने लगती है, किंतु अंत में मंडलीक विजयी होता है। संगण किसी झाड़ियों के जंगल में जा छिपता है। सिंधुराज का भी कुछ पता नहीं चलता कि वह मारा गया या उसका क्या हुआ[4]। सिंधियों की संपत्ति, घोड़े, सोना, चाँदी, ऊँट आदि सौराष्ट्रों के हाथ लगते हैं। संगण को मंडलीक एक बार अपना रक्षित बना चुका था, उसकी खोज न करके वह विजयलक्ष्मी के साथ वापिस आता है।

अपने किले के उत्तरी छोर पर पहुँच कर वह दुर्गा माता की पूजा और स्तुति करता है। देवी का प्रसादरूप फूल लेकर वह जीर्णदुर्ग में प्रवेश करता है और इस प्रकार नवें सर्ग की घटनामय कथा पूरी होती है।

---

( १ ) आधुनिक बेट वा शंखोद्धारबेट। यह ओखामंडल में द्वारका के निकट एक छोटा द्वीप है। गुजराती में बेट द्वीप को कहते हैं। मत्स्यावतार ने शंखासुर का वध यहीं किया था।

( २ ) शंखोद्धारे जैत्रयूपं स धृत्वा कृत्वा पूजां शंखनारायणस्य।
तीर्त्वा सिन्धुं यावदायाति राज्यं मार्गे रोद्धुं संगणस्तावदायात् ॥ प० २० ॥

( ३ ) अश्वारोहैरुष्ट्रवाहैरनीकैर्वामीवाहैः संभृतं सैन्धवेन्द्रं।
आनीयासौ सङ्गणः पारसीकं रुद्ध्वा मार्गं सम्प्रवृत्तो विरोद्धुम् ॥ प० २१ ॥

( ४ ) न ज्ञातासौ सिन्धुराजः किमास्यं(?)के नामेस्मिन्संगरे निर्जितः स्यन् ?। अंतं यातो हृद्भवाघातपुष्टैः बिब्बीबुब्बूकारशब्दैरसूचि (?) ॥ प० २४॥

दसवें सर्ग में केवल मंडलीक की स्तुति ही है, यहाँ तक कि जब म्लेच्छों के नाश के लिये वह घोड़े पर चढ़ कर तलवार चमकाता हुआ युद्ध में जाता था, तब प्रजा उसे साक्षात् कल्कि कहने लगती थी[१]। वह कृष्ण की स्तुति करता है जिससे उसे समूची पृथ्वी का स्वामी होने का वर मिलता है और अपने पुत्र मेलग[२] के साथ राज्य करता हुआ आनंद से समय बिताता है।

यह इस काव्य की कथा का ऐतिहासिक निचोड़ है। इसकी विवेचना अब की जाती है।

## विवेचना

सुगमता के लिए हम अपनी विवेचना को अलग अलग हिस्सों में बाँट लेंगे। सब से पहले हम मंडलीक काव्य में आई हुई राजवंशावली की शुद्धता की परीक्षा करेंगे। उसके बाद इन राजाओं का मुसलमानों से जो संबंध हमारे काव्य ने बतलाया है उसकी सत्यता परखेंगे; और अंत में सुराष्ट्र के इतिहास से संबंध रखनेवाली जिन अन्य बातों का पुस्तक में उल्लेख है, उन पर विचार करेंगे।

## (१) वंशावली की जाँच और कालनिर्णय

हमारे काव्य में जिन राजाओं के नाम आए हैं वे अपरिचित नहीं हैं। ईसवी सन् की १९वीं सदी के आरंभ में जूनागढ़ के दीवान अमरजी रणछोड़जी द्वारा लिखित "तारीखसोरठ" में और मि० फ़ोर्ब्स की रासमाला में भी इन राजाओं का उल्लेख है। ये जूनागढ़ में दसवीं से पंद्रहवीं शताब्दी तक राज्य करनेवाले चूडासमा (यादव) वंश के राजा हैं। इनके समय के कई शिलालेख भी प्राप्त हो चुके हैं। बर्जेस नं तारीख सोरठ की वंशावली में सन्

---

(१) स्फूर्जत्खड्गे वाजिवर्याधिरूढो (ढे) म्लेच्छान्हतुं प्रोद्यते मण्डलीके। जातः कल्किः किं कलेरन्तकारी वेगादित्येवं जनाः संवदंते ॥१० ४॥

(२) संतुष्टो(ऽ)सौ वासुदेवप्रद्या(सादा)द्युक्तः श्रीमान् मेलगेनात्मजेन ॥ प०४१॥

# चूडासमा राजाओं की वंशावली

| तारीख़ सोरठ | गद्दी पर बैठने का वि० सं० | रासमाला※ | गद्दी पर बैठने का वि० सं० | हरिवाव का शिलालेख | जू० ग० रेवतीकुंड का शि० ले० | जू० ग० नेमिनाथ मंदिर का शि० ले० | मंडलीक काव्य | पं० गौरीशंकर ही० ओझा | बर्जेस |
|---|---|---|---|---|---|---|---|---|---|
| मंडलीक (तीसरा) | १२७० | † मंडलीक (पहला) | १३१६ | | मंडलीक | मंडलीक | | मंडलीक | मंडलीक |
| — | | नोंघण (चौथा) | १३६२ | | — | नवघण | | नवघण | नवघण |
| महीपालदेव | १३०२ | महीपाल (चौथा) | १३६४ | | महिपाल (मंड० का पुत्र) | महीपाल | | महीपाल | महीपालदेव |
| खंगार (तीसरा) | १३२६ | खंगार (चौथा) | १३८१ | खंगार | खंगर | खंगार | खंगार | खंगार | खंगार |
| जयसिंहदेव | १३६० | जयसिंह (दूसरा) | १४०७ | जयसिंह | जयसिंह | जयसिंह | जयसिंह | जयसिंह | जयसिंह |
| — | — | महीपाल (पाँचवाँ) | १४२५ | महीपति | — | — | — | — | — |
| मोकलसिंह वा मुगतसिंह | १४०२ | मोकलसिंह ( महीपाल का पुत्र) † | १४२६ | मोकलसिंह ( जयसिंह का पुत्र) १४४५ में था। | मुक्तसिंह | मोकलसिंह | मोकलसिंह | मोकलसिंह वा मुक्तसिंह | मोकलसिंह वा मुगलसिंह |
| — | — | — | — | | — | मेलगदेव | मेलग | १४४५ में था | मेलग |
| मधुपत | १४१२ | — | — | | मधुप | महीपाल | महीपाल | — | महीपाल वा मधुपत |
| मंडलीक (चौथा) | १४२१ | मंडलीक (दूसरा) | १४५३ | | मंडलीक | मंडलीक | मंडलीक | मंडलीक | मंडलीक |
| मेलग (मंडलीक का भाई) | १४३६ | मेलिग (मंड० का भाई) | १४५६ | | मेलिग (मंड० का भाई) | | मेलग | मेलिग (मंड० का भाई) | — |
| जयसिंहदेव (दूसरा) | १४६८ | जयसिंह (तीसरा) | १४७१ | | जयसिंह १४७३ में था। | | | जयसिंह १४७३ में था | जयसिंह |

※ गुजराती अनुवाद, जि० १, पृ० ६०८ के नीचे टिप्पण।

† "काठिआवाड़-सर्वसंग्रह" में मोकलसिंह को महीपाल का भाई लिखा है ( पृ० ४०१ )

१८७४-७५ ई० तक के ज्ञान के अनुसार कुछ संशोधन किया था[1]। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी ने अपने संपादित टॉड राजस्थान में तारीख सोरठ के नामों के साथ साथ शिलालेखों से पाए गए नाम भी दिए हैं। साथ की तालिका में ये सब वंशावलियां दी गई हैं। इनके मिलान से पाया जायगा कि हमारे काव्य का खंगार तारीख सोरठ का खंगार तीसरा, और रासमाला का खंगार चौथा; एवं हमारा मंडलीक तारीख सोरठ का मंडलीक चौथा और रासमाला का मंडलीक दूसरा है। दोनों के बीच के नामों के संबंध में भिन्न भिन्न वंशावलियों में भेद प्रतीत होता है। विवादास्पद नामों में से हम एक एक पर क्रम से विचार करेंगे।

(क) **जयसिंह**—खंगार के विषय में किसी तरह का संदेह नहीं है। जयसिंह का नाम भी यद्यपि सभी वंशावलियों में समान है, तो भी फ़ोर्ब्स और बर्जेस को उसके विषय में संदेह है। बर्जेस ने इस संबंध में इस प्रकार लिखा है—"उक्त शिलालेख (जूनागढ़ के नेमिनाथ के मंदिर के लेख) में इस जयसिंह का उल्लेख इस तरह किया गया है[2] जिससे डा० बूलर और किंलोक फोर्ब्स को संदेह होता है कि वह बारहवीं शताब्दी (ईसवी) के शुरू के हिस्से का गुजरात का सिद्धराज जयसिंह होगा जिसने नौघण के पुत्र रा खंगार को मारा था। यदि ऐसा ही हो तो अमरजी के संवत् निकम्मे हैं। सिद्धराज जयसिंह (मृत्यु ११४२ ई०) और उसके (जयसिंह चूडा-

---

(१) आर्किआलाजिकल सर्वे आव इंडिया, रिपोर्ट आन दि ऐंटिक्विटीज़ आव काठियावाड ऐंड कच्छ; (१८७४-७५,) पृ० १६४-६५।

(२) लेख का मूल पाठ इस प्रकार है—

ष(खं)गारनामा रिपुराज्यवृत्तेष्वंगार एवाजनि भूमिजानिः।
..................॥ १२ ॥

आसीत् श्रीजयसिंहदेवनृपतिस्तत्पट्टभूभामिनी-
भास्वद्भोगरसालसांद्रनयनो न्यायाम्बुधिश्वेतरुक्।
शत्रुत्रासन...(एँटिक्विटीज़ आव काठियावाड़ ऐंड कच्छ, पृ० १६०)

समा) उत्तराधिकारी मोकलसिंह वा मुगतसिंह में (१३४५ ई०) २०० साल का अंतर पड़ जायगा[1]।"

अनहिलवाडा के चौलुक्य राजा सिद्धराज जयसिंह का राज्यकाल ११५०-११९९ वि० है[2]। उसका सुराष्ट्र पर आक्रमण बहुत प्रसिद्ध है। प्रबंधचिंतामणि के लेखक ने इस प्रसंग के वर्णन में नवघण और खंगार के नामों में गड़बड़ कर दी है; वस्तुतः जयसिंह का विरोधी खंगार ही था, न कि नवघण, यह प्रबंधचिंतामणि में ही उद्धृत किए हुए प्राकृत पद्यों[3] तथा कीर्त्तिकौमुदी[4] से सिद्ध होता है। जैनमंदिर के उक्त लेख में कोई संवत् नहीं है। विरोधी प्रमाण के अभाव में डा० बूलर का संदेह असंगत न था। किंतु अब इस संदेह की गुंजायश नहीं है। हमारा काव्य ही नहीं, रेवतीकुंड का लेख[5] भी स्पष्ट बतलाता है कि जयसिंह खंगार का पुत्र था। वनथली में धंधूसर के नजदीक हरिवाव के शिलालेख[6] में भी जयसिंह को खंगार का "ता(त)नुभव" कहा है। इस लिए नेमिनाथ के मंदिर के शिलालेख का जयसिंह खंगार का पुत्र ही है, न कि विजेता। उक्त लेख के संदेहकारक अंश का यही भाव है कि खंगार की भोगी हुई भूमि को जयसिंह ने भोगा।

यह लिखना भी अनुचित न होगा कि पंडित रामचंद्र दीनानाथ शास्त्री

---

(१) वहीं, पृ० १६५। फोर्ब्स-रासमाळा, गुजराती अनुवाद, जि० १, पृ० ५७४ टिप्पण।

(२) भगवानलाल इंद्रजी—हिस्टरी आव गुजरात (बांबे गज़ेटियर, जि० १, खं० १,), पृ० १७१ आदि।

(३) ये पद्य ना० प्र० पत्रिका, नये संस्करण, भाग २, पृ० ५०-५२ में प्रकाशित हो चुके हैं।

(४) सर्ग २, श्लोक २५।

(५) बर्जेस लिस्ट आव दि ऐंटिक्वेरियन रिमेंस इन दि बांबे प्रेसिडेंसी इत्यादि (१८८५), पृ० १७६। इस लेख का मूलपाठ आगे पृ० ३५० टिप्पण (२) देखिए।

(६) वहीं, पृ० १७८।

ने प्रबंधचिंतामणि के सिद्धराज जयसिंह के विरोधी, जिस खंगार के नाम पर प्रकाश डालने के लिये मंडलीक काव्य से श्लोक उद्धृत किए हैं वह मंडलीक काव्य का खंगार नहीं प्रत्युत उसका पूर्वज है।

( ख ) **महीपति या महीपाल**—जयसिंह के बाद तारीख सोरठ, जूनागढ़ के नेमिनाथ के जैनमंदिर, रेवतीकुंड के शिलालेख और मंडलीक काव्य, सभी ने मोकलसिंह, मुक्तसिंह वा मुगतसिंह का नाम दिया है, किंतु रासमाला में दोनों के बीच में एक महीपाल का नाम है, और हरिवाव का शिलालेख भी इसकी पुष्टि करता प्रतीत होता है क्योंकि उक्त लेख में मोकलसी को स्पष्ट रूप में जयसिंह का पुत्र कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि जयसिंह का बड़ा लड़का महीपति था, और उसके बाद महीपति का छोटा भाई मोकलसी गद्दी पर बैठा। सारा संदर्भ[1] अस्पष्ट है। संभवतः इसमें मोकलसी को महीपति का अनुज कहा है। महीपति ने यदि राज्य किया भी होगा तो बहुत थोड़े काल तक। फलतः हमारे काव्य ने जयसिंह के बाद एकदम मोकलसिंह का नाम देने में कोई ग़लती नहीं की।

(ग) **मेलिग या मेलगदेव पहला**—मोकलसिंह वा मुक्तसिंह के नाम पर सब की सहमति है। वास्तव में यदि किसी राजा के विषय में विवाद है तो वह मेलग या मेलिगदेव पहले के विषय में है। तारीख सोरठ और रासमाला में तो उसका नाम है ही नहीं,

---

( १ ) मूल संदर्भ बर्जेस ने इस प्रकार दिया है—

......विजयी जयसिंहदेवः ॥......

तस्य।[दयस्यक]ति[ नि ]जेष्यविकृतिः पापे कृते निःकृति-
र्योग्या यस्य मतिर्द्विजेष्वनुगतिर्दुष्टेषु नो संगतिः ॥
विद्यायां निचितिर्गुरौ परिचितिर्यस्या[गमे ] निष्ठितिः ।
संग्रामे विजितिर्महीपतिरिति ख्यातः चितौ भूपतिः ॥ ५ ॥
जयसिंहदेवतनुजो ननु यो मनुजोनुजोऽस्य दनुजारिगणे ।
जलसीतलः कुलिनि मोकलसीत्यलसी भवन् मकल—मलसीतभनक ।६।

(ऐंटिक्वेरियन रिमेंस इन दि बाम्बे प्रेसीडेंसी, १८८५, पृ० १७८)

रेवतीकुंड के शिलालेख में भी वह नहीं है। किंतु रेवतीकुंड के लेख में हमारे खंगार के दादा नवघण का नाम भी नहीं है, यद्यपि जैनमंदिर के लेख में उस ( नवघण ) का स्पष्ट उल्लेख है। प्रतीत होता है कि रेवतीकुंड के शिलालेख के लेखक ने अपने समकालीन राजा जयसिंह (दूसरे, ता० सो० के अनुसार) के पूर्वजों का दिग्दर्शन मात्र किया है, उसकी पूरी वंशावली देने का यत्न नहीं किया। कुछ ही हो, मोकलसिंह के पुत्र मेलगदेव की ऐतिहासिक सत्ता जूनागढ़ के जैनमंदिर के शिलालेख और मंडलीक काव्य से सिद्ध है, और इस अंश में तारीख सोरठ के लेखक ने ग़लती की है।

( घ ) **महीपाल वा मधुप**—हमारे मंडलीक से पहले तारीख सोरठ ने मधुपत का नाम दिया है। हमारे काव्य में और जैनमंदिर के लेख में उसका नाम महिपाल वा महीपाल है। किंतु इस राजा की सत्ता भी विवाद से मुक्त नहीं है। रासमाला इसका उल्लेख नहीं करती, और प्रो० कीलहार्न ने यह समझा है कि रेवतीकुंड का शिलालेख भी नहीं करता। वे उस शिलालेख का संक्षेप करते हुए मंडलीक को मुक्तसिंह का पुत्र ही लिखते हैं[1]। हम समझते हैं कि उस शिलालेख में यद्यपि ऐसा नहीं कहा कि अमुक का पुत्र महीपाल हुआ तो भी सरसरी रीति से उसका उल्लेख किया है[2] और उसका नाम मधुप दिया है। वंशावलियाँ लिखते हुए किसी

---

( १ ) इंस्क्रप्शंस आव नार्दर्न इंडिया, सं० १८४।

( २ ) लेख का मूल पाठ बर्जेस के अनुसार इस प्रकार है—

……तत्तनग्रोवनिभर्त्ता खंगारो नाम वेदमुद्धर्त्ता।
द्वीपनवद्वयहर्त्ता सोमेशस्थापनाकर्त्ता ॥ ३ ॥
भूरुक्मदानपरितोषितभूमिदेव-
स्तन्नन्दनः समभवज्जयसिंहदेवः ॥
वर्णाश्रमस्थितिकरो नृपमुक्तसिंह-
स्तस्मादरिद्विरदविक्रममुक्तसिंहः ॥ ४ ॥
मधुपनृपति शुद्धेस्तीर्थराडन्यनार्यां
जनितनिजजनित्रीतुल्यबुद्धिर्वदान्यः ॥

राजा का नाम इस तरह कह जाने के दृष्टांत प्राचीन शासनों में अन्यत्र भी मिलते हैं। उदाहरण के लिये हम वल्लभदेव के आसाम से मिले ताम्रपत्र में निःशंकसिंह[1] का नाम पेश कर सकते हैं।

फलतः मंडलीक के पिता महीपाल या मधुप की ऐतिहासिक सत्ता भी निश्चित है।

( ङ ) **मेलिगदेव दूसरा**—हमारे काव्य के नायक मंडलीक का नाम सब ग्रंथों और लेखों में समान है। किंतु उसके बाद मेलिगदेव दूसरे के विषय में फिर कुछ विचार की अपेक्षा है। अमरजी ने पहले मेलिग का नाम नहीं दिया परंतु दूसरे का दिया है। बर्जेस ने शायद उसकी और जैनमंदिर के शिलालेख की वंशावलियों की तुलना करने से यह समझा कि अमरजी ने मेलग का नाम मोकलसिंह के बाद रखने के स्थान में मंडलीक के बाद रख दिया है, इसलिये उन्होंने उस नाम को मोकल के बाद रख दिया, और मंडलीक के बाद जयसिंह ( दूसरे ) का होना मान लिया। असल में मंडलीक के बाद भी एक मेलगदेव हुआ था, यह हमारे काव्य से और रेवतीकुंड के लेख से पाया जाता है। जैनमंदिर का लेख इसका विरोध नहीं करता क्योंकि उसकी वंशावली मंडलीक के साथ समाप्त हो जाती है। तारीख सोरठ, रासमाला और रेवतीकुंड के शिलालेख, तीनों में मेलग को मंडलीक का छोटा भाई

---

समितिसुभटमुख्यो मंडलीकस्तदीयो-
जनि च तदनुजन्मा मेलिगः स्थूललक्षः ॥ ५ ॥

( १ ) इस ताम्रपत्र में इस तरह का पाठ है—
उदय मुदयकर्णः पूर्णचन्द्रः सुमेरौ ।
विबुधसमभिरामे राज्ञि रायारिदेवे ।
करविभवकलापैर्नन्दयन् सर्व्वलोकान्
दधदिह पदमाप क्ष्माभृतां मस्तकेषु ॥
निःशङ्कसिंह नृपतेरिह नारपत्ये
भूमीभुजः स्वभुजवीर्यसमुत्सृतानि
सन्तत्यजुर्यदि नवा......(एपिग्राफ़िया इंडिका, जि० ५, पृ० १८४)

बताया है और जयसिंह को मेलग का पुत्र लिखा है। हमारे काव्य से वह मंडलीक का पुत्र प्रतीत होता है, किंतु आश्चर्य नहीं कि काव्य में असल पाठ "मेलगेनानुजेन" हो जिसके स्थान में प्रतिलिपिकार ने "मेलगेनात्मजेन" लिख दिया हो। उस पद्य में एक ग़लती और भी है[1]। बहुत संभव है कि मंडलीक के कोई संतान न रही हो। उसकी पहली दो रानियों से तो कम से कम कोई संतान न थी, ऐसा प्रतीत होता है[2]।

इस प्रकार मंडलीक काव्य में दी हुई वंशावली शिलालेखों आदि से मुकाबला करने पर बिलकुल ठीक सिद्ध होती है। न तो काव्य में और न जैनमंदिर के लेख ही में किसी राजा का कोई संवत् दिया है। ये दोनों मंडलीक के समय में लिखे गए प्रतीत होते हैं। किंतु हरिशाव के लेख में जो मोकलसिंह के समय का है संवत् १४४५ दिया है और रेवतीकुंड का जयसिंह (दूसरे) के समय का लेख संवत् १४७३ का है। अमरजी के दिए हुए संवत् इनसे नहीं मिलते और विश्वसनीय भी नहीं हैं। फलतः मेलिग, महीपाल, मंडलीक और मेलिग (दूसरे) का समय इन संवतों के बीच में ही होना चाहिए।

## (२) इन राजाओं का मुसलमान सुलतानों से संबंध

अब हमें काव्य के उस अंश को परखना है जिसमें चूडासमा राजाओं का देहली वा गुजरात की मुसलमान सलतनतों से किसी प्रकार के संबंध वा युद्ध का उल्लेख है।

**(क) खंगार**—सब से पहले खंगार के विषय में हमारा काव्य कहता है कि उसने प्रभासपत्तन (आधुनिक वेरावलपत्तन) में यवनों को हरा कर सोमनाथ के मंदिर का जीर्णोद्धार किया। ये यवन कौन थे?

वेरावलपत्तन में चोरवाड के नजदीक नागनाथ के मंदिर में

---

[1] (१) देखिए ऊपर पृष्ठ ३४६, टिप्पण २।

[2] (२) देखिए ऊपर पृष्ठ ३४३, टिप्पण ३।

संवत् १४४५ का एक लेख है[1] । यह उपयोगी लेख राजपूत जातियों के प्रवास के संबंध में बड़े महत्व की बातें बतलाता है । इसके आरंभ में मरुस्थली (मारवाड़) के "दशारोहिणि रोहिलादौ" देश में उत्पन्न हुए लूणिग का उल्लेख है, जो सेनापति की हैसियत में सुराष्ट्र चला आता है । इसके वंश में एक राजसिंह होता है जिसका विवाह बघेला वंश की एक कन्या से होता है । इस प्रसंग में बघेला वंश का कुछ वृत्तांत दिया है । मरुस्थली की कर्करपुरी में एक क्षेमराज था जिसका वंशज वीर सुराष्ट्र में आजाता है । इसी वीर की लड़की राजसिंह से व्याही थी । वीर के दौहित्र "रोहेला[2] मालदे" की स्त्री, पुत्रों, पुत्री, भाई और मामा की लड़की आदि ने मिलकर संवत् १४४५ में शिवालय बनवाया जिसके लिए यह लेख खोदा गया ।

वीर बघेला के विषय में यह लेख कहता है कि उसने अभिमानी बादशाह मुहम्मद के रैवतगिरि और जूनागढ़ घेर लेने पर राजा खंगार का साथ दिया[3] । सो यदि वीर के दौहित्र सं० १४४५ में रा मोकलसिंह के समकालीन थे, तो उसका समकालीन खंगार मोकलसिंह का दादा ही हो सकता है, उसका कोई पूर्वज नहीं, और "महम्मदबृहन्मदपातसाहि" सुप्रसिद्ध मुहम्मद तुगलक ही है जिसने हि० स० ७५० (वि० सं० १४०६) में गिरनार पर चढ़ाई की थी ।

ज़िआउद्दीन बर्नी की तारीख-ए-फ़ीरोज़शाही में मुहम्मद तुग़लक

---

(१) बर्जेस—एंटिक्वेरियन रिमेंस इन दी बाम्बे प्रेसिडेंसी, पृ० १८३, द्वितीय संस्करण (१८९७) पृ० २५०—११ ।
पहले संस्करण में कुछ अशुद्धि रह गई है ।

(२) प्रतीत होता है कि रोहेले पठान ही नहीं, राजपूत भी होते थे ।

(३) स श्रीमहम्मदबृहन्मदपातसाहि-
क्रान्तेपि रैवतगिरावपि जीर्णदुर्गे ।
खंगारभूपमुपवाह्य सभीमदेवं ।
भ्रातुः सुत(तं) सुभटशल्यमपि प्रमीतः ॥१५॥

के "खंकार"(खंगार)के किले को लेने और खंगार के कैदी होने का ज़िक्र है[१]। मीरात-ए-अहमदी में "गिरनाल" ( गिरनार ) के लिये जाने और कच्छ के राजा खंगार के उक्त बादशाह की शरण में उपस्थित होने का वृत्तांत है[२]। फ़रिश्ता "गिरनाल" (गिरनार) के लिये जाने पर संदेह प्रकट करता है, और कहता है कि राजा के संधि का प्रस्ताव करने पर बादशाह ने घेरा उठा लिया, और महमूद बेगड़ा से पहले किसी मुसलमान ने गिरनार का किला नहीं जीता[३]। संभव है कि मुहम्मद तुग़लक ने जूनागढ़ के किले को घेरा हो न कि गिरनार[४] को; किंतु पूर्वोक्त चोरवाड के लेख में रैवतगिरि और जीर्णदुर्ग दोनों के घिरने का उल्लेख है।

जहाँ मुहम्मद तुगलक का खंगार के किले को घेरना निश्चित है, वहाँ कोई भी मुसलमान ऐतिहासिक प्रभासपत्तन पर मुसलमानों और खंगार की किसी लड़ाई का उल्लेख नहीं करता। क्या यह गंगाधर कवि की कोरी कल्पना है, या मुसलमान लेखकों का अपने पक्ष की हार को छिपाने का यत्न है? ज़फ़रखां के गुजरात का नाज़िम बन कर आने पर (हि० स० ७९३-९४ = वि० सं० १४४८) में जूनागढ़ के राव और राजपीपला के राजा, ये दो मुख्य हिंदू राजा गुजरात में थे, जो मुसलमानों को कर नहीं देते थे[५]। फलतः मुहम्मद तुग़लक़ के जाने के कुछ समय बाद जूनागढ़ का स्वतंत्र हो जाना निश्चित है। हमारे काव्य के इस कथन को कि खंगार ने सोमनाथ की पुनः

---

(१) ईलियट—हिस्ट्री आफ् इंडिया, जि० ३, पृ० २६०–६२। बेले–गुजरात, पृ० ५५। बेले नोट में लिखते हैं कि खंगार शायद गिरनार का "मंडलीक राव" होगा!

(२) बेले—गुजरात, पृ० ४२।

(३) फ़रिश्ता के ग्रंथ का ब्रिग्स कृत अनुवाद—जिल्द १, पृ० ४४१।

(४) बेले–गुजरात पृ० ५५, टिप्पण। हिस्टरी आव गुजरात ( बांबे गज़ेटियर, जि० १, खं० १ ) पृ० २३१, टिप्पण ३।

(५) हिस्टरी आव गुजरात, पृ० २३२।

स्थापना की, रेवतीकुंड का शिलालेख स्पष्ट पुष्ट करता है[1]। इसलिये गंगाधर का यह कथन कि खंगार ने प्रभासपत्तन में यवनों को हराया, निराधार नहीं प्रतीत होता।

( ख ) **जयसिंह देव पहला**—खंगार के बाद जयसिंह (पहले) की मुसलमानों से मुठभेड़ों का उल्लेख है। ऊपर की विवेचना से खंगार की संवत् १४०६ वि० में विद्यमानता सिद्ध हो चुकी है। इसलिये जयसिंह पहले का समय वि० सं० १४०७ और १४४५ के बीच में होना चाहिए। किंतु इस समय में मुसलमानों की सोरठ के साथ किसी लड़ाई का पता हमें नहीं मिला।

( ग ) **मेलगदेव पहले** की मुसलमानों के साथ लड़ाई का निर्देश वैसे सामान्य शब्दों में नहीं है; उसके बारे में हमारे कवि ने दो घटनाओं का उल्लेख किया है[2]। मेलग का समय वि० सं० १४४५ और १४७३ के बीच में है; हमें देखना है कि इस समय में इन घटनाओं के होने का पता कहीं और से भी मिलता है कि नहीं।

फ़ीरोज़ तुगलक के पिछले समय में फरहतुल्मुल्क रस्तीखाँ गुजरात का नाज़िम था। फ़रिश्ता लिखता है कि यह हिंदू धर्म को दबाने के स्थान में उलटा उत्साहित करता था। वि० सं० १४४८ में वाज़िउलमुल्क का लड़का ज़फ़रखां नाज़िम नियुक्त कर के वहाँ भेजा गया जिसने फ़रहतुल्मुल्क को मार कर उसका स्थान लिया। ज़फरखाँ का पिता वाजिउलमुल्क थानेसर का एक टांक राजपूत था, जो फ़ीरोज़ तुगलक को अपनी बहिन देकर मुसलमान हो गया था। गुजरात की स्वतंत्र सल्तनत का संस्थापक यही ज़फ़रखाँ था।

ज़फ़रखाँ का लड़का तातारखाँ था, जो अपने पिता को आसावल (प्राचीन अहमदाबाद) में कैद कर महम्मदशाह के नाम से वि० सं० १४६० में गुजरात का स्वतंत्र सुलतान बन बैठा था, परंतु

---

(१) देखिए ऊपर, पृष्ठ ३१०, टिप्पण २१।

(२) देखिए ऊपर, पृष्ठ ३३७, टिप्पण ४।

शीघ्र ही उसे विष दे दिया गया और गुजरात का राज्य फिर उसके पिता के हाथ आगया, जो मुज़फ्फ़रशाह के नाम से गुजरात की गद्दी पर बैठा। इसका उत्तराधिकारी इसका पोता अहमदशाह था जिसका राज्यकाल वि० सं० १४६७ से १४९९ तक है।

फलतः मेलिग का विरोधी "अहम्मद सुरत्राण" यही अहमद शाह हो सकता है। संवत् १४६९ के वनथली के एक शिलालेख में मेलगदेव के राज्यकाल में बारड नवघण के लड़के लुंभा के तुर्कों के साथ लड़ मरने का उल्लेख है। वहीं के एक दूसरे स्तंभ-लेख में मोकलसिंह के पुत्र मेलिगदेव के राज्य-समय में पाता नाम के एक वीर का बादशाही फौज के साथ लड़ने और वनथली छोड़कर जूनागढ जा बसने का वर्णन[1] है। इस प्रकार अहमदशाह और मेलिगदेव की फौजों का परस्पर युद्ध हुआ था, यह निश्चित है।

मीरात्-ए-सिकंदरी[2] के अनुसार हि० स० ८१६ (सं० १४७०) उसमान अहमद सरखेजी, शेरमलिक, अहमदशेर मलिक, सुलेमान अफगान और ईसा सालार ने मिलकर अहमदशाह के विरुद्ध षड्यंत्र किया, और मालवा के सुलतान हुशंग को गुजरात में आमंत्रित किया। इस षड्यंत्र में कई हिंदू-ज़मींदार, तथा **झालावाड़ का राजा कान्हा सतरसाल**, भी शामिल थे। "इस बात की सूचना पाने पर सुलतान अहमद ने अपने भाई शाहज़ादा लतीफ़खाँ और वज़ीर निज़ामुलमुल्क को शेख़ (शेर) मलिक और कान्हा को सीधा करने के लिये भेजा।·········लतीफ़खाँ और निज़ामुलमुल्क ने शेख़ (शेर) मलिक और कान्हा को सोरठ देश में जहाँ गिरनार के राजा मंडलीक का राज्य था, भगा दिया। वे उन्हें वहाँ छोड़ कर पीछे

---

(१) भावनगर प्राचीन शोध संग्रह, लेख सं० १२०, १२३। इनमें से दूसरे लेख का संवत् १३६९ दिया है, जो कि हम समझते हैं छापे की गलती के कारण है। १३६९ में न तो किसी मोकलसिंह के पुत्र मेलिगदेव का राज्य था और न कोई बादशाही फौज सुराष्ट्र में आई थी। इन लेखों की पूरी नकल मिल सके तो इस विषय पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

(२) बेले—गुजरात, पृ० ९५-९७।

आगए।" तबकात-ए-अकबरी के अनुसार जब लतीफ़ख़ाँ वापिस आने लगा, तब विद्रोहियों ने पीछे फिर कर उस पर छापा मारा जिसमें उन्हीं की हानि हुई[1]।

दूसरे साल ( हि० ८१७ = सं० १४७१ ) "सुलतान अहमद ने सोरठ देश के प्रसिद्ध किले गिरनार के काफिरों पर चढ़ाई की। गिरनार के राजा राव मंडलीक...ने बादशाही फौज का मुकाबला किया, जिसमें उसकी हार हुई। कहते हैं कि काफ़िरों की एक बड़ी संख्या मारी गई। राजा भाग कर अपने किले में चला गया। इस्लाम की रोशनी इस मौक़े पर देश में अच्छी तरह नहीं चमकी, तो भी काफिरों की ताक़त टूट गई, और वे हर्बी ( शत्रु ) की दशा से जिम्मी ( कर देनेवाले ) की दशा में आगए। जूनागढ़ का किला जो कि गिरनार पर्वत की तराई के पास है सुलतान के हाथ आगया[2]।

फरिश्ता के वर्णन में थोड़ा अंतर है—"दूसरे साल अहमद शाह झालावाड़ के राजा पर हमला करने गया जिसने मालवा के सुलतान हुशंग से सहायता माँगी।......बादशाह की अनुपस्थिति से फ़ायदा उठाकर अहमद शेर कच्छी और............शेरमलिक ने विद्रोह कर दिया। शाहज़ादा लतीफखाँ ने विद्रोहियों का पीछा किया। जिस लेखक के आधार पर मैं लिख रहा हूँ वह कहता है कि शेर मलिक बचकर गिरनाल के राजा के पास भाग गया...... क्योंकि (गिरनार के) किसी राजा ने अबतक मुसलमानों के सामने सिर न झुकाया था, इसलिए राजा के शेर मलिक को आश्रय देने के अवसर से लाभ उठाकर अहमदशाह ने उसके देश पर चढ़ाई कर दी। सुलतान के पहुँचने पर राजा ने मुकाबला किया जिसमें वह हार गया और उसका.........गिरनार के किले तक, जिसे अब जूनागढ़ कहते हैं, पीछा किया गया। कुछ समय बाद राजा

---

(१) बेले, पृ० ६७, टिप्पण।

(२) बेले, पृ० ६८।

ने वार्षिक कर देना स्वीकार किया और एक बड़ी भेंट उसी समय पेश की[१] ।

किंतु महमूद बेगड़ा की गिरनार पर चढ़ाई का वर्णन करते हुए उसी मीरात्-ए-सिकंदरी में लिखा है—"अहमदाबाद के संस्थापक सुलतान अहमद ने……सोरठ के देश को जीतने और इन दो किलों ( गिरनार और जूनागढ़ ) को सर करने के उद्देश से चढ़ाई की थी, पर जब उसने देखा कि वह ऐसा न कर सकेगा तब चारों तरफ़ के देश को लूटकर वापिस चला आया[२] ।"

इससे क्या परिणाम निकाला जाय? गिरनार का न लिया जाना तो निश्चित है, जूनागढ़ भी नहीं लिया जा सका ऐसा प्रतीत होता है। किंतु फरिश्ता कहता है कि राजा ने बहुत सा कर देकर छुटकारा पाया। मंडलीक काव्य कहता है कि उसने अहमद को कैद कर उसका सर्वस्व छीन लिया। किस को सच मानें? मुसलमानी फ़ौज को सफलता न होने पर उसे कर लेकर लौट आया बतलाना मुसलमान लेखकों की चाल है। हम समझते हैं कि दोनों पक्षों ने अपने अपने पक्ष की अच्छी बात दे दी है। वास्तविक घटना यह प्रतीत होती है कि पहाड़ के नीचे की लड़ाई में शायद राव की हार हुई, किंतु उसके किले की शरण लेने पर अहमद की दाल न गली। घिरी हुई फ़ौज समय समय पर निकलकर सुलतान की फ़ौज पर छापे मारती होगी और इस प्रकार किसी अवसर पर राव ने अहमदशाह का बहुत सा सामान लूट लिया हो (=तत्सर्वस्वं समग्रहीत ) और शायद उसे कैद भी कर लिया हो। राव ने यद्यपि किले के अंदर से उसका वीरता से मुकाबला किया तो भी अपने देश से उसे वह न निकाल सका, इसलिए दोनों पक्षों ने थककर संधि कर ली होगी। गोहिल दूदा की शिकायत करने को यवन-दूत का महीपाल के पास आना और उस पर मंडलीक का अपने

---

( १ ) ब्रिग्स—फ़रिश्ता, जिल्द ४, पृ० १६–१७ ।

( २ ) बेले--गुजरात, पृ० १८१ ।

श्वसुर को मार डालना हमारे अनुमान को पुष्ट करता है। यदि पहली बार राव की पूरी हार हो चुकी होती तो अहमदशाह दूसरा मौका मिलते ही महमूद बेगड़ा की तरह अपनी "गिरनार का पहाड़ी किला देखने की प्रबल उत्सुकता[1]" को फिर से अवश्य संतुष्ट करता, और यदि राव की असंदिग्ध जीत हुई होती तो मंडलीक यवन के कहने पर अपने श्वसुर की हत्या न करता।

इस घटना के संबंध में एक और समस्या भी है। अहमदशाह का विरोधी राव कौन था? मेलग या मंडलीक[2]? मीरात्-ए-सिकंदरी ने यद्यपि महमूद बेगड़ा के समकालीन (मंडलीक पाँचवें) के बाद होनेवाले गिरनार के सब राजाओं की पदवी राव मंडलीक बना दी है[3] तो भी यहां स्पष्ट रूप में मंडलीक शब्द का व्यक्तिगत नाम की तरह प्रयोग किया गया है, और ऐसा ही फ़रिश्ता ने पाँचवें मंडलीक का उल्लेख करते समय किया है। हो सकता है कि इस समय के राव को मंडलीक कहने में मुसलमान ऐतिहासिक ने ग़लती की हो। यह अधिक संभव प्रतीत होता है कि ये घटनाएँ एक राज्य में शुरू हुई और दूसरे में समाप्त हुई होंगी। फिर भी मंडलीक ने इस युद्ध में जो हिस्सा लिया वह युवराज रूप में लिया होगा। मेलग और मंडलीक के बीच में महीपाल का राज्य केवल नाम को ही हुआ दीखता है। मंडलीक का राज्यकाल भी बहुत छोटा है क्योंकि सं० १४७३ में जयसिंह दूसरे का राज्य शुरू हो चुका था। मंडलीक के

---

(१) फ़रिश्ता के अनुसार।

(२) मीरात्-ए-सिकंदरी पर टिप्पणी करते हुए बेले लिखते हैं—'राव मंडलीक जो कि गिरनार के सब राजाओं की पदवी थी। तारीख़ सोरठ के अनुसार इस समय जयसिंह का पुत्र खेंगार राव मंडलीक था।" तारीख सोरठ के संवतों की अविश्वसनीयता हम पहले ही दिखा चुके हैं।

फ़रिश्ता ने महमूदशाह बेगड़ा के हमले के बयान में मंडलीक राजा का नाम लिखा है। ब्रिग्स ने उसका अर्थ मांडलिक किया है। (ब्रिग्स, जि० ४, पृ० ५३)।

(३) बेले--गुजरात, पृ० १८३।

भाई मेलग दूसरे ने मंडलीक के ही शासनकाल में कुछ राजकार्य किया होगा। उसका नाम वंशावली में केवल इसलिए लाया गया प्रतीत होता है कि जयसिंहदेव दूसरा उसका पुत्र था।

रासमाला मेलिग पहले और महीपाल का उल्लेख नहीं करती। उसके अनुसार मेलिगदेव दूसरे का समय १४५६–७२ वि० सं० है, और इसी मेलिग पर अहमदशाह ने चढ़ाई की थी[1]। किंतु पहले मेलिग की ऐतिहासिक सत्ता हम सिद्ध कर चुके हैं, और यदि वस्तुतः दूसरे ही मेलिग पर अहमदशाह ने चढ़ाई की हो और गंगाधर कवि ने उस घटना को पहले मेलिग के साथ जोड़ने में ग़लती की हो, तो न केवल यही मानना पड़ेगा कि गंगाधर कवि मंडलीक से बहुत पीछे हुआ, प्रत्युत मंडलीक के द्वारा गोहिल दूदा के मारे जाने का कोई उचित कारण न रहेगा। दूदा के मंडलीक के हाथों मरने की घटना की सत्यता हम अभी देखेंगे। इस दशा में हम अपने परिणामों को ही ठीक समझने में विवश हैं।

( घ ) **जयसिंह दूसरा**—यद्यपि हमारे काव्य के क्षेत्र से बाहर है तो भी चलते प्रसंग में उसके राज्य की एक घटना का निर्देश कर देना उचित ही होगा। रासमाला के अनुसार इसने झांझमेर ( झांझरकोट )[2] पर मुसलमानों की फ़ौज को हराया था। यद्यपि किसी भी मुसलमानी इतिहास से इस कथन की पुष्टि नहीं होती, तो भी इसकी सत्यता रेवतीकुंड के शिलालेख से सिद्ध होती है, जिसमें यह लिखा है कि हमला करने आई हुई यवन सेना को जयसिंह ने झिंझरकोट के नज़दीक हराया[3]। इससे अधिक हमें इस युद्ध के बारे में कुछ पता नहीं चला।

---

( १ ) रासमाला, गुजराती अनुवाद, जि० १, पृ० ६१० के नीचे टिप्पण ( पृ० ६०८ का )।

( २ ) गोहिलावाड़ के भावनगर राज्य में, तलाजा से १२ मील दक्षिण को समुद्र तट पर एक छोटा गाँव। तलाजा का बंदर यहीं था।

( ३ ) अभिषेणयितुमुपेतं झिंझरकोटस्य परिसरे स[ म ]रे ॥
यो हत्वा यवनबलं मुमोच धर्माध्वना शेषं ॥ ७ ॥

## ( ३ ) गोहिल और झल्ल

चूडासमा राजाओं और उनके मुसलमान विपक्षियों के अतिरिक्त हमारा काव्य काठियावाड़ की अन्य दो बड़ी जातियों के पूर्ववृत्त पर भी कुछ प्रकाश डालता है। चूड़ासमा रावों के साथ गोहिलों और झालों के संबंध का उसमें बार बार उल्लेख हुआ है।

काठियावाड़ में गोहिल राजपूतों के अभी तक कई राज्य और जागीरें हैं। वे दक्षिण में पैठण के राजा शालिवाहन को अपना पूर्वज बतलाते हैं और अपने को चंद्रवंशी कहते हैं। उनका परंपरागत इतिहास बतलाता है कि उनके पूर्वज दक्षिण से मारवाड़ में लूनी नदी के किनारे खेड़ ( गुजराती–खेड़गढ़ ) में जा बसे थे जहाँ से उन्हें राठौड़ों ने निकाल दिया[1]। संवत् १३४७ में इनके नेता सेजकजी ने सुराष्ट्र के रा (राव, राजा) कवाट( = महीपालदेव, हमारे खंगार के पिता) की शरण ली और अपनी लड़की वालम कुँवर बा ( बाई ) रा के बेटे खंगार को व्याह दी। सेजकजी के तीन पुत्र थे—राणोजी, शाहाजी और सारंगजी, जिन्हें सुराष्ट्र के राजाओं से और जागीरें मिलीं। ये तीनों क्रमशः आधुनिक भावनगर, पालीताना और लाठी के ठाकुरों ( गुजराती–ठाकोरों ) के पूर्वज हैं। राणोजी के पुत्र मोखरा जी ( वा मोखड़ाजी ) ने मुहम्मद तुगलक के गुजरात के आक्रमण में घेधा बंदर पर उसके छक्के छुड़ाए थे ( सं० १४०४ )[2]।

इन परंपरागत कथाओं में बहुत कुछ गोलमाल दिखाई देता है।

---

(१) मूता नैणसी की ख्यात में भी "गोहिलां कनांसू राठौड़ां खेड़ लीवी तिणरी बांत" ( गोहिलों से राठौड़ों ने खेड़ लिया, उसकी बात ) है, जहाँ इस घटना का विस्तार से वर्णन है, पर दौर्भाग्य से कोई संवत् नहीं दिया है।

(२) रासमाला, गुजराती अनुवाद, पहली जिल्द पृ० ५५२–५५। "काठियावाड़ सर्वसंग्रह" ( वॉटसन् के "काठियावाड़" का गुजराती अनुवाद ), पृ० ६२। 'रत्नमाला अने गुजरातनां राज्यो तथा राजवंशीओनी तवारीखोनो संग्रह', पृ० ३६७–६८। मार्कंडेय नंदशंकर मेहता और मनु नंदशंकर मेहताकृत "हिन्द राजस्थान" अंग्रेज़ी संस्करण, खंड १, पृ० ४८७–८८। हिस्टरी आव गुजरात ( बाम्बे गज़ेटियर, जि० १, खं० १), पृ०२३०।

दक्षिण का राजा शालिवाहन न सूर्यवंश का और न चंद्रवंश का प्रत्युत आंध्रभृत्य वंश का था और उसका वर्णन पुराणों में मिलता है। दंतकथा का स्वभाव प्रायः पूर्वजों के समय को पीछे ले जाने और उनके महत्व को बढ़ा कर दिखाने का होता है, किंतु उपस्थित उदाहरण इसका अपवाद है। इस दंतकथा के अनुसार काठियावाड़ में गोहिलों का आगमन चौदहवीं विक्रम-शताब्दी के मध्य में हुआ किंतु वस्तुतः वे बारहवीं शताब्दी के अंत में वहाँ विद्यमान थे। माँगरोल की सोढडी वाव से वि० सं० १२०२ का एक शिलालेख[1] मिला है जो ठ० श्री मुलुक के द्वारा सहजिगेश्वर के मंदिर के खर्चे का प्रबंध करने के उपलक्ष में खोदा गया था। इस लेख में साहार गूहिल के पोते और सहजिग गूहिल के पुत्र सोमराज द्वारा अपने पिता के नाम पर सहजिगेश्वर नाम के एक शिवालय की स्थापना और सोमराज के बड़े भाई ठ० श्री मूलुक द्वारा उसके खर्चे का प्रबंध किए जाने का उल्लेख है। लेख में सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल, दो चौलुक्य राजाओं के नाम आए हैं। सहजिग को "चालुक्याँगनिगूहक" अर्थात् चौलुक्य राजाओं का शरीररक्षक और उसके बड़े बेटे मूलुक को "सुराष्ट्रनायक" कहा है। मंदिर के प्रबंध में मूलुक ने जो आज्ञाएं दी हैं, उनसे उसका सुराष्ट्र के बंदरगाहों, रास्तों और चुंगीघरों पर अधिकार प्रतीत होता है। इस प्रकार कुमारपाल के राज्य के आरंभ में सुराष्ट्र का शासन मूलुक गूहिल के हाथ में था। सं० १२०२ में उसके पिता के नाम का मंदिर बनकर तैयार हो चुका था, इसलिये उसके पिता सहजिग का देहांत उससे पहले हो चुका होगा। इस दशा में स्पष्ट है कि सहजिग यदि किसी चौलुक्य का शरीर-रक्षक हो सकता है तो सिद्धराज जयसिंह का ही। संभवतः उसी के राज्य काल में साहार गूहिल गुजरात में आया होगा।

---

(१) भावनगर आर्किआलाजिकल डिपार्टमेंट द्वारा प्रकाशित "ए कलक्शन आव प्राकृत ऐंड संस्कृत इंस्क्रिप्शंस" प्लेट ३७।

वलभी संवत् ९११ (वि० सं० १२८७) के एक छोटे शिलालेख में "ठ० मूलूसुतराणकराज्य" का उल्लेख है ।

ये सहजिग और राणक क्या भाटों की दंतकथा के सेजकजी और रानोजी नहीं हैं ? उपर्युक्त दो शिलालेखों के अनुसार सुराष्ट्र में आनेवाले गोहिलों के पूर्वजों की आरंभिक वंशावली इस प्रकार बनती है—

साहार
|
सहजिग
|
मूलुक (वि० सं० १२०२) सोमराज अन्य भाई
|
राणक (वि० सं० १२८७)

दंतकथा की वंशावली में साहार और मूलुक के नाम नहीं हैं । इसी प्रकार अन्य कई नामों को भुलाकर गोहिलों के सुराष्ट्र में आने का समय १५० साल पीछे लाया गया प्रतीत होता है ।

सुराष्ट्र का विजय करने पर सिद्धराज जयसिंह ने वहाँ का प्रबंध करने के लिए अपनी तरफ़ से प्रथम सज्जन नामक एक शासक नियुक्त किया था, यह प्रबंधचिंतामणि से भी पाया जाता है[1] । यह शासक गोहिल नहीं था । सिद्धराज के उत्तराधिकारी कुमारपाल ने मूलुक को इस काम पर नियुक्त किया, और उसके बाद उसके बेटे राणक के समय तक सुराष्ट्र का शासन गोहिलों के हाथ में रहा; यह उक्त दो शिलालेखों से सिद्ध होता है । चूडासमों की शक्ति के पुनर्जीवित होने पर गोहिल लोग उनके सामंत मात्र रह गए जैसा कि मंडलीक काव्य और दंतकथा से प्रतीत होता है । किंतु सामंतों में भी उनका उच्चतम स्थान था, और वे कुल में चूड़ासमों के बराबर समझे जाते थे, यह भी हमारे काव्य से पाया जाता है ।

---

(१) रैवतकोद्धारप्रबन्ध, पृ० १५९–६० ।

काठियावाड़ के गोहिल अपने को चंद्रवंशी कहते हैं, पर हमारे काव्य में उन्हें स्पष्ट रूप से सूर्यवंशी कहा है[1], जिससे मालूम होता है कि पंद्रहवीं शताब्दी तक वे अपने को सूर्यवंशी ही मानते थे, और अपने को चंद्रवंशी मानना उन्होंने पीछे से आरंभ किया है। वे शालिवाहन के वंशज हैं यह बात भी ठीक है, पर किस शालिवाहन के, यह वे नहीं जान सके। "उनको इतना तो ज्ञात था कि वे अपने मूलपुरुष गुहिल के नाम से गोहिल कहलाए, वे शालिवाहन के वंशज हैं, उनके पूर्वज पहले जोधपुर राज्य के खेड इलाके के स्वामी थे और उनमें से सेजक ( सहजिग ) नामक पुरुष ने पहले काठियावाड़ में जागीर पाई, परंतु खेड़ के गोहिल मेवाड़ के राजा शालिवाहन के वंशज थे यह न जानने से ही उन्होंने अपने पूर्वज शालिवाहन को शक संवत् का प्रवर्त्तक पैठण का प्रसिद्ध आंध्रवंशी शालिवाहन मान लिया और उसके चंद्रवंशी न होने पर भी उसे चंद्रवंशी ठहरा दिया[2]।"

मेवाड़ के गुहलवंशी शालिवाहन के पिता नरवाहन की एक प्रशस्ति वि० सं० १०२८ की, और इसके पुत्र शक्तिकुमार का एक शिलालेख वि० सं० १०३४ का मिला है, जिससे शालिवाहन का समय इन दोनों के बीच में अर्थात् सं० १०३०-३२ के करीब ठहरता है। काठियावाड़ के गोहिल वस्तुतः इसी शालिवाहन के वंशज हैं।

क्या गोहिल भीम और उसके बेटे अर्जुन और दूदा का भी कहीं से पता चलेगा? भावनगर और पालीताना की परंपरागत वंशावली में ऐसे कोई नाम नहीं हैं, किंतु सौभाग्य से लाठी की दंतकथा में न केवल इनके नाम, प्रत्युत अर्जुन की पुत्री के मंडलीक के साथ के विवाह और दूदा की मंडलीक के हाथ से मृत्यु की पूरी कहानी ठीक हमारे काव्य के अनुसार संरक्षित है[3]।

---

( १ ) देखिए ऊपर, पृ० ३४३ टिप्पण ४।

( २ ) श्री पं० गौ० ही० ओझाजी के अप्रकाशित मेवाड़ के इतिहास से।

( ३ ) रासमाला, गुज० अनु०, जि०, २, पृ० ११५, टिप्पणी। हिं० राजस्थान, खंड २, पृ० १६६-६७।

गोहिलों के बाद झाले हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। काठियावाड का उत्तर-पूर्वी हिस्सा अब भी झालावाड प्रांत कहलाता है। दंतकथा बतलाती है कि झाला[1] लोगों का पुराना नाम मकवाना था और वे सिंध के पूर्वीय भाग में कीर्त्तिगढ़ वा किरतिगढ़ में रहते थे। वहां से सुमरा लोगों से लड़ाई होने के कारण उन्हें भागना पड़ा और उनका एक सरदार हरपाल गुजरात के राजा कर्ण बावेला की शरण में आया जिसकी रानी का रोग दूर करने के कारण उसे एक बड़ी जागीर मिली। इस जागीर का केंद्र पाटडी था। धीरे धीरे ये लोग काठियावाड के अन्य स्थानों पर कब्जा करते गए और वढवाण, वांकानेर आदि रियासतें आजतक उन्हीं के हाथ में हैं। मुख्य शाखा पाटडी से उठकर ध्रांगदरा चली गई जहाँ वह अबतक मौजूद है। पीछे से इनकी एक शाखा काठियावाड से राजपूताना में भी आ बसी।

मकवाना लोगों का एक हिस्सा ही झाला कहलाया। दंतकथा के अनुसार हरपाल की पत्नी कोई साधारण मानुषी स्त्री नहीं थी, वह साक्षात् देवी थी। उसके तीन पुत्रों और लड़की को एक बार एक हाथी कुचलने आता था, इतने में देवी ने उन्हें झपट कर उठा लिया (= झाल्यो, झालि लीधों),[2] इस लिए इनका नाम झाला हुआ। हरपाल की दूसरी स्त्री से जो पुत्र उत्पन्न हुए वे मकवाना ही रहे।

झाला लोगों की उत्पत्ति इस तरह हुई या (भगवानलाल इंद्रजी पंडित के मतानुसार) हूण जाति जउव्ल से, जिसमें कि विख्यात तोरमाण हुआ था, हुई[3], यह विवाद इस लेख के विषय

---

[1] (१) रासमाला, गु॰अ॰, जि॰१, पृ॰५३७–४६। काठियावाड़ सर्वसंग्रह, पृ॰६०। रत्नमाला अने गुजरातनां राज्यो तथा राजवंशीओनी तवारीखोनो संग्रह, पृ॰२७४,३४५। हिंदराजस्थान, खं॰१, पृ॰४५७–६० और ५११–१३।

[2] (२) सोढो, मांगो, ने शेखरो, लांबे कर झाली लिया। ओ आपे शक्ति आपणी कुंवर सारव झाली किया। रत्नमाला अने गु॰, पृ॰ २७६।

[3] (३) इस कल्पना के लिये भगवानलाल इंद्रजी और जैकसन कृत हिस्ट्री आव गुजरात (बांबे गज़ेटियर १–१) पृ॰ १४६ देखिए। परंतु इसमें कोई तत्व नहीं है।

से बहुत संबंध नहीं रखता । टाड ने लिखा है कि[1] झाला न सूर्यवंश के, न चंद्रवंश के और न अग्निकुल के हैं, अतः अवश्य ही विदेशी हैं। ये सब कल्पनाएं निरर्थक हैं क्योंकि झल्ल शब्द, मनुस्मृति में मल्ल और लिच्छिवि शब्दों के साथ, जो कि भगवान् बुद्ध के समय के प्रसिद्ध गणों के नाम हैं, पाया जाता है[2] । और झाला झल्ल का ही भाषा रूप है जैसा कि इस काव्य में पाटड़ि के सामंतों को झल्ल कहने से सिद्ध होता है । हमारे काव्य में जहाँ गोहिलों को सूर्यवंशी कहा है, वहाँ झल्लों को चंद्रवंशी कहा है ।

दंतकथा ने झालों के सिंध से काठियावाड़ आने का वृत्तांत कायम तो रक्खा है, किंतु उसमें थोड़ी सी गड़बड़ कर दी है। गुजरात के इतिहास में दो राजा कर्ण हुए हैं—एक सोलंकी सिद्धराज जयसिंह का पिता, और दूसरा बाघेला (करण घेला) अलाउद्दीन खिलजी का समकालीन। दंतकथा के अनुसार ( कम से कम एक प्रकार के ) झाला लोग कर्ण बघेला के पास आए[3] किंतु वास्तव में वे लोग कर्ण सोलंकी के दरबार में आए प्रतीत होते हैं। प्रबंधचिंतामणि से सिद्धराज जयसिंह के दरबार में मांगू झाला का होना पाया जाता है[4] । परंपरागत वंशावली के अनुसार हरपाल के रेवा से पैदा हुए तीन पुत्रों में से एक का नाम मांगू था , यह निश्चय ही सिद्धराज जयसिंह का दरबारी मांगू झाला ही होगा[5] । खेद है कि किसी शिलालेख में हमें झालों का उल्लेख नहीं मिला ।

---

( १ ) टाड राजस्थान जि० १, पृ० १३५ । (विलियम क्रुक का संस्करण) ।

( २ ) अध्याय १०, श्लोक २२, तथा अध्याय १२, श्लोक ४५ ।

( ३ ) काठियावाड़ सर्वसंग्रह, पृ० ६० । रासमाला (गु० अ०), जि० १, पृ० ५४० ।

( ४ ) मांगूझाला प्रबंध ( पृ० १७६–८० ) ।

( ५ ) रासमाला ( गु० अ० ) जि० १ पृ० ५४५ । हिंदराजस्थान भाग १, पृ० ५१३ ।

( ६ ) रासमाला (गु० अ०) जि० १, पृ० ५४० के टिप्पणों से सिद्ध किया गया है कि झाला लोग कर्ण सोलंकी के दरबार में आए थे, न कि कर्ण बाघेला के ।

हमारे काव्य में दो झालों का नाम आया है, एक झल्ल कृष्ण का और दूसरा मंडलीक के श्वसुर पाटडी के भीम का। अहमदशाह के समकालीन झालावाड़ के राजा का नाम वंशावलियों में सतरसाल मिलता है, किंतु मीरात-ए-सिकंदरी में झाला कान्हा सतरसाल लिखा है, वही हमारे काव्य का झल्ल कृष्ण है। झल्ल भीम का नाम हमें कहीं नहीं मिला। झल्ल कृष्ण के समान उसका भी वंशावलियों में कोई दूसरा नाम होगा।

110754

## (४) विविध-सिंधुराज

काव्य की गौण बातों पर विचार करके हम इस लेख को समाप्त करेंगे।

चौथे सर्ग का सारा वर्णन कल्पित है। फिर भी उससे तत्कालीन हिंदू कवियों के सामने हिंदू भारत का जो चित्र था, उसकी एक झलक मिल जाती है। मंडलीक के दूसरे विवाह के समय जिस सिंधुराज के छत्र लेकर चलने का उल्लेख है वह कोई बड़ा हिंदू ज़मींदार ही रहा होगा।

शंखोद्धार के संगण और उसके साथी "पारसीक" सिंधुराज का पता निकालना बाकी है। संगण का कुछ भी पता हमें कहीं से भी नहीं मिल सका। पारसीक सिंधुराज क्या वास्तव में सिंध का कोई राजा हो सकता है? एक संस्कृत काव्य में आये हुए गुमनाम मुसलमान के नाम का, जो अपने देश से दूर एक छोटे से द्वीप में आकर एक तुच्छ सी लड़ाई में मारा जाता है, पता ढूंढ़ निकालना कठिन प्रतीत होता है; किंतु सौभाग्य से हमें इसमें सफलता हुई है।

महमूद गजनवी के उत्तराधिकारियों से सिंध का राज्य सुमरा राजपूतों ने ले लिया था, और उनके बाद वह सम्मा लोगों के हाथ

---

हिंद राजस्थान, पृ० २१२ में दी हुई तिथियाँ ठीक मालूम होती हैं। यदि उसके लेखकों ने रासमाला के टिप्पण के आधार पर संशोधन नहीं किया, प्रत्युत दंतकथा के किसी दूसरे प्रकार के अनुसार बयान दिया है तो कहना होगा कि दंतकथा की कम से कम एक शाखा ने ग़लती नहीं की।

110754

आया। इसी सम्मा जाति के सरदार जाम कहलाते थे। मुहम्मद और फ़ीरोज़ तुग़लक के राज्यकाल की घटनाओं से इन जामों का संबंध प्रसिद्ध है।

फ़ीरोज़ तुग़लक की सिंध पर चढ़ाई ईलियट ने हि० स० ७६२ में रक्खी है[1]; किंतु शम्स-ए-सीराज की तारीख़-ए-फ़ीरोज़शाही के अनुसार वह लखनौती से लौटने के चार साल बाद हुई थी[2], और तुहफ़ात्-उल-किराम का लेखक उसे ७७२ हि० में रखता है[3]। तारीख़-ए-फ़ीरोज़शाही का लेखक तुगलक का समकालीन था, और उसका पिता सिंध की चढ़ाई में फ़ीरोज़ के साथ था। इसलिये हमें उसका लिखा हुआ संवत् ठीक प्रतीत होता है। हि० स० ७६१ की वर्षा ऋतु फ़ीरोज़ ने लखनौती से लौट कर जौनपुर में बिताई थी। इसके अनुसार उसकी सिंध पर की चढ़ाई ७६६ हि० (वि० सं० १४२१–२२) से पहले नहीं हो सकती। इस चढ़ाई के समय सिंध पर जाम बाबनिया का राज्य था जिसे फ़ीरोज़शाह कैद करके ले गया। तारीख़-ए-मअसूमी[4] के अनुसार, देहली जाकर "कुछ काल बाद" फ़ीरोज़शाह ने उसे छोड़ दिया, और वापिस आकर उसने १५ साल राज्य किया। जाम बाबनिया के बाद जाम तमाची ने १३ साल तक और उसके बाद जाम सलाहुद्दीन ने ११ साल और कुछ महीनों तक राज्य किया। उसका लड़का जाम निज़ामुद्दीन था जो नाजिमों के हाथ में राज्य का कारबार छोड़ कर भोगविलास में लग गया। यह अवस्था दखकर उसके चचों ने उसपर हमला करने के विचार से फ़ौज़ तैयार की, जिसका समाचार पाकर वह रात के समय कुछ सेना के साथ निकल कर गुजरात की तरफ़ चला गया। उसके चचों ने उसका पीछा किया, किंतु कुछ समय बाद उन्हें उसकी मृत्यु का समाचार पाकर पीछे लौटना पड़ा।

---

(१) हिस्टरी आव इंडिया, जि० १, पृ० ४६४।
(२) ईलियट, हिस्टरी आव इंडिया, जिल्द ३, पृ० ३१६।
(३) वहीं, जि० १, पृ० ३४२।
(४) वहीं, जि० १, पृ० २२६ से।

तारीख-ए-मअसूमी के दिए हुए जामों के राज्य काल के वर्षों के अनुसार जाम निज़ामुद्दीन हमारे मंडलीक का समकालीन होता है। उसकी मृत्यु कैसे हुई, इसका कुछ पता मुसलमान ऐतिहासिकों ने नहीं दिया; किंतु मंडलीक काव्य के आधार पर हम अनुमान कर सकते हैं कि शंखोद्धार के युद्ध में मरनेवाला सिंधुराज वही था। जाम निज़ामुद्दीन उसी सम्मा जाति का था जिसमें कि मंडलीक का पूर्वज चूडाचंद्र हुआ था, और उसके पूर्वज कच्छ ही से सिंध जा बसे थे, जहाँ से मंडलीक के पूर्वज काठियावाड गए थे। उसके मुसलमान होने से ही मंडलीक के दरबारी कवि ने उसे ''पारसीक'' कह डाला है।

पुस्तकालय
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार

यह पुस्तक वितरित न की जाय
NOT TO BE ISSUED

सन्दर्भ ग्रन्थ
REFRENCE BOOK

[illegible]
1999-2000